

मित्र प्रकाशन गौरव ग्रन्थमाला—५.

दामोदर गुप्त प्रणीत
कुहूनीमतं काव्यम्

अनुवादक
जगन्नाथ पाठक

संपादक
नमदेश्वर चतुर्वेदी



मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इला

प्रकाशक
मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद ।



मूल्य
सात रुपये ५० नये पैसे

मुद्रक
धीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद ।

हैं। फिर 'कूट' शब्द का एक अर्थ है कंतव। कुट्टनी-कर्म भी इसी कोटि का है। इसके द्वारा नायक-नायिका का सयोग सुगम हो जाता है। इसके पर्यायवाची शब्द हैं शंभली, माधवी, अर्जुनी, कुमदासी, गणेरुका और रगमाता।

सन्दर्भ

'कथा सरित्सागर' के द्वितीय लम्बक में गृहसेन और देवस्मिता की कथा आती है जिसमें परित्राजिका योग-करडिका की शिष्या सिद्धिकरी का प्रसंग आया है। इस शिष्या के कृत्य कुट्टनी जैसे हैं, किन्तु यहाँ पर कुट्टनी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। क्षेमेन्द्र के 'कलाविलास'^१ और 'समय मातृका'^२ में यह शब्द आया है। जल्हण के 'भुग्धीपदेश'^३ में भी इसका प्रयोग मिलता है। विष्णु शर्मा कृत 'हितोपदेश'^४ के मित्रलाभ प्रकरण के अन्तर्गत इस शब्द का प्रयोग देखने में आता है। लोकोक्ति में भी कुट्टनी का प्रयोग हुआ है।^५

वेश्यावृत्ति

कामाचार और वेश्यावृत्ति में लक्ष्यभेद है। कामाचार में रति सुख प्रधान है, जब कि वेश्यावृत्ति में अर्थोपार्जन प्रमुख है। 'कामसूत्र' में कहा गया है कि पुरुषों की प्राप्ति होने पर वेश्याओं में रति और जीविका नैसर्गिक री ही है।^६

वेश्या का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

'वेशमर्हति वेशेन दीव्यति आचरति, वेशेन पण्ययोगेन जीवति वा' है। इस शब्द के पर्याय हैं, रण्डी, वार-स्त्री, गणिका, क्षुद्रा, झूला, लज्जिवा, बन्धुरा, कुम्भा, वर्चंडी, भोग्या, भुजिप्या, वार-बधू, नगरवधू पतुरिया,

१. भिक्षुक-तापस बहुविधपुण्यफल द्वीपदर्शनकला च ।
लिप्ता कलात्तिपट्या पर्यन्ते कुट्टनीकला वेश्या ॥ ४ ॥ ११
२. घ्याध्रीव कुट्टनी यत्र रक्तपानामिर्षपिणी ।
नास्ते तत्र प्रगल्भन्ते जम्बुका इव कामुका ॥ १ ॥ ४१
प्रविष्टा कुट्टनीहीणगृहं क्षीणपटा विटाः ।
गाथा पठन्ति गायन्ति व्ययद्रविणमोषिताः ॥ १ ॥ ४४
द्वाराप्रदत्तकर्णासु प्रहणप्रहणेप्सया ।
कुट्टनीषु तृणापातेऽप्युन्मुखीषु मुहुर्मुहुः ॥ ३ ॥ ११
३. कुट्टन्याः पुनश्चकटोत्कटमिदं तत्रास्त्यगस्त्यसतं,
पत्प्राणाहृतिरेकेकैव सकलै ररत्नाकरैः कामिभिः ॥ ३३
४. गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपवेशिनीम् ।
प्रमाणपति नो धर्मो यथा योग्यमपि द्विजम् ॥ ५७
५. कुट्टिन्मश्चतुरक्षया भवन्त्वरोगाः (चतुर्भाषी, पृ० २५८)
६. वेश्यानां पुरुषाधिगमे रतिवृत्तिश्च सर्गात् ॥ ६१

पण्यागना, रुपाजीवा, शालभञ्जिका, स्मरवीथिका, खानगी, शर्करा, वामरेखा, वार विलासिनी और भण्डहासिनी आदि। साधारणतः पर-पुरुष-नामिनी नारी को वेश्या कहने की परंपरा है। 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में नारी के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है —

पतिव्रताचकपत्नी द्वितीये कुलटा स्मृता।

तृतीये धर्षिणी ज्ञेया क्षत्रिये पुंश्चलीस्मृता ॥

वेश्या च पचमे षष्ठे पुंगी च सप्तमेऽष्टमे।

अत उद्बन्धमहावेश्यासांस्पृश्यासर्वजातिषु ॥ प्र० खं० ३१ अ०

उत्पत्ति

वेश्यावृत्ति के सन्दर्भ में 'महाभारत' के आदिपर्व की दीर्घतमा वाली परंपरागत कथा का स्मरण हो जाता है। इस कथा में वेश्यावृत्ति की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। दीर्घतमा एक अधे ऋषि थे। गर्भावस्था में ही उन्हें काम शिक्षा मिली थी। उनकी माता का अपने देवर से अनुचित सम्बन्ध था जिसका प्रभाव दीर्घतमा के गस्कार पर पड़ा। जब वे बड़े हुए तो उनका विवाह रूपवती प्रद्वेपी से हुआ। वेदज्ञ ऋषि ने गौरभेय (कामधेनु पुत्र) से पशुवन् कामाचरण करन की शिक्षा प्राप्त की और उसे व्यावहारिक रूप देने लगे। इस आचरण में क्रुद्ध होकर अन्यान्य ऋषि-मुनियों ने उन पर नैतिक नियम भंग करने का आरोप लगाया। इन्होंने यह भी निश्चय कि दण्डस्वरूप उन्हें आश्रम में बाहर किया जाय। प्रद्वेपी भी अपने पति के प्रतिकूल हो गई थी। उसने कहा कि "पति का धर्म है पत्नी को आवास और भोजन देना, तुम इसे पूरा करने में असमर्थ हो। मैं तुम जैसे जन्माध का पालन नहीं कर सकती। तुमको अब मैं अपने पास नहीं रखूंगी।" इस उक्ति से क्रुद्ध होकर दीर्घतमा ने घोषित किया कि "आज से मैं ससार के लिए यह नियम बनाता हूँ कि जो पत्नी आचरण केवल एक पति की होकर रहती है, चाहे पति मर ही क्या न जाय वह कभी पर-पुरुष का भूंह न देगी। किन्तु कुमारी हो अथवा विवाहिता पर-पुरुष के पास जानेवाली अपराधिनी होकर जातिभ्युत होगी। ऐसी स्त्री यदि पर-पुरुष के निकट जाय तो उस पुरुष को चाहिए कि वह विषय-भोग का मूल्य चुकाय।" धन लेकर प्रसंग करने की प्रथा का आरम्भ उगी दिन से हो गया।

सन्दर्भ

ऋग्वेद में^१ उपमा द्वारा काम-क्रीडा का उल्लेख आया है जिसमें वेश्यावृत्ति के अस्तित्व का गन्ध मिलता है। किन्तु वह कहना बठिन है कि उस कामाचार में अपराधार्जन का उद्देश्य किम मात्रा में निहित था। इसके अन्यान्य कारण भी हो सकते हैं। इस गन्ध में दाग-प्रथा का भी नाम दिया जा सकता है। उक्त

१ Johann Meyer. *Sexual life in Ancient India*, P 125-26

२. परा शुभा अयातो षष्ठा साचारण्येव मदनो मिमिभु. 1१।११७।४

ग्रथ में जार पति^१ तथा अवैध सन्तान^२ की भी चर्चा है। स्मृति ग्रथों में कामाचार और वेश्यावृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं^३ जिनके लिए प्रायश्चित्त करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। समाज की स्थिति इतनी बिगड़ी हुई थी कि कुछ लोग अपनी पत्नी तक का उपयोग वेश्या रूप में किया करते थे। आतिथ्य सत्कार के लिए विविध कलाओं में निपुण नारियों का उपयोग किया जाता था।^४ यह प्रथा अन्यान्य देशों में भी प्रचलित थी।^५ 'महाभारत' के आदि पर्व में गान्धारी के गर्भवती होने पर धृतराष्ट्र के लिए वेश्या की व्यवस्था होने का उल्लेख है।^६ उद्योग पर्व में युधिष्ठिर द्वारा कौरवों की वेश्याओं को शुभकामना भेजने की चर्चा है।^७ उसी पर्व में कौरवों के दरवार में श्रीकृष्ण के आगमन के अवसर पर वेश्याओं द्वारा स्वागत किये जाने का वर्णन है।^८ उद्योग पर्व में ही यह भी कहा गया है कि युद्ध-बाना के समय पाण्डवों की सेना के साथ वेश्याएँ भी गई थी।^९ इस सन्दर्भ में वनपर्व और कर्ण पर्व भी द्रष्टव्य हैं। वेश्यागमन के लिए अन्यत्र 'प्राजापत्य' प्रायश्चित्त का नियम है। नारद स्मृति में कहा गया है कि यदि शुल्क स्वीकार करने के बाद वेश्या भोग-कर्म करने से इनकार कर दे तो उसे दण्ड का भागी बनना पड़े।^{१०} याज्ञवल्क्य स्मृति तथा मत्स्य पुराण^{११} द्वारा भी इसका समर्थन होता है। मत्स्यपुराण के ७०वें अध्याय में वेश्या धर्म का उल्लेख है। अन्यान्य कई पुराणों में प्रकारान्तर से वेश्याओं की चर्चा पायी जाती है। स्कन्द पुराण, पद्म पुराण, वामन पुराण ब्रह्म पुराण और भविष्य पुराण इनमें प्रमुख हैं।

१. ऋग्वेद १। ६६। ४; १। ११७। १८; १। १२४। ३

२. वही २। २९। १

३. बोधायन (२) २४—३; मनु ८—३६२; ४—२०९; ४—२१९;
९—२५९; याज्ञ०, १—८१, २—४८; २—२९०—९२;
नारद १२—७८; स्त्रीपुंश ७८—७९; गौतम २२—२७

४. महाभारत २। ६१। ८

५. Molennan : Primitive Marriage, P. 96

६. गान्धारी विलशयमानायामुदरेण विवर्षता।

धृतराष्ट्रं महाराजं वेश्या पर्वचरत्किल ॥ ११५। ३९

७. उद्योग पर्व ३०। ३८

८. वही ८६। १५

९. वही १५१। ५८

१०. शुल्कं गृहोत्वा पण्यस्यो नेच्छन्ती द्विस्तयाप्नुयात्।

अप्रयच्छस्तदा शुल्कमनुभूयपुमान् स्त्रियम् ॥ वेत्तनत्यागपापकर्म—१८

११. मत्स्य पुराण २२७। १४४—४५

‘वाजमनेयी संहिता’ में वेद्यावृत्ति को पैसे के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु स्मृति ग्रंथों में इसे तिरस्कार के योग्य ठहराया गया है। फिर भी जातकों में इसे हम उपेक्षणीय म्यितियों में नहीं पाते। किमी-किमी वेद्यालय में तो पाँच सौ तक गणिकाएँ रहने की चर्चा है^१। वही-वही तो इनके प्रति न्यूनार्थिक सम्मान भी प्रदर्शित किया गया मिलता है। ‘अगुत्तर निकाय’ में ‘सत्त वाणिज्जा’ का उल्लेख है। बुद्धघोष की व्याख्या के अनुसार इसका अभिप्राय ‘मनुस्स विक्कय’^२ से है जिसमें दास-दासियों के साथ अन्य नर-नारियाँ सम्मिलित समझी जा सकती हैं। वज्जिया में रूपवती कन्याओं को गणिका बनाने की प्रथा प्रचलित थी। वास्तव में इसकी परंपरा बहुत पुरानी है। अधिकारी विद्वानों के अनुसार इस वृत्ति का मूलपात राजाओं, राजपुरोहितों तथा श्रेष्ठियों जैसे लोगों से समझा जाना चाहिए जिनके महला से तिरस्कृत होकर ये उक्त वृत्ति को अपनाते के लिए बाध्य थीं^३।

गणिका का एक तात्पर्य गणराज्यों की उन सुन्दरियों में भी हो सकता है जिनका अवैध सम्बन्ध अधिकतर राज-पुरोहितों तथा धन कुबेरों में हुआ करता था। इस मन्दर्भ में वासुदेव टिंडी का ‘मघदासगणि वाचक’^४ तथा वात्स्यायन का ‘कामसूत्र’^५ द्रष्टव्य है। ‘मूल सवास्तिवाद’ का ‘विनय वस्तु’ भी उल्लेखनीय है जहाँ आम्रपात्री का वैशाली को ‘गणभोग्या’^६ कहा गया है। ‘नायाघम्म कहा’ में चम्पा की गणिका की चर्चा है जो चौमठ कलाओं में निष्णात है और शृंगार कला में दक्ष है। वह बहुभाषाविद् है और उस कई बालियों का अभ्यास है।^७ गणिका का कर्णिक में बैठकर छत्रधारिणी और चामरधारिणी बनने का भी गौरव प्राप्त था जो राजकीय सम्मान का प्रतीक था। वह वैदिक विद्या में भी निपुण हुआ करती थी^८। इसका प्रसंग ‘मूल सर्वास्तिवाद’ के ‘विनय वस्तु’ तथा ‘कुट्टनीमत’ में भी आया है।

‘कथा सरित्सागर’ में ऐसी वेद्याओं का भी परिचय मिलता है जो अपनी पसन्द का नायक चाहती हैं। ‘बहुभाष्या’ बनना उन्हें स्वीकार्य नहीं है। आत्म-विश्वास ने उनमें आत्मगौरव का भाव उत्पन्न कर दिया है। पाटलिपुत्र की कोसा

१. Law Woman in Buddhist Literature P. 82 f

२. अगुत्तर निकाय ३, पृ० २०८

३. Law The Life and work of Buddhaghosa

४. Barua. Introduction to History of Indian Prostitution by Sinha and Basu.

५. पृ० १०३ (६) पृ० ४।२०९ (७) पृ० १७ टि०

६. घम्मपद ४, पृ० १९७

७. ललितविस्तर, पृ० १५६ और भरत का नाट्यशास्त्र, अध्याय २३

और उपकोसा ऐसी ही दो गणिकाएँ थीं जिनमें से पहली का प्रेमभाव स्वयंभद्र के प्रति था और दूसरी का बरश्चि के साथ। उज्जयिनी की देवदत्ता भी ऐसी ही एक गणिका थी जिसका अनुराग पाटलिपुत्र के युवराज मूलदेव के प्रति था। उसने राजा के पास जाकर यह प्रार्थना की थी कि वे मूलदेव के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्बन्ध स्थापित करने को उसे बाध्य न करें। 'मृच्छकटिक' की वसत-सेना और 'कथा सत्रिसागर' की प्रतिष्ठान निवासिनी मदनमाला भी अपने वैभवपूर्ण जीवन के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रसंग में बिन्दुमती की कथा भी उल्लेखनीय है जिसने अपनी सत्यप्रियता से गंगा की धारा ही पलट दी थी।

प्रेरणा और प्रभाव

कामाचार के साथ अर्थोपार्जन का लगाव हमारे समाज की उस स्थिति की ओर संकेत करता है जब कि व्यापार अस्तित्व में आ चुका था। आदान-प्रदान का माध्यम द्रव्य बन चुका था। इसलिये असंभव नहीं यदि पूर्वजों ने विदेशी व्यापार-केन्द्रों में जाकर वेश्यागमन सीखा हो। गाथा सप्तमती^१ से भी हमें वेश्या यगं का पता चलता है। कोटिस्य अर्थशास्त्र^२ में गणिकाध्यक्ष का विधान है। काम सूत्रो^३ में तो इनकी चर्चा है ही नीति शास्त्र^४ भी इनके विषय में मुखर हैं। कालान्तर में इनका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि काव्य और कला में भी इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। 'गणिका वृत्त सग्रह' द्रष्टव्य है। बौद्ध और जैन साहित्य भी इससे अछूते न बचे। अब ये समाज में निन्द्य नहीं समझी जाती थी। 'मगलामुखी' इनकी एक सजा बन गई। यहाँ तक कि धार्मिक क्षेत्र में भी इन्हें सम्मान प्राप्त होने लगा। देवदासी प्रथा इन्हीं की उपज है।

दासी

स्वयं 'दासी' शब्द का प्रयोग भी विचारणीय है। इसका सामान्य प्रयोग

१. पञ्चतु सुरअसुहरसतह्लाबहराई सजललोअरस ।
यहुके अडमगगविणिम्मिआई वेसाणं पेम्माई ॥२॥५६॥
के उअरिआ के इह ण खण्डिआ के ण लुत्तगुदविहवा ।
णहराई वेसिणिओ गणणारेहा उव वहन्ति ॥५॥७४॥

२. अध्याय २७

३. अन्यतोऽपि बहुशो व्यवसितवारिन्ना तस्यां वेश्यायामिव
गमनमुत्तर्वाण्यामपि न परमंयोडां करिष्यति पुनर्भूरियम् ॥

—वात्स्यायन कामसूत्रम् १।५।६

४. राजा वेश्या यमश्वाग्निस्तस्करोऽथाल याचको ।

पर दुःखं न जानति अष्टमोऽग्राम कटकः ॥

—चाणक्य नीति १८।१९

दामी-वन्या के अर्थ में होता है। 'मैदिनी कोश' में "दामी बालाभुजिप्ययो" कहा गया है। कश्मीर नरेश जयापीड के प्रधान मंत्री दामोदर की रचना 'कुट्टनीमत' में "दासी कामुकी सर्ववल्लभा" सूचित किया गया है। इस ग्रंथ में दामी विषयक एकाग्र अन्य प्रयोग भी मिलते हैं जो इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। वैजयन्ती के अनुसार 'चेटी चिरष्टी दामी च' बतलाया गया है। वैयाकरण पाणिनी का "दास्या कामुक" द्वारा वदाचित् इमी ओर संकेत है। सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' में "कामुक जनानुवध्यमान दामी" का भी अभिप्राय कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। राजशेखर प्रणीत 'कपूर मजरी' में विदूषक तोते को "आ दामीए पुत्त भुत्यल्लजागसि" कह कर अपना रूप प्रकट करता है। 'मृच्छकटिक' का शब्दार्थ भी 'वसत सेना' के सन्दर्भ में "दाशीए घीए शल-पलिवत्ते बडे" द्वारा अपने मनोभावं व्यक्त करता है। उसी में वसत सेना पर क्रुद्ध होकर विदूषक "ता मादाव दासीए घीआए गणिकाए मुहपि पेक्खिस्स" कह कर अपनी मनोदशा का परिचय देता है। इन जैसे उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट है कि 'दासी' शब्द का प्रयोग 'वेश्या' के अर्थ में अधिकतर किया जाता रहा है।

देवदासी

परन्तु देवदासी का सम्बन्ध पश्चात्काल तक ही सीमित नहीं रहा है। उसे एक अन्य दायित्व का भी निर्वाह करना पड़ता था। उसे दवालयों में सेवा-कार्य भी करना पड़ता था। नारद स्मृति के अनुसार यद्यपि दामिया-ता कोई पृथक् वर्ग नहीं है, तथापि देवदामिया का है। यदि हम भारतीय वास्तु-विद्या की विधियों पर विचार करें तो पता चलेगा कि 'नाट्यशालाएँ मन्दिरों का एक विशिष्ट भाग हुआ करती थी जो आधुनिक 'बलवा' के समान थी। कालान्तर में यह अनुभव किया जाने लगा कि देवी देवताओं के मनोरंजनार्थ पूजा-अर्चन एवं राग-भोग के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी व्यवस्था हानी चाहिए। देवदासी प्रथा को किसी ऐसी ही प्रेरणा का परिणाम समझना चाहिए। 'शिव-पुराण' के अनुसार शिव मन्दिरों में बहुसंख्यक वेणु-श्रीणा वादन में प्रवीण पुरुषों के साथ "उत्तम स्त्री-सहस्रंश्च नृत्यगोपविशारदं" की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। 'स्वन्द पुराण' के प्रभास खण्ड में भी शिव-मन्दिर में गायन, वादन के बीच "काञ्चीनूपुर शब्देन समाकीर्णं दिगन्तरम्" का वर्णन आया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी देव दामी का उल्लेख है। इस प्रकार हिन्दू मन्दिरों में इस प्रथा का प्रचलन संभव हुआ। इस प्रथा के प्रचलन में बाह्य प्रभाव भी संभव हो सकता है, क्योंकि यह प्रथा इमी देश की एकान्त विशेषता नहीं है।

पौराणिक सन्दर्भ

देवताओं और वाराणसी के सम्बन्ध का उल्लेख 'महाभारत' के वन पर्व में मिलता है। एक स्थल पर उवसी द्वारा अर्जुन से कहा गया है कि 'हम

तो देवताओं की धारागनाएँ हैं, तपस्या से ही हमारा रमण संभव है"। अश्वघोष कृत 'सौन्दरानन्द काव्य' के अनुसार देवताओं के यहाँ वेश्याएँ भी रहा करती थीं जो "सदा मुखस्यो मदनैक कार्याः" जैसे गुणों से सम्पन्न थीं। वैसे बौद्ध काल में मन्दिरों का अधिक प्रचलन नहीं रहा है जिस कारण बौद्ध साहित्य में यह सन्दर्भ अति न्यून मात्रा में उपलब्ध है, जो कुछ है भी वह अपवाद स्वरूप।

प्रश्न उठ सकता है कि देवताओं के सम्पर्क में रहने वाली देवदासियों का वर्णहीन होना क्यों समझा जाने लगा था। इसका कोई स्पष्ट उत्तर हमारे पास नहीं है, फिर भी यह अनुमान करने या आधार मिल जाता है कि वर्ण रूप में देवदासियाँ, वास्तव में दास-कन्याएँ थीं। इसलिये उन्हें वह सम्मान सुलभ नहीं हो सका जो आभिजात्य वर्ग की कन्याओं के लिए उपयुक्त समझा जाता था। पुरातन काल में दासी को भोग्य सामग्री समझने की परंपरा थी। 'महाभारत' में स्पष्ट होकर विदुर ने एक स्थल पर भर्त्सना की है कि "दासीभावेन कृष्णाञ्च भोक्तुकामाः सुतास्तथ"। हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्गं चिन्तामणि' के दानखण्ड में एक ऐसे मंत्र को उद्धृत किया है जिसका उच्चारण दासी-कन्या के ब्राह्मण को भेंट किये और जाते समय करना चाहिए—

इयं दासी मया सुभ्यं श्रीमतो प्रतिपादिता ।

सदा कर्मकरो भोग्या यथेष्टं भद्रमश्नुते ॥

देवदासी का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख हमें पुराणों में प्राप्त है। 'पद्म पुराण' के सृष्टि खण्ड में वन्यादान माहात्म्य का वर्णन एक ऐसे ही सन्दर्भ में किया गया है—

मुनीनां प्रेयसीं नारीं युवतीं रूपशालिनीम् ।

शालंकारां सशय्याञ्च वत्थानन्तफलं लभन् ॥

अनयोश्च फलं तुल्यं युवती कन्ययोरपि ।

एकावराय दातव्या अपरा श्राह्मणाय तु ॥

प्रीता देवाय दातव्या घोरैण क्लिष्ट कर्मणा ॥

बल्पकालं भवेत् स्वर्गं नृपो दासो महारथनी ।

प्रति जन्म लभेत्तैव सुपत्नी वरवर्षिणीम् ॥५२१९७—१००

'स्वन्द पुराण' के अरुणाञ्चल माहात्म्य के महेश्वर खण्ड में बतलाया गया है कि—

प्रतर्दनाहयो नृपतिर्पंहोतुं देवकन्यकाम् ।

अरुणाद्रिपतेगनिं कुर्वन्ती सादरोऽभवत् ॥

क्षणत् कपिमूलो जातो मन्त्रिभिक्षोदितो नृपः ।

प्रत्यर्प्यं तं पुनश्चान्याः प्रादावदणभूभृते ॥

ततश्चादमूलो जातः प्रासादावदणेशितुः ॥६१५४—५६

उसी खण्ड में भरवण्डेय ऋषि से कहलाया गया है कि—

मया च शम्भुमम्पद्यं कृतान्याहुतिसम्भवा ।
सप्त वन्या वरारोहा पूजार्थं विनियोजिता ॥६॥१३६

इसी प्रकार राजा वज्रामदेव के विषय में कहा गया है कि—

सौन्दर्यशालिनीरात्म परिवार वरागता ।
सेवार्थं शोणनाथस्य वत्तवान् दीर्घदर्शन ॥२४॥१२

‘भविष्य पुराण’ में निर्देश है कि—

धेयकारुवम्बक पस्तु दद्यात्सूर्याय भवितत ।
स गच्छेत्परम स्वान यत्र तिष्ठति भानुमान् ॥९३॥६७

‘चतुर्वर्ग चिन्तामणि’ में हेमाद्रि ने ‘कालोत्तर तत्र’ का उद्धरण दिया है—

योऽलकृत्य स्त्रिय शम्भोऽस्तमा विनिवेदयेत् ।
सोऽश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं शतगुणं लभेत् ॥
सुधिनीतां स्त्रियं दासीं भूतकार्यं निवेदयेत् ।
नरमेधस्य यज्ञस्य फलं शतगुणं लभेत् ॥ पृ० ६४१—२

उपर्युक्त उद्धरणा से हम कुछ निष्कर्ष निकालने का आधार मिल जाता है। ‘पद्मपुराण’ का रचना काल चौथी शताब्दी है और सम्भवतः इसकी रचना महाराष्ट्र में हुई थी। इस पुराण से किसी घटना का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किन्तु यह देवदासी प्रथा की सराहना अवश्य करता है। इसके विपरीत सातवीं शती की रचना ‘स्कन्द पुराण’ निश्चित घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है और उसके मध्यम में परपराशा का उल्लेख करता है। हेमाद्रि द्वारा ‘कालोत्तर तत्र’ का प्रस्तुत उद्धरण आर्यतराश का परिचायक है। इस मन्दन में यह भी उल्लेखनीय है कि ‘भविष्य पुराण’ का उद्धरण का छोटकर अन्य का सम्बन्ध गिब में है और शिव अतिरिक्त दाक्षिणात्या द्वारा मान्य देवता है। इस प्रथा को उन्होंने वदाचित् भूमध्यसागर के समीपस्थ निवासियों से अपनाया था, जहाँ इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी। इनसे दाक्षिणात्या का सम्पर्क समुद्री व्यापार के कारण सम्भव भी था। यद्यपि वत्सिय विद्वाना ने इस पर आर्षिक मन्मता एवं सस्कृति का प्रभाव देखा है। उत्तरी भारत के मन्दिर वदाचित् उत्तम पुराने नहीं हैं जितने दक्षिण भारत के। अतएव श्वर देवदासी प्रथा के प्रसार का भी समय परवर्ती प्रतीत होता है।

ऐसा लगता है कि देवदासी बनने के लिए सभी श्रेणियाँ एवं प्रकार के लोगों को छूट थी। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि सातवीं शती तक उसे पवित्र ही माना जाता था। इस मन्दन में राजा प्रतर्दन वाली घटना उल्लेखनीय है।

बौद्ध और जैन साहित्य

यह प्रथा दाक्षिणात्या से बौद्धों एवं जैनो के अतिरिक्त प्रचलित रही है। परन्तु 'धम्मपद' की टीका में बुद्ध कस्मप के प्रतिमा-स्थापन के प्रसंग में एक राक्षस वर्णन आता है जिसके अनुसार अणुआ (मुसिया) बनने के निमित्त एवं ग्रामीण ने अपने पूरे परिवार को देव-पूजा के नाम पर अर्पित कर दिया। इसी प्रकार देवदत्ता नामक एक कुवडी दासी बन्धा ने अपने की जिन की प्रतिमा की सेवा में लगा दिया जिसका उल्लेख जैकोशी के महाराष्ट्रीय प्राकृत कथाओं में पाया जाता है। इस कथा का सम्बन्ध उज्जैनी के राजा पञ्जोया और उदयन से है। फिर भी सामान्यतः इस प्रकार की किसी प्रथा को ये प्रश्रय देते नहीं जान पड़ते। वदाचित् इसी कारण जैन साहित्य इस प्रश्न पर मौन है।

शिलालेख

इसा पूर्व तीसरी शताब्दी की जोगीमारा की मुफाआ में शिलालेखों में भी देवदासी प्रथा के अस्तित्व का पता चलता है। यह मुफा देवदासी सुतनुका के आदेश पर निमित्त हुआ था और इसका उपयोग उनके विश्राम-गृह के रूप में होता था, यद्यपि डा० वागी प्रसाद जायमवाल इस निष्कर्ष से सहमत नहीं जान पड़ते।

तमोर के राजमन्दिर में भी एक ऐसा शिलालेख है जिसके अनुसार दसवीं-ग्यारहवीं शती के गुप्तमिद्ध चोलराजा ने शिव-पूजा के निमित्त चार सौ देवदासियों के पालन पोषण के लिए कुछ भूमि दान-स्वरूप भेंट की थी। यह दान महाराष्ट्रीय 'मानकीश' के अनुसार १००४ ईसवी में दिया गया था। इसी प्रकार 'इपि-श्रीकिवा वर्नाटिका' में महामण्डलेश्वर चामुण्ड रायरम का उल्लेख है जिन्होंने महण्डेश्वर और मन्दिर से गम्बूज बुण्डराज की छोटी बहन 'वीचा बरणी' को कुछ भूमि दान में दी थी।

ऐतिहासिक सन्दर्भ

ऐतिहासिक तथ्य के रूप में देवदासी प्रथा का प्राचीनतम उल्लेख हमें मातवी शती के चीनी विद्वान युवान च्याम के यात्रा-विवरणों में मिलता है। जब वह 'भू-गो-मान-गुनो' (मुदरवातपुर—मुन्वान) स्थित मुद्रमिद्ध गुरु मन्दिर को देखने गया तो वहाँ उसने लगातार गाने बालियों को पाया। ये गाने बालियों गभक्त देवदासियों रही होंगी। 'भविष्य पुराण' में भी इसका उल्लेख होता है। इस सन्दर्भ में आठवीं-शती के अरब भूगोलवेत्ता आब्-इद्रिमी और अबू उद-अब्-हमद आदि के उन वर्णनों का भी उल्लेख ही आता है, जहाँ पर उन्होंने अरब आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम के सिन्ध आक्रमणों के प्रसंग में उक्त मन्दिर का उल्लेख किया है। आठवीं शती की रचना 'कुट्टनीमत' में भी ऐसी बन्धाओं की कथाएँ हैं। जिन मूर्तियों की पूजा की जाती थी उनको 'घोड' अथवा 'घोड' कहने की प्रथा थी जो बुद्ध या पून का भी सम्मानार्थी हो सकता है। बसोवि ईमान में बुद्ध मूर्तियों के ही आधार पर बुद्ध कहने की प्रथा

चल निकली। बरहणवृत्त 'राजतरंगिणी' में वस्मीर राजा जललुक का वह वर्णन भी ध्यान देने योग्य है जिसमें उसने प्रमत्त होकर अपने रनिवास के सौ म्त्रिया को देवताओं के सम्मान में गाने नाचने का आदेश दिया था। यही नहीं राजा ललितादित्य (आठवीं शती) के सन्दर्भ में भी सूर वर्द्धमान ग्राम की ऐसी ही दो देवदासिया का उल्लेख है।

मध्यकालीन सन्दर्भ

तेरहवीं शती के मुस्लिम इतिहासज्ञा ने जो सोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण के समय महमूद गजनी के साथ थे, लिखा है कि उन्होंने ऐसी पाँच सौ गाने-नाचने वालीयों को देखा जो मूर्ति के समक्ष बराबर गाती नाचती थीं। 'तारीख-ए-अल्फी' में भी इस मन्दिर का वर्णन है, जहाँ पर बतलाया गया है कि "इस मन्दिर से तीन सौ गवैये और पाँच सौ नर्तकियाँ सम्बद्ध हैं। यह यहाँ की प्रथा है कि भारत के राजे-महाराजे तक अपनी बन्ध्याआ का मन्दिर सेवा के लिए भेज दिया करते हैं।" इस प्रकार एक समय ऐसा भी आया कि दक्षिणात्य मन्दिरों के प्रभाव में दक्षिण में लेकर उत्तर तक में देवदासी प्रथा प्रचलित हो गई। इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रथा का प्रसार अधिकतर शिव एक सूर्य मन्दिरों तक ही सीमित रहा। दामोदर गुप्त लिखित 'कुट्टनीमत' के आधार पर वाणी विश्वाय मन्दिर की वैसी स्थिति तक का परिचय मिल जाता है। 'वामन पुराण' में वाणी-वर्णन इस वर्णन में अद्भुत साम्य रखता है।

परन्तु यहाँ उनका निजी स्वार्थ या मन्दिरों का नहीं, जब कि मालावार और उसके आसपास के देव-स्थानों में उनसे सम्बद्ध मन्दिरों का भी स्वार्थ निहित था जैसा कि अब जैद अर्-हमन ने सूचित किया है। फिर भी 'स्मृति बौमुदी' के प्रमाण पर ऐसे कामों के लिए केवल स्त्रियाँ की नियुक्ति नहीं होती थी। पुरुषों को भी भर्ती की जाती थी—

जातिहीन. समातृणां प्राहयेरर्भनामनि।

योग्यो देवपुरे राजा वर्णसकर भीरुणा॥ पु० ७३

उपर्युक्त वर्णना में देवदासी प्रथा का पता तो चلتा है, किन्तु इस प्रथा की विधियों या विभूत विवरण नहीं मिलता। यह विलक्षण बात है कि दक्षिण में भ्रमण करने वाले विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरणों में तो इस प्रथा का उल्लेख मिलता है, किन्तु उत्तर भारत में भ्रमण करने वाले यूनियर और मनुची जैसे विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरणों में इस प्रथा की चर्चा नहीं पायी जाती। यही नहीं मुस्लिम इतिहासकार भी इस सन्दर्भ में मौन-में हैं। केवल यूनियर जगन्नाथ मन्दिर की देवदासी प्रथा का नाम लेता है। मभव है उत्तर भारत में मुस्लिम शासकों की रीति-नीति का आतंक ऐसा रहा हो कि देवदासी प्रथा इस क्षेत्र में अपने आप रुद्ध हो गई हो। इन देवदासियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि किंगी भी मृत्यु पर ये विदेशियों को मुलम नहीं है, जब कि पुरोहितों और साधुओं-पत्थरों

के लिए ये उन्मुक्त है। इनका कल्पित विवाह सम्बंध जगन्नाथ से हुआ करता था, किन्तु छद्मरूप में पुजारी वर्ग रात्रिकाल में इनका उपभोग करता था।

फरिदता ने बहमनी राज्य के संस्थापक सुल्तान अलाउद्दीन बहमनी (चौदहवीं शती) के कर्नाटक विजय के प्रसंग में लिखा है कि उस सुल्तान ने चार सौ मुरलियों को हस्तगत किया था। इसमें सन्देह नहीं कि उसने उन्हें अपने हरम में रख लिया होगा।

विदेशी पर्यटक

विदेशी घानी मार्कोपोलो (तेरहवीं शती) ने लिखा है कि "मालावारी नर-नारी" (शिव-शक्ति) के प्रतिमा-पूजक हैं जिन्हें वे अपनी नग्याएँ अर्पित करते हैं जो महतां अथवा पुजारियों के आदेशानुसार मूर्ति को प्रसन्नता के हेतु गाती-नाचती हैं।" इटालियन यात्री निकोलो कोण्टी (पन्द्रहवीं शती) ने भी विजयनगर में रथ-यात्रा के समय मूर्ति के समक्ष तजी-सजायी नारियों द्वारा स्तुति-गान करने को चर्चा की है। एक अन्य विदेशी यात्री ग्रैस्प्रोवाली के अनुसार विजयनगर राज्य के निवासी धार्मिक उमग में अर्धे माता-पिता द्वारा अर्पित स्त्रियाँ, जो मूर्ति-पूजा में सलग्न रहती हैं, मूर्ति-पूजा की व्यवस्था और अपने भरण-पोषण के लिए अपना शरीर बेंचती हैं। विजयनगर के एक स्थान पर ऐसी चार सौ बेट्याएँ निवास करती हैं। इसकी पुष्टि सोलहवीं शती के पूर्वगाली यानी दोर्मिगो पेज के विवरण से भी होती है जिन्होंने धारवार के किसी मन्दिर की चर्चा इस सन्दर्भ में की है। सोलहवीं शती के अंत में धर्म पिता डे विग और रिसिनो ने त्रिलूर की उम यात्रा को देखा था जिसमें दीपवाहिनो बीम नर्तकियों का उत्थार है जो गायको तथा वादको के साथ अविवाहितावस्था में मूर्ति-सेवा करती हैं। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि इन मन्दिरों की बड़ी आय है जिनमें से कुछ की आय ऐसी स्त्रियों की भक्ति-भावना के कारण बढ़ जाती है जो इस हेतु वेश्यावृत्ति तक में उतर आती हैं। फ्रेंच यात्री बर्नियर (सत्रहवीं शती) ने भी अपनी आगरा-यात्रा के प्रसंग में कुछ ऐसा ही वर्णन किया है।

ज्ञानकोश

महाराष्ट्रीय 'ज्ञानकोश' के अनुसार शाहशाह औरगजेब ने औरंगाबाद के प्रवास-काल में सतारा के खडोबा मन्दिर में प्रचलित हिन्दुओं की मुरली-प्रथा (देवदासी-प्रथा) के विरुद्ध निषेधात्मक कानून लगा दिया था। इस प्रकार दक्षिण में यह प्रथा उस समय भी प्रचलित रही, जब कि उत्तर भारत में इसका विशेष पता नहीं चलता। दक्षिण वालों में कालान्तर, विवाहिता के बजाय अविवाहिता नग्याओं को ही देवदासी बनाने की प्रथा चल पड़ी और ये गाने-नाचने वाली लड़कियाँ संगीत विद्या की सरक्षिका समझी जाने लगीं। कहा जाता है कि अठारहवीं शती में टीपू सुल्तान ने माता-पिता द्वारा मन्दिरों के लिए बालक-

बालिकाओं को अर्पित करने की प्रथा का निषेध कर दिया था। वह बालक-बालिकाओं को मालावार क्षेत्र में वृषि-व्रम करने के लिए खरीद लिया करता था।

प्रसार

बम्बई में देवदामियों का एक नाम 'भाकिन' भी प्रचलित रहा है। सार्वजनिक रूप में उनका गाना-बजाना बजित रहा है। 'सेज विधि' के अनुसार मूर्ति के साथ कुमारी कन्या का विवाह कर दिया जाना था अर्थात् देवता द्वारा धारण किये हुए किसी अलंकार के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता था। ये अधिकतर मराठा सरदारों की दामियों द्वारा उत्पन्न बन्याएँ होती थीं। इसके विपरीत 'मुरली' मराठा शूद्र जाति की थी। ऐसी जातियाँ में भण्डारी, कुनवी, घागड और नायक आदि के नाम गिनाये जाते हैं।

अमम प्रदेश में देवदामी-प्रथा की भाँति 'दोड़-पनी' अथवा 'देव-पत्नी' प्रथा प्रचलित रही है जिसका सम्बन्ध देव-मन्दिरों से रहा है।

मद्रास में देवदासियों का दीक्षा-मस्कार विचित्र रीति से होता रहा है। आरती द्वारा आरंभ होकर पुजारी द्वारा हार जैमी त्रिमी वस्तु के दिये जाने से उगना समाप्त होता रहा है। देव-पूजन के फलस्वरूप उसे अन्न-वस्त्र और आवाग की चिन्ता से मुक्ति मिल जाती रही है। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार वह एक रात्रि में त्रिमी एक ही 'छैल छबीले' के साथ अकशायिनी हो सकती थी। उसके द्वारा अर्जित आय का या तो बँटवारा हो जाता था अथवा मन्दिर के अधिकारियों द्वारा वह हस्तगत कर लिया जाता था। यह प्रथा कर्नाटक के म्पूग्यास्पृश्य दोनों में ही प्रचलित रही है। अस्पृश्यों के हॉलेम और मद्र जातियों में उनकी सहाय्य अधिक रही है। यहाँ पर इन्हें 'जोगती' कहने की परंपरा है। द्रवी प्रवार तेलंगाना में वे 'बमया' कहला कर प्रसिद्ध हैं। बंगालपत् (दक्षिण) में रुई जगह जातियों में यह प्रथा रही है कि वे अपनी ज्येष्ठ कन्या का ऋणमती होने के पूर्व ही त्रिमी मन्दिर को भेंट कर दिया करते थे।

दम गन्दर्भ में यह एक रोचक तथ्य है कि हिन्दुओं की देसा-देगी कतिपय मुस्लिम सम्प्रदायों ने भी देवदामी प्रथा को त्रिमी-न-त्रिमी रूप में अपना लिया जिन्हें ललनऊ में 'अछूती' बतते रहे हैं। उनके स्मारक स्वरूप उग नगर की एक गली 'अछूती गली' कहला कर प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त विस्तृत विवरण तथा विवेचन से यह भ्रान्ति बदायि न हानो चाहिए कि वृष्टनी-व्रम अथवा वेदयावृत्ति चाहे वह धार्मिक क्षेत्र में ही क्यों न ध्यात हो भारतीय समाज की एकान्त विशेषता है। इसके विपरीत समाज के अधिकांश भाग में पट्ट प्रथा त्रिमी-न-त्रिमी रूप में आज भी प्रचलित है जो अपने आप में सामाजिक एवं आर्थिक गठन की एक विशेषता है।

श्री जगन्नाथ पाठक ने दामोदर वृत्त 'वृष्टनीमन काव्यम्' का योग्यतापूर्वक

हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है और पाद टिप्पणी तथा अनुवादकीय द्वारा अन्य ज्ञातश्च बातों को सूचित कर दिया है। जिज्ञासु पाठक इनसे अवश्य ही लाभान्वित होंगे। मैंने अपनी भूमिका द्वारा उन तथ्यों का उद्घाटन करने का यत्न किया है जिनकी पृष्ठभूमि में विषय-बोध सुगम हो सकेगा। हमें आशा करनी चाहिए कि इस अनुवाद द्वारा देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन को नयी दिशा एवं प्रेरणा मिलेगी। भूमिका तैयार करने में जिन स्वजनों से मुझे सहायता मिली है उन सभी के लेखकों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

नागपचमी

२०१७

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

काव्य रसिक
डॉ० नगेन्द्र को
सप्रेम

अनुवादक की ओर से

'कुट्टनीमत' आठवीं शताब्दी के कश्मीरी कवि श्री दामोदरगुप्त की एवमात्र उपलब्ध रचना है। कन्हन की 'राजतरंगिणी' के अनुसार दामोदर गुप्त कश्मीर के राजा जयापीड (७७९—८१३ ई०) के आश्रित कवि और प्रधान-मन्त्री थे। जयापीड के कुछ पूर्वज और अन्त में वह विलामिता में बहुत कुछ बह चुके थे जिसका कवि के मन पर विशेष प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और कुट्टनीमत के निर्माण का मुख्य कारण यही समझा जा सकता है। जैसा कि इस काव्य में चरित्र-चित्रण है उसमें विदित होता है कि तत्कालीन भारतीय समाज और विशेष कर कश्मीर जनपद बहुत विलासी हो गया था। विलामिता जब अपनी चरम स्थिति में पहुँच जाती है तब उसमें दुराचार, व्यभिचार, अत्याचार आदि समस्त उपद्रव एकत्र होकर सामान्य जनजीवन को दुःख कर देते हैं। ऐसी स्थिति में सिमी भी समाजद्रष्टा का कर्तव्य हो जाता है कि वह बिगड़ते हुए समाज को सुधारे और जनजीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करे। कुट्टनीमत काव्य के निर्माण की पृष्ठभूमि प्रायः यही हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि इसका रचयिता कवि होने के साथ समाज के विविध प्रत्यावर्तना को निवट में निरीक्षण करने वाला व्यक्ति था। ऐसी स्थिति में अपने कवित्व को माध्यम बना कर 'गुडत्रिद्विषया' समाज को गतक करना उसे अभीष्ट था। फलतः कुट्टनीमत की रचना हुई।

काव्य आखिर काव्य होता है। समाज-शास्त्र नहीं। समाज के सामने काव्य के माध्यम से जो कुछ रखा जाता है वह निश्चय ही समाज शास्त्र का भी लक्ष्य होता है, परन्तु दोनों के माध्यम में मूलतः अन्तर है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इसीलिए काव्य को 'कान्तासम्मित उपदेश' माना है, प्रभुसम्मित और सुहृत्सम्मित उपदेश काव्य के विषय नहीं। इस दृष्टि से आदि से अन्त तक इस काव्य में काव्यत्व की रक्षा की गई है और पर्यन्त में सिर्फ यह कह कर समाप्त कर दिया है कि—

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक् का व्यायंपालनेनासी।

नो वञ्च्यसे कदाचिद् विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति ।।

अर्थात् इस काव्य को काव्यार्थ का सम्यक् पालन करते हुए जो श्रवण करेगा वह विट, वेदपा, धूर्त और कुट्टनी से कभी वञ्चित नहीं होगा।

सचमुच एक ओर अपने काव्यत्व की पूर्णता से और दूसरी ओर निदर्शकत्व की समग्रता से कुट्टनीमत एक प्रकार का विलक्षण निर्माण है। यह आकाश-श्रीप की भाँति सञ्चत-साहित्य के स्फीत आकाश में अपनी विभिन्न मोहक रगोनियों को लिए जगमगाता हुआ एक ओर सहृदय को अपने कान्तिभर से आवृष्ट भी करता है, दूसरी ओर उसे सजग और सतर्क भी बना देता है।

काव्य का आरम्भ भगवान् अवार्यवीर्य कामदेव की जयकामना से हुआ है और दूसरे ही श्लोक में कवि अपना विषय करने के बहाने सहृदयों से काव्य के चरित्रों आदि दोषों की ओर ध्यान न देकर गुणलेख की ओर दृष्टि देने के लिए प्रार्थना करते प्रस्तुत चर्चा में लग जाता है। इसमें प्रयुक्त एवमान छन्द आर्या है जो छन्द शास्त्र के अनुसार बहुभेदवती होने पर भी यहाँ परिमित ही प्रयुक्त है।

कुट्टनीमत के प्राप्त होने और प्रकाश में आने का इतिहास भी यहाँ उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ सदिया से अप्राप्त होने के कारण यत्र-तत्र के उद्धृत श्लोकों मात्र से विद्वानों को विदित था। यह पीटर्सन महाशय को १८८३ ई० में गुजरात के काम्पेस्थित शान्तिनाथ मन्दिर के पुस्तक-भाण्डार में ताडपत्र पर आनुमानिक त्रयोदश शताब्दी में लिपित प्राप्त हुआ। सदियों की चिरप्रसुप्ति के बाद जागरित होकर भी यह 'अपूर्ण एव अशुद्ध' होने के कारण विद्वानों के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय बना रहा। १८८७ ई० में जयपुरीय महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद ने इस ग्रन्थ के और भी प्राप्त दो पाण्डुलिपियों के आधार पर निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से 'काव्यमाला' के तृतीय गुच्छक में इसे प्रकाशित किया, यद्यपि वि पूर्वोक्त भुक्तियों इस संस्करण में उपमहूत न हो पाईं। पीटर्सन की प्राप्त पाण्डुलिपि में ग्रन्थ का नाम 'गम्भवीमतम्' था, लेकिन अन्य प्रतियों में 'कुट्टनीमतम्' शीर्षक था जो स्वीकृत हुआ। क्योंकि 'राजतरंगिणी' में परल्लेख में इस काव्य को 'कुट्टनीमतम्' के नाम से ही स्मरण किया है और बाद में प्राप्त हुई पूर्ण एव सुद्ध

पाण्डुलिपि में यही शीर्षक मिला। कोश के अनुसार 'कुट्टनी' और 'गम्भली' दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। 'कुट्टनीमत' आदि अर्थान् कुट्टनी(परपुरप के साथ मयोग करा के स्त्रियों का शील हरण करने वाली) स्त्री द्वारा दी हुई मन्त्रणा या उपदेश।

१८९७-९८ ई० में महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने नेपाल यात्रा की और वहाँ उन्हें ११७२ ई० में प्रतिलिखित इसकी एक पूर्ण पाण्डुलिपि नेवारी लिपि और प्राचीन अक्षर बगाक्षर में प्राप्त हुई। उनके बयानानुसार इसमें पुराना कोई बगाक्षर प्राप्त नहीं हुआ है। उन्होंने इस ग्रन्थ को बगाल के एशियाटिक सोसाइटी को दिया जहाँ से एक कश्मीरी विद्वान् शिष्य श्रीमधुसूदन कौल के सभादकत्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

तब बम्बई के एक विख्यात गुजराती विद्वान् श्री तनमुखराम मनमुखराम त्रिपाठी ने एशियाटिक सोसाइटी के सस्करण, तीन प्रतियों, वाय्यमाला के पण्डित मस्वरण और वासी के पण्डित रत्नगोपाल भट्ट द्वारा रचित 'रमदीपिका' नाम की टीका का अवलम्बन करते एक सम्पूर्ण मटीक सस्करण की रचना की। अब तक प्राप्त सस्करणों में यह ग्रन्थ सबसे उपयोगी और समग्र कहा जा सकता है।

इसके रचयिता श्री दामोदर गुप्त ने अपना परिचय वहाँ नहीं दिया है। केवल 'राजतरंगिणी' का यह श्लोक इस समय में थोड़ा सा निर्देन करता है—

स दामोदरगुप्ताख्य कुट्टनीमतकारिणम्।

कवि कवि बलिरिव धुपे धीसचिवं ध्वपात् ॥४९६

और कुट्टनीमत के अन्त में यह लिखा है—

इति श्रीकश्मीरमहामण्डलमहीमण्डन राजजयापीड-मन्त्रिप्रवर दामोदर-गुप्तकविविरचितं कुट्टनीमतं समाप्तम्।

इन दोनों से इतना ही विदित होता है कि कुट्टनीमत के रचयिता श्री दामोदर गुप्त कश्मीर के राजा जयापीड के मन्त्री थे। बल्लभ ने कवि के जीवन की घटना का कोई उल्लेख नहीं किया है। बल्लभदेव ने अपनी 'गुभाषितावली' में दामोदर गुप्त के नाम से चार श्लोकों को उद्धृत किया है जो कुट्टनीमत में नहीं मिलते। सम्भव है कवि ने कोई अतिरिक्त निर्माण भी किया हो। इसमें सन्देह नहीं कि कुट्टनीमत कवि के परिणत बयम् की रचना है, क्योंकि इसमें कवि ने विभिन्न शास्त्रों में अपने व्यापक पाण्डित्य का परिचय दिया है।

बल्लभ के अनुसार जयापीड का राज्यकाल ७५१ ई० में ७८२ ई० तक ठहरता है। लेकिन आपुनिक श्लोक के अनुसार यह काल निरर्थक शोरपूर्ण है। उसका राज्यकाल ७७९-८१३ ई० मन् पा, जैसा कि ग्रेन मराठय ने राजतरंगिणी की भूमिका में बताया है। श्री दामोदर गुप्त के इस समय में विद्यमान होने में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

विशाखिल (१२८)—कलाआ के लेखक । काव्यालकार-मूत्रवृत्ति (१। ७।७) में इनका उल्लेख है।

दत्तिल (१२४)—मगीतगास्त्र के रचयिता । इनकी कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं । य कोहल के गिप्य कहे जाते हैं । शाङ्गदेव के मगीतरत्नावर की टीका में चतुर कलिनाथ ने इनकी रचना से उद्धृत किया है।

व्यास (२४७)—महाभारत और अष्टादश पुराण के कर्ता ।

मत्तंग (८७७)—मगीतगास्त्र के एक पुरान रचयिता । शाङ्गदेव और दूसरे लेखक द्वारा उल्लिखित ।

इनके अतिरिक्त कवि ने हर्षदेव (अनघर्ष) का नाम लिया है (८००) और जिनकी मुद्रमिद्ध रचना रत्नावली के प्रथम अंक की आर्या छन्दा में अभिनय के ढंग पर प्रस्तुत किया है (८८१—९२८) ।

अपने निर्माण के पञ्चानु कुट्टनीमत प्रचार प्रसार की दृष्टि में त्रिमो से कम न था । मध्ययुग के कविगण और माहिन्यवार इस काव्य में पूर्ण परिचित हो चुके थे । आचार्य भम्मट न अपन प्रतिष्ठित निर्माण 'काव्यप्रकाश' में इस काव्य के दो दृष्टांत (१०३, ६९७) का मराहनीय स्थान दिया है । इसने अतिरिक्त गुभासिनावली, कविकण्ठाभरण, पञ्चतन्त्र, दुर्घटवृत्ति, मलकोश टीका, कवि-वचन ममुच्चय, सूक्तिमुक्तावली, अठवार सर्वस्व, क्षीर स्वामी की अमर-वाग टीका आदि ग्रन्थों में इस काव्य के दृष्टांत उद्धृत मिलते हैं । इन ग्रन्थों में वही दामादरदेव, वही भट्ट दामादर गुप्त, वही कपित्थदामादर इत्यादि नामों में कवि का परिचय दिया गया है । पद्मश्री या पद्मश्रीज्ञान नामक बौद्धपण्डित (१० म ११ म शतक) के 'नागरमन्त्र नामक कामगास्त्रीय ग्रन्थ में भी कुट्टनीमत का उल्लेख है।

आगे चल कर सम्भवतः तरहरी शताब्दी में इस ग्रन्थ का मूल अस्तित्व निरास्त हो चला क्याकि काव्य प्रकाश व तत्कालीन टीकाकार माणिकचन्द्र आदि न उद्धृत दृष्टांतों के रचयिता का नाम अथवा कोई परिचय नहीं दिया है और अनेक टीकाराज न इन्हें अन्य कवित्वन कह कर भूठ भी की है।

कुट्टनीमत की कथा

आर्यालो की मास्त्री नामक पण्डितों न त्रिमो के कथनानुसार ध्यान की कामुक जना के हृदय हरण करने में अगमध अनुभव करके विरागगा नाम की कुट्टनी के पास जाकर उपाय पूछा । विरागगा मास्त्री के मोक्ष गुण की प्रशंसा करके बोली कि यह भट्टगुप्त (चिन्तामणि ?) का आकृष्ट करने का प्रयत्न करे । पण्डितों का पालन कि कामुक के मन में विद्यमान इस धारणा का कि व टग हात्री है, उनका राग वृत्तिम होता है दूर कर और इस उद्देश्य में भट्टगुप्त का सविधि संचार करके मास्त्री यह कथा सुनाए—

कुमुदपुर (पाटलिपुत्र) के सुन्दरसेन नामके एक ब्राह्मण का लड़का सुन्दरसेन अपने मित्र गुणपालित के साथ देशाटन के उद्देश्य से निकला और अपनी यात्रा के प्रसंग में अर्बुदाचल (आबूपर्वत) पर पहुँचा। उम पर्वत की रमणीयता से मोहित सुन्दरसेन ने वहाँ एक उद्यान में हारलता नाम की एक सुन्दरी गणिका को देखा। दोनों के चले तत्काल नयनसगतक के फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे को अपना दिल दे बैठे। सुन्दरसेन उस गणिका के साथ एक वर्ष तक आनन्दपूर्वक रहा। गुणपालित न चाहते हुए भी मित्र के प्रति गाढ सौहार्द के कारण सुन्दरसेन के साथ रहा। तत्पश्चात् पिता के भेजे हुए दूत ने सुन्दरसेन को पत्र दिया जिसमें उसकी कमजोरी के प्रति धिक्कार के साथ शोघ्न लौट आने और परिवार का बोझ सम्हालने के लिए निर्देश था। पिता की आज्ञा मान कर सुन्दरसेन अपने मित्र के साथ चला। उसके साथ कुछ दूर तक वियोग विह्वल हारलता चली। नगर के बाहर जब वह हारलता से विदा हुआ और कुछ दूर चला गया तब पीछे से आते हुए किसी पथिक ने पूछने पर बताया कि कोई महिला बरगद के पेड़ के नीचे निद्रमल पड़ी है। हारलता के निष्प्राण हो जाने के इस समाचार से रोना-पीटना वह लौटा और उसके मृत शरीर के समीप पहुँच कर देर तक विलाप करता रहा। अन्त में उसके शरीर का अग्निसंस्कार सम्पन्न कर मित्र के साथ सन्यासी होकर निकल गया।

विवराला ने कहा कि इस कथा से गणिकाओं के राग का प्रमाणित करने के लिये अपने को भद्रपुत्र से उसके परिचारका के बीच रख लेने की प्रार्थना करना। इस प्रकार जब उसका विश्वास तुझ पर जम जाय तब विविध प्रकार की मान-सूचक ईर्ष्या की बातें करना। जब यह तुझ पर लडराग हो जाय तब अपनी माता के साथ मिथ्याबलह करना। माता तुझसे कहे कि जैसे खरबने बागों को छोड़ इसके पीछे क्या पड़ी है। गणिका जनों के लिए राग शोभा नहीं देता। तू माता की बात न मानना और अपने प्रिय के लिए सब-कुछ छोड़ देने को उतारू हो जाना। ऐसा करने से वह तुझे अपना सर्वस्व अर्पित करके सन्तुष्ट करने का निश्चय करेगा, तेरे विविध कामबंधक उपचारों को सराहेगा।

इतना हाने पर यदि यह प्रभावित न हो तब तू यह प्रकट करना कि तेरे सारे गहने चोरी ने मार्ग में लूट लिए। यह प्रपञ्च रचना भी यदि कृपा सिद्ध हो तब तेरे आदमी से प्रेरित हो बनिया आकर यह कहे कि तुमने हार जो गिरवी रखी है उसे पैसा वापस करने लौटा ले। तू कहना कि हार किसी विचवान के ठहराये दाम पर तू ही रख ले और जा पैसा लवेगा उसे पीछे दे दूँगी।

यह कपट रचना भी जब ध्वंस सिद्ध हो तब कहना कि जब तुम बीमार पड़ गए थे तब मैं न देखी थी वरि चढ़ाने की मनीषी मान ली थी। लेकिन सामग्री के अभाव में जो पूजा नहीं कर पायी हूँ उससे कारण मन में सबी बनी रहती है।

यह भी व्यर्थ हो तब अपना घर खाली करके उसमें आग लगा देना और यह कहना कि मेरा सब कुछ जल गया ।

इन उपायों से कामुक को सोखला कर डालना और तब उसके छोड़ने के उपाय (पक्षपोषण) काम में लाना । बहुत कहने पर भी यदि वह आदमी के आकार वाला पशु नहीं ममज्ञे तब कहना कि मेरा दिल तुमने ही खुग होता है लेकिन क्या करूँ, माता की बात टाल नहीं सकती । इसलिए कुछ दिनों के लिए तुम चले जाओ, फिर आना तो तुम्हारे ही साथ रह कर दुनिया के मजे लूँगी । यह कहने पर वह चला जाय और कुछ दिनों के बाद उसके पाम धन एकत्र हो जाय तब पुन उसे मिला लेने का प्रयत्न (भित्तमन्धान) करना ।

इसी प्रसंग में विवराला ने मालती को एक कथा सुनायी—

राजा मिहभट का लड़का राजकुमार समरभट अपने परिचारकों के साथ काशी विश्वनाथ के दर्शन के पश्चात् वहाँ वेदशास्त्रा, गायनाचार्यों, वणिग्जना तथा अन्य विविध प्रकार के लोगो में मिला । सभी लोगों ने उसे सम्मानित किया । वहाँ उसने नृत्योपदेशक आचार्य से स्थानीय संगीत के सम्बन्ध में प्रश्न किया । उसने गणिका जनो की व्यापार-परायणता के विविध उदाहरण दते हुए हर्षदेवलिसित 'रत्नावली' के अभिनय करन वालिया में मञ्जरी नामक वेश्या का परिचय कराया । राजपुत्र ने मञ्जरी को हृसरत भरी निगाह से देखते और 'क्या यह है !' कहते हुए वेददण्ड से स्पर्श किया । इसी प्रसंग में उसके सचिव ने वेश्याशा का तिरस्कार करत हुए परकीयाप्रेम की प्रशंसा की । तब मञ्जरी की माता ने अपने पक्ष से सचिव के वाग्जाल का भेदन किया । नतकाचार्य ने राजपुत्र से 'रत्नावली' का एक अंक देखने के लिए प्रायना की । उसकी स्वीकृति के बाद पूरा प्रथम अंक खेला गया । राजपुत्र न उस नाट्य का वेहद पसन्द किया और रत्नावली की भूमिका निभाने वाली मञ्जरी के प्रति अनुरक्त हो गया । फलत उस गणिका ने अपने विविध विलासा में उसे फाँस कर उसका सब कुछ ले लिया और उसे स्वगस्थितोप करके छाड दिया ।

यह कथा सुना कर कुट्टनी विवराला ने कहा कि जो कुछ मैंने कामुक के धन ऐठने के उपाय बताये उनके प्रयोग से तू मन्ती समृद्धि प्राप्त करेगी ।

मालती ने यह उपदेश श्रवण कर विवराला का चरण-स्पर्श किया और सन्तुष्ट हो अपने घर गई ।

यदि अन्त में लिखता है कि इस काव्य को जो वाच्यार्थपालन पूर्वक श्रवण करेगा वह कभी बिट, वेदशा, पूर्त और कुट्टनी से वञ्चित नहीं होगा ।

इस माघारण और बहुत अग में भट्टे और पौके कथानर का कवि ने अपन कविप्य का जामाजोडा पहना कर बहुत ही मजेदार और दिलचस्प बना दिया है । गुण की दृष्टि से प्रमाद और भाषुय का सफलता से निभाया है और यत्र-तत्र

श्लेषानुबद्ध परिसंख्या, उपमा, व्यतिरेक आदि अत्यन्तसिद्ध आलंकारिक प्रयोगों का पुट देकर इसके गाम्भीर्य की सुरक्षा भी कर दी है। यद्यपि इस काव्य के रसास्वादन में इन प्रयोगों के कारण बाधा-सी महसूस होती है, किन्तु इनकी सरलता और स्वाभाविकता के कारण इस काव्य के प्रति कुछ ऐसा प्रलोभन पैदा हो जाता है कि सहृदय का मन नहीं खींचता। पाश्चात्य ढंग के आलोचकों ने इस काव्य को *Erotico-comic* (अर्थात् प्रेम-हास्य-सम्बन्धी) काव्य कहा है और बहुत अंश में *Satiric* (व्यंग्यपूर्ण) कहा है। वस्तुस्थिति ऐसी ही है। हम कह सकते हैं कि कवि को इस काव्य में एक खास ढंग की सफलता मिली है जिसका दूसरा उदाहरण संस्कृत-साहित्य में नहीं है। क्षेमेन्द्र आदि ने भी इसी विषय पर विभिन्न रचनाएँ (समयमातृका आदि) की लेकिन कुट्टनीगत की सफलता अपूर्व है।

वैशिक जीवन का मौलिक वैविध्य इस काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। इस जीवन और कला से सम्बद्ध शास्त्र का निर्माण वात्स्यायन के कामसूत्र (पष्ठ-प्रकरण) और भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र में बहुत पहले हो चुका था। वात्स्यायन ने पष्ठ 'वैशिक-अधिकरण' को बारह प्रकरणों में विभक्त किया — (१) सहाय-गम्यागम्य चिन्ता, (२) गम्यकारण (३) उपावर्तनविधि (४) कान्ता-नुवर्तन, (५) अर्थागमोपाय (६) विरक्तलिंग (७) विरक्तप्रतिसन्धि (८) निष्कासन-प्रकार (९) विगीर्णप्रति सन्धान (१०) लाभविज्ञेय (११) अर्थानर्थानुबन्धसंशयविचार और (१२) वेश्याविनेय।

इन विषयों में से बहुत से कवि ने काव्य की व्यावहारिक भूमि में लाकर उन्हें व्यक्त रूप में समझा दिया है। समाज में वेश्याजीवन के आरम्भ के सम्बन्ध में कोई निश्चित तथ्य प्रस्तुत करना कठिन है। स्वन्दपुराण आदि में वेश्याओं की उत्पत्ति के कथानक मिलते हैं लेकिन उन्हें वैज्ञानिक युग के मान्य तथ्यों के अनुसार अविश्वसनीय समझ लिया जाता है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वैशिक व्यापार, जो मुख्यतः नृत्य-संगीत पर आश्रित माना जाता है स्वयं में निवास करने वाली अप्सराओं के अनुकरण पर यहाँ के विलासिता प्रधान जीवन में आरम्भ हुआ होगा और आगे चल कर इसमें विभिन्न समाजविरोधी वासनात्मक तत्व शामिल होते गए। आचार्य भरत ने वेश्याओं की निम्न और उच्च कोटि की चर्चा में कहा है जो वेश्या कलाओं में अम्मर्यित और रूप-नील-गुणान्विता होती है वह 'गणिवा' इस नाम से अभिहित होकर जनमसद में स्थान प्राप्त करती है—

आभिरम्मर्यिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।

सभते गणिवात्तन्मं स्थानं च जनसंसदि ॥

बुद्धकाल में गणिवाओं के व्यावहारिक जीवन में बहुत कुछ गरीबन हुआ प्रतीत होता है। उनके लिए पालिसाहित्य में 'जनपदवत्याणी' शब्द प्रयुक्त

हुआ है। अस्तु, कुट्टनीमत उन्हीं वेदयाजीवन के समाजविरोधी तत्त्वों को साक्षेतिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसका कवि कथानक के उतार चढ़ाव में नहीं उलझता, बल्कि वस्तुस्थिति को काव्य के ढंग पर प्रस्तुत करने के लिए निरन्तर जागरूक रहता है। यद्यपि यह अपनी प्रवर्तमान प्रतिभा को रोक्कर कथानक में आ जाता है तथापि फिर वही बात ही जाती है। आरम्भ से अन्त तक इस काव्य में वैशिव जीवन के विविध उपादानों का हम मौलिक रूप में उपनिन्दित पाते हैं। कुट्टनी, कुट्टनी के गृह पर स्थित जनममुदाय, कामुक, कामुक का वैभव-विलास, उसके आवर्जन के विभिन्न उपाय, चौर, मातृकलह, परधोषचार, भिन्नमन्धान, वशोक्ति प्रयोग, ललित-प्रयोग आदि आदि। इनके अनिरिक्त वैशिव जीवन में उपस्थित होने पाठे कामुक के विविध चरित्र, वेदयाजी की परस्पर बातचीत, उनका परस्पर ईर्ष्याभाव और कलह ये सब इस काव्य के बहुत ही बंनोदिक प्रसंग हैं।

आचार्यों द्वारा परिगणित काव्य के प्रकारों में कुट्टनीमत को लघुकाव्य या गण्डकाव्य कहा जा सकता है। कथावस्तु की दृष्टि में आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्या-मुद्रांगन' में इसे 'निदगंनकथा' माना है^१। इस काव्य में सूत्रियों की भरमार है और लोकावित्या भी यत्र-तत्र चमत्कारपूर्ण बर गई हैं। एक उदाहरण लीजिए—

कौमारक विहन्तुं रतिसमये मदनसेनाया।

इच्छामि किन्तु तस्या मात्राश्लोच प्रसारित वदनम् ॥३५०॥

फोई विट कहता है कि मैं चाहता हूँ कि रति-समय में मदनसेना के कौमारक (वशासन) का हरण करूँ, लेकिन उसकी माता ने मुझे ज्यादा पैसा दिया है। 'मुझे का ज्यादा पैसा देना' यह वैशिव जीवन का एक प्रयोग था जो अब भी हिन्दी में सुरक्षित है।

जीवन की गहराई तक पहुँचने वाले पद्यों की इस काव्य में कमी नहीं है। शूद्रक के 'मूच्छरटिक' की एक उक्ति में प्रभावित गणिका के मुख में कितना और शिव में रूप में कवि ने प्रस्तुत किया है—

धोषनघापलमेतद् यन्मादुशि बौतुक भवताम्।

यत्तु मुलमनवगोत्र तस्य स्थान निजा दारा ॥४६१॥ ✓

और जहाँ गणिका अपनी ओर में तब उपस्थित करती है—

शीघ्रशये वेहिति दारा अपि नादरेण वरंन्ने।

किमुतादानंकरसा दारोरपणवृत्तयो दारस्य ॥४४१॥ ✓

येऽपि धनशयदोष पश्यन्ति जहा विलासिनोऽस्तेये।

प्रदृष्यारस्ते भवता किमृत्तकणिपुष्पया दारा ॥५०३॥

१. तिररुचामतिरुचां वा वेष्टाभिर्धनं शयंमकार्यं वा निदगोपते तस्यश्च-
त्त्रादिवत् धूर्तवित-नीमत-मयूर-भार्यारिचरुच निदगंनम्।

गणिका के सफल होने के लिए कुट्टनी का सबसे मुख्य उपदेश है कि वह किसी को अपना दिग् न दे बैठे, रागहृत न हो जाय, क्योंकि इसका परिणाम उसके पक्ष में दुरा होता है—

सद्भावजाऽनुरक्ति नं हि पथ्य पण्यनारोगाम् ॥ १

इसलिए वह धनरहित व्यक्ति का तिरस्कार नर दे, अधिक सम्पत्ति वाले पुरुष का गौरव नर दे, क्योंकि उसने रूप का निर्माण ही धन सिद्धि के लिए हुआ है—

अवधोरप धनधिल कु गौरवमकृशसम्पद पुस ।
अस्माद्गं हि मुग्धे घनसिद्धयं रूप निर्माणम् ॥२७८ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि दरिद्र पुरुष में भी दिल में अनुराग करने वाली गणिका नहीं रह जाती, रूपाजीवा होकर भी वसन्तसेना ने दरिद्र सार्यवाहपुत्र चारुदत्त में अनुराग किया और इसी प्रकार के नि स्वार्थ अनुराग का कुट्टनीमत में हारलता और सुन्दरसेन के कथानक के रूप में उज्ज्वल उदाहरण पेश किया गया है, फिर भी इसमें मात्र आदर्श है, आवश्मिकता है। जीवनकाल में रागहृत होने वाली गणिका वय परिणाम में बहुत बर्ष्ट उठाती है, यहाँ तक कि गली-दर-गली भीख मांगती है—

बाल्ये सावद्योग्या पश्चादपि वृद्धभावपरिभूता ।

सारुध्ये रागहृता यदि गणिका भ्रमतु तद् भिक्षाम् ॥ २७९ ॥

हम कह चुके हैं सस्कृत में अन्य कई काव्य ग्रन्थ गणिका जीवन पर स्वतंत्र रूप से लिखे गए हैं। दशरूपको में 'भाण' विशेष रूप से गणिकाओं के जीवन से सम्बद्ध साहित्य है। 'चतुर्भाणी' के नाम से प्रसिद्ध काव्यसंग्रह भाण-साहित्य का उल्लेखनीय निर्माण है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने समयमातृका, देशोपदेश, नर्ममाला और कलाविलास आदि काव्य प्रधान रूप से गणिकाओं के सम्बन्ध में लिखे हैं। इन ग्रन्थों में भारतीय गणिका जीवन के अध्ययन करने वालों के लिए पुष्कल सामग्री विद्यमान है। ये ग्रन्थ सामग्री की दृष्टि से मृच्छकटिक, चतुर्भाणी और कुट्टनीमत से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनके अतिरिक्त जल्हण का मुग्धोपदेश भी एक सफल काव्य है। सस्कृत के महाकाव्या, सप्तशतिका और विभिन्न प्रकार के लघुकाव्या में स्फुट रूप में गणिका जीवन सम्बन्धी पद्य बहुत लिखे गए हैं जो मार्मिक, हृद्य एवं आकल्नीय हैं। इधर एक विद्वान् ने सामग्रिया को विषय की दृष्टि से विभक्त करके चयन के रूप में 'गणिकावृत्तसंग्रह' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है।

कुट्टनीमत के 'काव्यमाला' संस्करण के जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी अनुवाद बहुत पहले हो चुके हैं, साथ ही क्षेमेन्द्र की समयमातृका के भी अनुवाद हो चुके हैं। अध्यापक श्री त्रिदिवनाथराय ने कुट्टनीमत का बंगला अनुवाद 'यमुमती-साहित्य मन्दिर', पल्लवत्ता से प्रकाशित किया है। इसका प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद-

सहित मस्वरण मुख्यतः तनमुखराम त्रिपाठी के बम्बई वाले सस्वरण के आधार पर तैयार किया गया है। हिन्दी अनुवाद में कवि के बक्तव्य को हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार तदनुरूप प्रयोग में उपस्थित करने का प्रयत्न है। भाव के निवारण के लिए उर्दू के प्रचलित प्रयोगों को भी निमकोच भाव से रखा गया है। विशेष कर टिप्पणियाँ में कवि के शास्त्रीय और लोकीय सवैतों को बाँधगम्य बनाने का प्रयत्न है और विषय को सम्बद्ध और स्पष्ट करने के लिए मैंने उर्दू के भाग्य लेखक मिर्जा रसवा (मरहूम) लिखित उपन्यास 'उमराव जान' को यत्र-तत्र उमी रूप में उद्धृत किया है। उमराव जान अदा लखनऊ की एक विदुषी गणिका थी जिसके जीवन की घटना को उमी से सुनकर उगी के शब्दों में मिर्जा रसवा ने यह अनमोल ग्रन्थरत्न प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में भी कुट्टनीमत के समान ही घेराजीवन के शाश्वत तथ्या और विविध उपादानों का काव्यात्मक और व्यावहारिक चित्रण है।

प्रस्तुत हिन्दी मस्वरण में मैंने विभिन्न प्रतियों के पाठ-भेदों को उद्धृत करना इसलिए आवश्यक नहीं समझा कि अब प्रायः तनमुखराम के सस्वरण को बहुत कुछ प्रामाणिकता मिल चुकी है जो इस सस्वरण का आधारभूत है। आवश्यक पाठभेद को मैंने प्रायः नहीं छोड़ा है।

कुट्टनीमत में अनुवाद करते समय यही कही जो मुझे कठिनाई हुई है वहाँ अपनी सीमाशा के कारण तर्कवितर्क प्रस्तुत करना मैंने उचित न समझा। किसी प्रामाणिक व्यक्ति के अभाव में 'सौचितान' का आश्रय लेना पड़ा है और यादों में टिप्पणी में कठिनाइयाँ व्यक्त कर दी हैं। इसके बावजूद मेरा जहाँ तक विद्वानों है यह मस्वरण कुट्टनीमत के स्वरूप तक पहुँचने का एक उपयोगी और अपरिहार्य माध्यम होगा। मुझे प्रमत्ता होगी कि कोई सहृदय विद्वान मेरी त्रुटियों को सशोभन मुझे सूचित करने का कष्ट करेंगे। जहाँ मेरी ग्राही अटकी है, उसके उद्धार का भार विद्वानों पर है।

मैं अपने आदरणीय मित्र श्री रामदास जी भट्टाचार्य का अतिमय अनुगृहीत हूँ जिनके कारण यह कार्य पूरा करने का मुझे अवसर मिला। इसके लिए उन्हें धन्यवाद देना औपचारिकता मात्र होगा। भट्टाचार्य जी ने कामनपुराण के और कुट्टनीमत के वाराणसी वर्णन को बहुत अक्षय में मिलता-जुलता दिता कर मुझे समझूत कर दिया, इस भूवना के लिए उनका मैं उपकृत हूँ। वाराणसी के विश्वनाथ-पुस्तकालय के अध्यक्ष प० श्री कृष्णचन्द्र जी साहित्याचार्य ने अनुग्रह करने तनमुखराम की टीका वाले दुर्लभ सस्वरण का मेरे इस कार्य के लिए बहुत बाल तक सुलभ किया इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। सहृदयों के मेरे अनिष्ट मित्र

श्री सीताराम पाठक ने अनुवाद की पाण्डुलिपि तैयार करने में अपेक्षित सहयोग दिया है, मैं उनका आभारी हूँ।

मैंने इसमें त्रिन टीकाकारों (विशेषरूप से क्षत्रगुंजराम मनपुत्रराम त्रिपाठी), विद्वानों और कवियों के धर्म का उपयोग किया है उनका मैं ऋणी हूँ।

डालटनगज (पलामू)

जगन्नाथ पाठक

२—९—६१

अवधीर्य दोपनिचय गुणलेशे सनिवेश्य मतिमार्या ।

कुट्टन्या मतमेतद्दामोदरगुप्तविरचित शृणुत ॥२॥

सज्जनो, आप अवगुणा पर ध्यान न देखर एर गुण का लेश जहाँ कहा भी हो उसमें अपनी मति को प्रवृत्त कर दामोदर गुप्त द्वारा विरचित 'कुट्टनी' के मत' (उपदेश) रूप इस काव्य को सुनें ॥२॥

अस्ति खलु निखिलभूतलभूपणभूता विभूतिगुणयुक्ता ।

युक्ताभियुक्तजनता नगरी वाराणसी नाम ॥३॥

समस्त भू-मण्डल की अलङ्कारभूता, पेश्वर्य के गुणा में युक्त, ब्रह्मजानो धर विद्वानों से सेवित वाराणसी नाम की नगरी है ॥३॥

अनुभवतामपि यस्यानुपभोगान्कामत. शरीरवताम् ।

शशधरखण्डविभूषितदेहलय. किल न दुष्प्राप. ॥४॥

जिस नगरी में शरीरधारी आसक्तिपूर्वक समग्र उपभोगों का अनुभव करत है तथापि उन्हें चन्द्र-खण्ड से विभूषित शरीर (अर्थात् भगवान् शङ्कर) में लीन होना दुर्लभ नहीं है ॥४॥

चन्द्रविभूषितदेहा भूतिरता सद्ब्रुजगपरिवारा. ।

वारस्त्रियोपि यस्या पशुपतितनुतुल्यता याता. ॥५॥

१-'कुट्टयति स्त्रीणा शील या सा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मध्यस्थ होकर पराई स्त्रियों का पर पुरुषों के साथ सयोजन करके शीलहरण करती है वह या 'कुट्टनी' कहलाती है, सम्भवत यह प्रचलित देश्य शब्द है। कुट्टनी का दूसरा पर्याय 'शम्भली' है, अर्थात् सुध की, मज्जे की वात करने वाली नारी (श सुध भलते)। पाठान्तर के अनुसार इस काव्य को 'शम्भली मत' भी कहते हैं। माधवी, रङ्गमाता, अञ्जनी, कुम्भदासी, गणेशका, रतताली, चुन्दी, समयमातृका आदि भी कुट्टनी के पर्यायवाची शब्द-कोशों में और यत्र-तत्र काव्यों में प्रयुक्त मिलते हैं।

२-वाराणसी के सम्बन्ध में यह धार्मिक विश्वास बहुत प्राचीन-काल से इस देश में प्रचलित है कि यहाँ के निवासी सशरीर स्वर्ग अथवा मुक्ति का लाभ करते हैं तथा मृत्यु के बाद भगवान् शिव में लीन हो जाते हैं। कवि ने इसी प्रचलित धार्मिक मान्यता को इस अर्थात् उपनिषद् किया है।

चन्द्र से विभूषित शरीर वाली, भूमि में रत, भुजङ्गों के परिवार से युक्त वारम्भियाँ भी जहाँ शिव जी का देह का सादृश्य लाभ करती हैं^१ ॥५॥

अतितुङ्गसुरनिकेतनशिखरसमुत्क्षिप्तपवनचलिताभिः ।

मजरितमिव विराजति यत्र नभो वैजयन्तीभिः ॥६॥

जहाँ बहुत ऊँचे देव-मन्दिरों के शिखरों पर पहराड़ हुई और हवा से लहरानी हुई वैजयन्तियों (पताकाओं) ने आकाश मजरित हुआ जैसा शोभित होता है ॥६॥

अविरतसंचरदवलाचरणतलालक्तकरुद्रवारुणितम् ।

स्थलकमलवतीलक्ष्मी विभर्ति वसुधातल यत्र ॥७॥

जहाँ पृथ्वीतल निरन्तर चलती-फिरती हुई अनलाया के चरण-तलों के आगता के द्रव में अरुणित होकर स्थल कमलों की चमिका की शोभा धारण करता है ॥७॥

यत्र च रमणीभूपणरववधिरितसकलदिङ्मनभोभागे ।

शिष्याणां नाचार्यैरवद्यमवधार्यते पठताम् ॥८॥

और जहाँ रमणियों के गहनों की आवाज से समस्त दिग्भाग और आकाश इस प्रकार भर जाते हैं कि आचार्यजन गलत उच्चारण करते हुए अपने शिष्यों का धारण नहीं कर पाते^२ ॥८॥

दिव्यधराधरभूरिव या राजति मत्तवारणोपेता ।

बहुलनिशीथवतीव प्रोज्ज्वलधिष्णोपशोभिता या च ॥९॥

जो नगरी विन्ध्य पर्वत की वन-भूमि के समान शोभित है, विन्ध्याचल की वन-भूमि मतवाले हाथियों (मत्तवारणों) ने भरी है और यह मत्तवारणों अर्थात्

१-शिव जी की देह चन्द्र के विभूषित है, धरयायें 'चन्द्र' नाम के अलंकार से विभूषित देह वाली है, शिव भूत अर्थात् भग्न रमाते है, धरयायें भूति अर्थात् देवदेव में रत रहा करती है, शिव के शरीर में भुजङ्गों (सर्पों) का परिवार पड़ा रहता है, धरया के यहाँ भुजङ्गों (किंगों) का जन्मघट रहता है।

२-इस प्रसङ्ग में 'वामन पुराण' अध्याय तीस के वाराणसी-वर्णन की शब्द-धारा और अलंकारों की दृष्टि में समता देण कर आरुच्य होता है। सम्भव है कुट्टनीमत के रचयिता ने विष्णु-चन्द्र में परिवर्तन करके उम्मी प्रथम को ले लिया है। उदाहरण के लिए यह श्लोक पढ़ाएँ-
विस्तारविर्गानी रशनास्वनेन, श्रुतिस्वरो माक्षण पुञ्जयानाम् ।
शुचिस्वरत्न गुरयो निराग्य हास्याग्निताः सन्नि मुहुर्मुहुस्ताः ॥२१॥
(इस मूल्या के लिए मैं अपने बहुधृत मित्र श्री राम शरर भट्टाचार्य का अनुग्रहित हूँ।)

विस्तारविर्गानी रशनास्वनेन, श्रुतिस्वरो माक्षण पुञ्जयानाम् ।

शुचिस्वरत्न गुरयो निराग्य हास्याग्निताः सन्नि मुहुर्मुहुस्ताः ॥२१॥

(इस मूल्या के लिए मैं अपने बहुधृत मित्र श्री राम शरर भट्टाचार्य का अनुग्रहित हूँ।)

छन्दों से युक्त है तथा जो दृष्ट्यन्त को रात्रि के समान शोभित है, रात्रि चमत्कामते हुए गन्तव्य में और यह दीप्यमान भवनों से जगर भगर बर रहा है ॥६॥

यतिगणगुणसमुपेता या नित्य छन्दसामिव प्रचितिः ।

वनपक्तिरिव सशाला तुरुष्कसेनेव बहुलगन्धर्वा ॥१०॥

जो नगरी छन्दों की प्रचिति (छन्दःशास्त्र) के समान है, छन्दों की प्रचिति यतियों (पाद विच्छेद के लयानुसूल स्थलों), गणों (जगर-भगर आदि गणों) से (समुचित स्थानों में उपांग आदि) गुणों से युक्त है और यह यति-गणों (सन्त-भटात्माओं आदि) के गुणों (शान्ति आदि गुणों) से युक्त है। जो नगरी वनपक्ति के समान है, वनपक्ति शाल नामक वृक्षों से युक्त है और यह शालाओं (भवनों) से युक्त है, एव तुरुष्कों अर्थात् तुरों की सेना के समान है, तुरुष्क-सेना में बहुत से गन्धर्व अर्थात् घोड़े होते हैं और यह गन्धर्व अर्थात् गायक जना वा वादक्य है ॥१०॥

तारागणोऽकुलीनः प्रियदोषा यत्र कौशिका. सततम् ।

गद्ये वृत्तच्यवन परगृहरोधस्तथाऽक्षेपु ॥११॥

जहा (सब लोग कुलीन अर्थात् खानदानों हैं) केवल तारागण अकुलीन (कु = पृथ्वी, पृथ्वी में लीन गार्थित नहीं) है। जहां (कोई दोषों = बुराइयों में प्रेम करने वाला नहा है) केवल उल्लूक पत्नी (कौशिक) दोषा (रात्रि) के सतत प्रेमी हैं। (जहा कोई व्यक्ति वृत्त अर्थात् सदाचार का भङ्ग नहीं करता) केवल गद्य में वृत्त (= छन्द) का भग होता है। तथा जहां दूसरों के घर पर कोई रोध या रोक नहीं लगता; केवल अक्षमौडियों (पासा फेंक कर जुआ के खेलों) में दूसरों के गृह अर्थात् घरों, साने का रोध होता है ॥११॥

शूलभृतो व्यालस्थाः पदवेदिषु यत्र धालुवादित्वम् ।

सुरतेष्ववलाक्रमणं दानच्छेदो मदच्युतौ करिणाम् ॥१२॥

ध्यानी लोग जहा शूल (निशल) धारण करते हैं (न कि कोई शूल रोग धारण करता है)। जहा केवल वैयाकरण लोग नू आदि धातुओं के सम्बन्ध में विवाद करते हैं (कोई भी वहा स्वर्ण आदि धातुओं के सम्बन्ध में वाद-विवाद नहीं करता)। जहा केवल सुरत के प्रसङ्गों में अग्रलाएँ आक्रान्त होती हैं (न कि कोई बल के अभिमान में अचलों-निर्बलों पर आक्रमण करता है)। जहा मद के उतर जाने पर केवल हाथियों के दान (मदजल) का भङ्ग होता है (न कि कोई दान-कार्य को भग करता है) ॥१२॥

तीव्रकरत्वं भानोरविवेको यत्र मित्रहृदयानाम् ।
योगिषु दण्डग्रहणं संधिच्छेदः प्रगृह्येषु ॥१३॥

जहा केवल स्वर्ग के फर (निरखें) तीव्र (तीव्र) हाते हैं (न कि राजा के फर = देय भाग तीव्र अर्थात् ज्यादा होते हैं) । केवल मित्रजनों के हृदयों के सम्बन्ध में प्रियेय (जिसी प्रकार का भेदभाव) नहीं है (पर लोगो में प्रियेय या विचार है) । जहा केवल योगी लोग दण्ड ग्रहण (यष्टिधारण) करते हैं (न कि निरपराध प्रजाजन कोई दण्ड प्राप्त करते हैं) । जहा केवल प्रगृह्या (संस्कृत व्याकरण के प्रगृह्य सत्रा वाले शब्दों) में सन्धि (यण् आदि सन्धि) का भग होता है (न चोरों द्वारा सन्धिच्छेद अर्थात् घरा में संध का भारना होता है, न लोगों में मैत्री का भग होता है) ॥१३॥

छन्दःप्रस्तारविधौ गुरवो यस्यामनार्जवस्थितयः ।

वीणायां परिव्रादो द्विजनिलयेष्वप्रसन्नत्वम् ॥१४॥

छन्दों की प्रस्तार विधि (लघु, गुरु वर्णों के जानने में निमित्त बनाए गए विधान) में केवल गुरु (गुरु वर्ण) जहां अनाजर्जन ऋजुतारहित, ऽश्च प्रकार की टेढ़ी स्थिति में रहते हैं (परन्तु वहा के निगामी आर्णव-मृदुता-धरते हैं) । वीणा में ही जहा केवल परिव्राद (वीणा बजाने का अगृहीतुमा तम, मित्रराज) होता है (परन्तु लोगों में परिव्राद अर्थात् अयमाद-निन्द्या नहीं होता) । जहा केवल ब्राह्मणों के घरों में अप्रसन्नता (अर्थात् प्रसन्न = भदिरा का अभाव) रहती है (न कि किसी में अप्रसन्नता दिग्वादे देती है) ॥१४॥

अनुरूपवृत्तघटना सत्कविकृतरूपकेषु लोके च ।

रमणीवचने यस्यां माधुर्यं काव्यबन्धे च ॥१५॥

जहां सन्कन्या द्वारा रचित रूपकों (दृश्यराज्या) में अनुरूप वृत्तों की घना अर्थात् अनुसार्थ के चरित्रों के अनुरूप अभिनय होता है और लोगों में अनुरूप वृत्त घटना अर्थात् एक रूप व्यवहार होता है । और जहा माधुर्य (मिठास, अथवा माधुर्य नामक गुण) रमणियों के वचन में और काव्य में होता है ॥१५॥

यस्यामुपवनवीथ्या तमालपत्राणि युवतिवदने च ।

नखरप्रहाररणितं तन्त्रीवाद्येषु सुरतकलहेषु ॥१६॥

जहाँ तमालपत्र (सतौने के पत्ते अथवा मकरिसा के किलक चित्र) उपवन की वीथि में और युवतियों के मुग्ध में रहने हैं । नखा के प्रहार की आवाज वीणा आदि तन्त्री वाद्य और मुग्ध के कलह दोनों में होती है ॥१६॥

नन्दनवनाभिरामा विबुधवती नाववाहिनीशुष्टा ।

अमरावतीव यान्या विरवसृजा निर्मिता जगति ॥१७॥

इन्द्र की नगरी अमरावती जिस प्रकार नन्दन वन से अभिराम, विबुधा (देवताओं) से अशुषित, नाकनाहिनी (देवीतेजा) से सेवित है उसी प्रकार जो नगरी आनन्दप्रद वना से अभिराम, विबुधा (विद्वानों) से अशुषित, नाकनाहिनी (स्वर्ग की नदी गङ्गा) से सेवित होने से विधाता के द्वारा समस्त म माना दूसरी अमरावती रना दो गई है ॥१७॥

समुवास वाररामा मानसवसते शरीरिणी शक्ति ।

नि शोपवेशयोविद्विभूषण मालती नाम ॥२०॥

उस वाराणसी में मनसिज की शरीर धारिणी शक्ति रूप में समस्त वेश्याओं में भूषण ही मालती नाम की एक वाराणसी^१ निवास करती थी ॥२०॥

तस्या खगपतितनुरिव विलासिनी हृदयशोकसजननी ।

आकृष्टेश्वरहृदया प्रालेयनगाविराजतनयेव ॥२८॥

जिस प्रकार गड्ड की देह को देख कर विलासियों (निल में निवास करने वालों अर्थात् सर्पों) के हृदय में शोक उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार उसे देख-कर विलासी जनों (वासुदों) का हृदय शोक-सतत हो जाता है । जिस प्रकार, हिमालय की पुत्री पार्वती ने ईश्वर (शिव जी) के हृदय को आकृष्ट कर लिया था उसी प्रकार उसने भी ईश्वर (धनेश्वरों) के हृदय आकृष्ट कर लिये थे ॥२८॥

ससक्तभोगिनेना मन्दरधरणीमृतो यथा मूर्तिः ।

उपरि गता शूलानामन्धासुरगानुलेखेव ॥२९॥

(समुद्र के मथन के समय जिस प्रकार मन्दराचल भोगी (सर्प, वासुकि नाग) रूप नेत्र (मथन की डोर) से ससक्त (बधा) था, उसी प्रकार भोगी (विलासी) जनों के नेत्र उसके प्रति ससक्त रहते थे । जिस प्रकार अधवासुर की मात्र लेखा शूलों (शिव जी के तीनों शूलों वाले आमुष) के ऊपर स्थानित थी, उसी प्रकार वह शूलानु (वेश्याओं) की मिरमौर थी ॥२९॥

१-यार अर्थात् समूह की स्त्री । गणिका, बेरया, ह्वानीया आदि शब्द भी उनके पर्यायवाची हैं । इसके अतिरिक्त प्रकारान्तरी, वेश्यापित्त, सडित्, जन-पद कल्याणी आदि शब्द भी वेश्या के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । ये सब अभिधान सार्थक हैं । वेश्यायै निम पर या मुहाल म निवास करती है उसे 'वेश' कहते हैं (वेशो वेश्याजनाश्रय - अमर) 'गणिका' भी गण या समूह वाली स्त्री कहलाती है । 'रूपा जीया' अर्थात् रूप के द्वारा जीविना चलाने वाली स्त्री । वेश्या को 'परण नारा' अर्थात् वाजारु स्त्री भी कहते हैं, अर्थात् जो परण या विनय की वस्तु होती है ।

पेशलवचसा वसतिर्लीलानामाकर. स्थिति. प्रेम्णा. ।

भूमि. परिहासानामावसथो वक्रकथितानाम् ॥२१॥

वह थी सुन्दर वचनों की वसति, लीलाओं का आलय, प्रेम की स्थिति, परिहासा^१ की भूमि और वक्रकथियों^२ का निवास-स्थान ॥२१॥

सा शुश्राव कदाचिद्धवलालयपृष्ठदेशमविस्टा ।

केनापि गीयमाना प्रसङ्गपतितामिमामार्याम् ॥२२॥

किसी समय जब वह अपने उज्ज्वल भवन की छत पर बैठी हुई थी तभी उसने किसी के द्वारा अनसर पर गार्डे जाता हुई प्रसङ्ग प्राप्त इस आर्या की मुना ॥२२॥

‘योवनसौन्दर्यमद दूरेणापास्य वारवनिताभि. ।

यज्ञेन वेदितव्या. कामुकहृदयार्जनोपाया.’ ॥२३॥

“अपने यौवन और कमनायता के मद को दूर ही म तज कर वेण्याओं की नामों के हृदय आकर्षित करने के उपाय मालूम करने चाहिएँ।” ॥२३॥

श्रुत्वाय विपुलजघना मनसि मालती चकार चिरम् ।

अतिसाम्प्रतमुपदिष्ट सुहृदेवानेन साधुना पठता ॥२४॥

गिराल जघनों वाली इस मालती आया को सुन कर देर तक मन म यह गुनती रही कि आर्या को पढ़ते हुए इस मले आदमी ने मिन की तरह ठीक गीने पर उपदेश दिया है ॥२४॥

१- इसी मन्त्राक की धातुचीन को ‘परिहास’ कहते हैं। ‘आर्या ममशती’ में गोवर्धन लिखते हैं -

अन्यमुने दुर्वादो य प्रियमचने स एव परिहासः ।

इतरन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरभवो धूपः ॥१२॥

अर्थात् दूसरे के मुख से जो ‘दबैचन’ कह जाता है वही अगर प्रिय के मुख से निकले तो ‘परिहास’ की आख्या ग्रहण करता है ।

२-स्त्रीधो ढंग से न कह कर घुमा कर कही गई धातु को ‘वक्रोक्ति’ कहते हैं । किसी धातु को काव्यात्मक ढंग से कहने की शैली चमत्कार उत्पन्न करती है, अतः इसके काव्य का प्राण कहा है (वक्रोक्ति काव्यचक्रितम्) । इस शैली को उक्त में ‘अनाजैवर्या’ कहते हैं ।

तद्गत्वा पृच्छामो विकराला कलितसकलससाराम् ।

यस्या. कामिजनोषो दिवानिश द्वारमध्यास्ते ॥२५॥

तो ससार के वृत्तान्ता को जानने वाली उस विकराला से जाकर पूछती हूँ, उसके द्वार पर रात-दिन कामुक जनों की भीड़ लगी रहती है ॥२५॥

इति मनसि सा निवेश्य द्रुततरमवतीर्य वैश्मन. शिखरात् ।

विकरालाभवनवर परिजनपरिवारिता प्रययो ॥२६॥

इत प्रणर मन म सोच, भवन के शिखर से कट उतर, परिजनों स धिरी वह विकराला व धर गई ॥२६॥

अथ विरलोनतदशना निम्नहनु स्थूलचिपिटनासाग्राम् ।

उल्वणचूचुकलक्षितशुष्ककुचस्थानशिथिलकृत्तितनुम् ॥२७॥

मालती ने आलन्दी (गहदार आसन) पर बैठी हुई विकराला को देता । उसके दाँत प्राय गिर गए थे और आँखों के उंचे हुए दाँत मुँह में बाहर निकल आए थे, टुट्टी भुकी हुई थी, नाक का अग्र भाग मोग और चिपका हुआ था, उँचे उँचे चुचुकों से उसके सूखे हुए लता का पता लगता था, जिनके स्थान का चर्म भूला रहा था ॥२७॥

गम्भीरारक्तदश निभूषणलम्बकर्णपाली च ।

कतिपयपाण्डुरचिकुरा प्रकटशिरासन्ततायतग्रीवाम् ॥२८॥

उसकी आँखें भीतर बसी हुई और लाल-लाल थीं । उसके कानों की ललकी भूषणहीन और लम्बी थी । कतिपय केश पक गए थे । ग्रीवा साफ दिग्गई पड़ती ननों से बरी और अधिक पैली हुई थी ॥२८॥

सितधोत्तवसनयुगला विविधौषधिमणिसनाथगलसूत्राम् ।

तन्वीमगुलिमूले तपनीयमयी च बालिका दधतीम् ॥२९॥

उसके दोनों वस्त्र उज्ज्वल और धुले हुए थे । उसने अनेक प्रकार की औषधियों और मणियों से बना गल सूत्र तारीच के रूप में डाल रखा था तथा वह अङ्गुलिमूल में सोने की रानी पतली मुदरी पहने थी ॥२९॥

१-आचार्य सेमेन्द्र ने भी 'समयमात्रवा' से ठीक इससे मिलना-जुलना कुट्टनी का चित्त रखा है—

अस्थियन्नशिरासन्त्री लीनान्योदरदृत्तिका ।

शुष्ककार्येयकरङ्गाङ्गातेव कटपूतना ॥

गणिकागणपरिकरिता कामिजनोपायनप्रसक्तदृशम् ।

आसन्द्यामासीना विलोकयामास विकरालाम् ॥३०॥

यह गणिकाओं में खिरी थी । उसकी आँखें कामुकजनों द्वारा शरित उन्-
हारीं में लगी हुई थीं ॥३०॥

अवलोक्य सा विधाय क्षितिमडललीनमोलिना प्रणतिम् ।

परिपृष्टकुशलवार्ता समनुजातासन भेजे ॥३१॥

मालती ने विकराला को जमीन पर गिर रख कर प्रणाम किया । विकराला
ने कुशलक्षेम पूछा । फिर मालती ने विकराला की आज्ञा में आसन ग्रहण
किया ॥३१॥

अथ निरचितहस्तपुटा मप्रश्रयमासन समुत्सृज्य ।

इदमूचे विकरालामवसरमासाद्य मालती वचनम् ॥३२॥

तब मालती अवसर पाकर अपने आसन को छोड़, हाथ जोड़, नियत-
पूर्वक विकराला में बोली ॥३२॥

विदधासि हरिमकोस्तुभमहरि हरिमगजनाथममरेन्द्रम् ।

अद्रविण द्रविणपति नियतं मतिगोचरे पतितम् ॥३३॥

निश्चय ही तुम्हारे बुद्धिजाल में आकर पड़े हरि अपने सान्भुभ रत्न को,
सूर्य अपने रथ के घोड़ों से, इन्द्र अपने पंगवों का शीर कुंवर अपने धन का
रत्न बैठने हैं ॥३३॥

अयमेव बुद्धिविभ्रत हतनिभवस्ते पटच्चरावरण ।

यामुकनोकः कथयति सत्रागारेषु भुजान् ॥३४॥

यहाँ कामुग जब अपने विभव के (तुम्हारे द्वारा) हट लिए जाने में इन्-

बहन्ती मुग्धुच्छिद्र शरीरं चर्मधननम् ।

सन्नेगतजगद्ग्राजशिक्षाशान्निपथगम् ॥

मुग्धपृष्टदृष्टासौमिदराना भीषणाहतिः ।

प्रगतपरपरोत्त मंस्थिताम्बिरता गुनी ॥

उलकन्दना परम्पीसा मार्जारलोचना ।

निमिता प्राणिनामङ्गलिनि नित्वापिगोधिनाम् ॥

(चतुर्थं ममय)

पुराने यत्र से तन दक्ष कर अन्न के क्षेत्रों (सत्नागारा)^१ में भोजन करते हुए तुम्हारे बुद्धिभिन्न की प्रशंसा करते हैं ॥३४॥

उपसहृतान्यकर्मा धनत्रमा नर्मदात्रिभुगलस्य ।

सकलसमर्पितसपद्यदुपेत पादपीठत्वम् ॥३५॥

जो कि धनवर्मा अपने काम-नाज छोड़ एव घर की सारी सम्पत्ति को अर्पित कर नर्मदा (नाम की गणिका) के दोनों चरणों का 'पादपीठ'^२ बन चुका है ॥३५॥

यदुपगतो नयदत्त सागरदत्तस्य मध्यम. पुन. ।

प्रीणाति मदनसेना विधाय पितृमन्दिर रिक्तम् ॥३६॥

जो कि सागरदत्त का भक्तला लड्डा नयदत्त पिता का धर मना करके मदनसेना का खुशामद करता है ॥३६॥ ,

यल्लोलार्पितचरणौ मजर्या भट्टपुत्रनरसिंह. ।

परितोष व्रजति पर मृदु मृदून्पाणियुगलेन ॥३७॥

जो कि भट्ट का पुत्र नरसिंह मज्जरी के लीला से अर्पित चरणों को अपने हाथों में धीरे धीरे सहलाता हुआ परितोष का अनुभव करता है ॥३७॥

यत्त्रि.शेषितविभवो दीक्षितभवदेवपुत्रशुभदेव. ।

निर्भरिसंतोऽपि नोज्झति केशवसेनागृहद्वारम् ॥३८॥

जो कि भवदक्ष दीक्षित का लड्डा शुभदेव अन्ना धन दौलत फक कर टूटकर जाने पर भी केशवसेना का दरवाजा नहीं छोड़ता ॥३८॥

अन्या अपि कामिजन साधारणयोपितो यदाक्रम्य ।

विदधति कर्पटशेष विलसितमेतत्तवोपदेशानाम् ३९॥

जो कि बाजारू श्रौतों भी कामुवजनों को पाँचकर उन्हें कर्पटशेष (सिर्फ तन ढरुने का कपड़ा भर शरीर पर रचा हुआ) कर डालती हैं यह सब तुम्हारे उपदेशों का ही चमत्कार है ॥३९॥

१-सत्नागारा-सुप्त भोजन मिलने का क्षेत्र, पञ्चान्नदानशाला । आजकल इस प्रकार के दान के लिए 'मद्रावत' प्रचलित है । जराणसी जैसे क्षेत्रों के लिए प्रसिद्ध है ।

२-पादपीठ-एक प्रकार की चौकीनुमा गुलगुल सचिया । यह पलंग के नीचे रखी जाती थी । कामक छपना सारी सम्पत्ति गणिका को समर्पित करके उसका पादपीठ बन चुका है । अर्थात् पलंग पर अब उसके साथ बैठन के कार्यालय नहीं रहा, बल्कि वह पादपीठ के स्थान पर पड़ा रहता है ।

हीनान्वयजन्मानो गुणहीना रोगिणो निराकृतयः ।

उपसेविता मयापि प्रकटीकृतरागसौष्ठवं पुरुषाः ॥४०॥ -

मैंने भी नीच कुल में जनमे, गुणहीन, रोगी और बदसूरत पुरुषों की मेवा प्रेम का दिरारा करके की है ॥४०॥

मातः किं विदधामो हृतधातुर्वामिताभियोगेन ।

नासादयाम इष्टं निजतनुपण्यप्रसारकेणापि ॥४१॥

हे माता, क्या करें, मुझे विधाता की ऐसी उल्टी चाल है कि अपनी देह को याजार में (बिनी के लिए) सजाने पर भी हमें इष्ट का लाभ नहीं होता ॥४१॥

तत्कुरु मातरनुग्रहममिधत्स्व ममापि देहिनो भोग्यान् ।

तेषां च वेशचेष्टितमनसिजशरजालपातनोपायान् ॥४२॥

तो हे माता, मुझ पर अनुग्रह करो, मेरे भी योग्य पुरुषों को तथा उनके वेश और आचरण एवं कामदेव के बाणों के जाल में उन्हें गिराने के उपाय बनाओ ॥४२॥

इति गिरमुदीरयन्ती सप्रेमामृश्य पाणिना पृष्ठे ।

रुचिरवचो विकराला रुचिराकृतिमालतीमूचे ॥४३॥

तब विकराला मनोहर आदृति वाली मालती से प्रेमप्रबंध उसकी पीठ माला करके बोली ॥४३॥

अयमेव दह्यमानस्मरनिगंतधूमवर्तिकाकारः ।

चिकुरभरस्तव सुन्दरि कामिजन किकरीकुरुते ॥४४॥'

"सुन्दरी, जलते हुए कामदेव के शरीर से निकली हुई धूमलेगा की आकार वाला तेरा यही पेशमार कामुजजन को धरना दाम बना लेना है ॥४४॥

अयमेव ते कृशोदरि मन्दोलमितभ्रुविभ्रमाधारः ।

अधरीकरोति धीरान्मधुरस्मितसुभगवीक्षितविशेषः ॥४५॥

हे क्षीण उदर वाली, हे कुछ उल्लगित मीठी बानी, शृङ्गार चेष्टाओं में भरी, मीठी मुस्मान के साथ एक गाम दग की तेरी मोक्ष चितवन धीर-जनों को भी भुका देती है ॥४५॥

इयमेव दशनकांती रतिकान्ताकूतमतितरां कुस्ते ।

श्रुतिपथमप्युपयाता नियतं तव कामिना मनसि ॥४६॥

यही तेरे मुरा की कान्ति की क्या ध्वन करके वामुक्जन मदनबुल हो जाते हैं (दिखने के बाद की स्थिति क्या होगी, पता नहीं) ॥४६॥

इयमेव दशनपंत्ती रुचिराचिरवान्तिधाम समकांतिः ।

उत्पादयति नितान्त तव मन्मथदाहवेदनां पुंसाम् ॥४७॥

सुन्दर गिजली की लड़ी के समान कान्ति वाली यही तेरी दन्तपथि पुरुषों की वामजनित दाहवेदना को अधिन-अधिन उत्पन्न करती है ॥४७॥

इदमेव समुल्लपितं लीलावति विजितपरमूतध्वनितम् ।

तव नि.शेषभुजंगव्याकर्षणसिद्धमंत्र उच्चरितः ॥४८॥

हे लीलाओं वाली, कोकिल के म्वर का पगाजित कर देने वाली यही तेरी आवाज समस्त भुजंगों (सर्पों, श्लेष से विटजनों) को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उच्चरित सिद्ध मंत्र है ॥४८॥

इदमेव मकारकेतननिकेतनं स्तनयुगं तवाभोगि ।

भोगवति भोगसाधनमपरोपायग्रहा व्यर्थः ॥४९॥

हे विलासशीले, रामदेव का निवासभूत यही तेरा विशाल स्तनयुगल सुलों का साधन है, अत्र दूसरे उपायों को ग्रहण करना व्यर्थ है ॥४९॥

इदमेव बाहुयुगल मृणालतनुसुन्दरं तवाभोगि ।

कस्य न जनयति मदनं कनकाङ्गदभूषण सुतनु ॥५०॥

हे श्रेष्ठ जाणों वाली, हे सतनु, कमलनाल की भांति कौमल, बलयधारी यही तेरा बाहुयुगल उसके काम को उत्पन्न नहीं करता ? ॥५०॥

अयमेव मध्यदेश कन्दपदिशकरणचतुरस्ते ।

प्रकृशोऽपि शरीरवतो दशमी प्रापयति मन्मथावस्थाम् ॥५१॥

कामदेव की आशा के पालन में चतुर यही तेरा कटिभाग अधिष्ठ क्षीण होकर भी शरीरधारी को काम की दशम अवस्था (अर्थात् मृत्यु) तक पहुँचा देता है ॥५१॥

१-अर्थात् जिस प्रकार आहिनुण्डिक या सपेरा मन्त्रोच्चारण के द्वारा सर्पों को आकृष्ट कर लेता है उसी प्रकार यह तेरी आवाज़ विटजनों को आकृष्ट कर लेती है ।

इयमेव रोमराजिः सकल्पजचापयष्टिगुणशोभाम् ।
दधती विदधाति तव स्मरसायकशल्यविक्ष्वान्यूनः ॥५२॥

नामदेव की चापयष्टि के गुण (डोरी) की शोभा धारण करती हुई यही तेरी रोमपति जवाना को नामदेव के बाणों से त्रासुल कर डालता है ॥५२॥

इदमेव च पृथुजघन कलघोतशिलातलाभिरमणीयम् ।
तव तरुणि वशीकरण यतिसयतिनाशकारि करभोरु ॥५३॥

हे करभ (हाथ या रानीनिका की ग्रौर का हथेली का किनारा या सूट) के समान ऊँच गली, गुबर्ण के शिलातल की भाँति रमणीय पर विशाल यही तेरा जघन जवाना का वशीकरण ग्रौर यतिजना के समय को भंग करने वाला है ॥५३॥

इदमेव तवोर्युग रम्भास्तम्भोपम मनोहारि ।
वद सुन्दरि नाभिमत मदनज्वरशान्तये कस्य ॥५४॥

हे सुन्दरी, तू ही वह केले के रम्भे-जैसा, मन को हर लेने वाला यह तेरा ऊरुयुगल कामन्दर के ताप के शमनार्थ किसे अभीष्ट नहीं है ? ॥५४॥

यौवनकल्पतरुस्ते कनकलताविभ्रम सुवृत्तमिदम् ।
जघायुगल नेच्छति कामफलप्राप्तये क इह ॥५५॥

तेरे यौवनरूपी कल्पवृक्ष की कनकलता रूप यह फले हुए तेरे जघायुगल को यहाँ काम रूप फल की प्राप्ति के लिए कौन नहा चाहता ? ॥५५॥

निर्जितदाडिभराग विजितस्थलकमलिनीविलासमिदम् ।
तव चरणसरोजयुग कस्य न मानसमलकुस्ते ॥५६॥

हे तरुणी, दाडिम की लाली को जीत लेने वाला एव स्थलकमलिनी के विलास को पराजित कर देने वाला यह तेरा चरणयुगल किसके मन को अलङ्कृत नहीं करता ? (अर्थात् सच तेरे चरणों को अपने मन में धारण करते हैं, नित्य स्मरण करते हैं) ॥५६॥

२-५३ से ५५ तक के तीन पद्यों में जघन, ऊरुयुग और जघा द्वय का वर्णन है। 'जघन' स्त्री का वागीपद (करधानी पहनने का स्थान) होता है, अर्थात् जो कटि या कमर नीचे पुरोवर्ता प्रदेश है वह 'जघन' कहलाता है। 'ऊरु' पैर के मोड़ वाले स्थान के ऊपर का भाग है और उससे नीचे का गुल्फ पर्यन्त भाग जघा कहलाता है।

ह्लेपयति वारणेन्द्र हस हसति प्रयातमिदमेव ।

तव लीलावति ललित यूना हृदयानि मथ्नाति ॥५७॥

हे लीलावती वाली, यही तेरा गमन ऐरावत की लज्जित करता है, हस की सिल्ली उडाता है और बाना के हृदय को मग डालता है ॥५७॥

तदपि यदि ते कुतूहलमवधान सविधाय तनुमध्ये ।

आकर्णय कथयामि स्वबुद्धिविभवानुसारेण ॥५८॥

रे क्षीण रुद्रिभाग वाली, तथापि यदि तुझे कुतूहल है तो ध्यान देकर मुन, मैं अपनी बुद्धि के विभव के अनुसार कहती हूँ ॥५८॥

स्वीकृत ज्ञावत्प्रथमं नृपसेवकभट्टसूनमतिवलात् ।

स्वाधोनामतिविपुला यदि सम्पदमीहसे सुतनु ॥५९॥

हे सुतनु, यदि तू अतुल धन-सम्पदा को हस्तगत करना चाहती है तो पहले राजकर्मचारी भट्ट के लड़के को कोशिश करके अपना ले ॥५९॥

प्रत्यासन्नग्रामे स्वयं प्रभु पितरि नित्यकटकस्थे ।

भट्टसुतरिचन्तामणिराकृष्टो भवति नियमेन ॥६०॥

(उसका) पिता भट्ट हमेशा राजा की छावनी में रहा करता है और वह नज़दीक के गाँव में खुद मालिक बन गया है, (इसलिए) बेटी, भट्ट पुत्र रूपी चिन्तामणि निश्चय ही सित्त आयेगा^१ ॥६०॥

शृणु तस्य चारुहासिनि वेपप्रहण च चेष्टित चैव ।

निपतति स यथा तूर्णं प्रियसुरभिकुसुमशरासनप्रसरे ॥६१॥

हे सुन्दर हसने वाली, जिससे कि वह भट्टपुत्र शान ही वसन्त के सरसा कामदेव के धनुष के झोके में आ गिरेगा, उसके वेप और आचरण कहती हूँ, मुन ॥६१॥

स्थूलस्थापितचूलकमचागुलमानकेशविन्यासः ।

लम्बश्रवणनिवेशितकरपत्रकघटितदन्तपक्तिश्च ॥६३॥ २

उसने अपने सिर की घोटी को मोठी और लम्बी करके रखा है, उसके बाल परिमाण में पाच उगली मरके हैं और अपने लम्बे कानों पर कर्णपत्र

१-विकराला का तात्पर्य है कि भट्टपुत्र को हासिल करना उस चिन्तामणि को पाना है जिससे सारी इच्छायें पूरी हो जाती हैं। अथवा 'चिन्तामणि' भट्टपुत्र का नाम है।

जैसे (श्रांनुमा) बने हुए दाती वाला 'पंक्ति' नाम का अलङ्कार लगाए रहता है ॥६२॥

करशाखापितमुद्रिकचामीकरकण्टसूत्रिकाभरणः ।

परिमृष्टगात्रकुंकुमकिंचित्पिंजरितसर्वाङ्गः ॥६३॥

हाथ की उगलियों में अंगूठी और कठ में मुवर्णयंत्रिका लगता है । अंगों में कुंकुम के उमटन लगने होने के कारण उनसे सारे अंग सुदृढ़-सुदृढ़ पिञ्जरित (रक्तपीत) रहते हैं ॥६३॥

प्रविलम्बिकुसुमदामकमलमण्डनजानरूपकृतशोभः ।

अन्तर्निविष्टसिक्थकतौरष्विकलुम्बिकादिचरणत्र ॥६४॥

पुष्पों की माला उसके गले में लट्कती रहती है एवं मुवर्ण के गहने में शोभित रहता है । उसके उपानह के भीतर मोम और तुल्य देशी बनी माला आदि बन्धुर्ण है ॥६४॥

नानावर्णविवेष्टितबहुलदशापासावढनतकेशः ।

एकस्मिन्दलवीटकमपरस्मिन्सीसपत्रकं कर्णं ॥६५॥

रंग-विरंगे रेशों को घट कर बनाये गये बदन में उनसे अपने बालों को बांध रखा है । उसके एक कान पर 'दलवीटक' और दूसरे कान पर 'सीसपत्रक' नाम के अलङ्कार हैं ॥६५॥

उच्चण्डवनवर्गभित्तुंकुम्पिजरितवस्तिपरिधानः ।

स्यूलतरकाचवर्तकमाला च गले दधानेन ॥६६॥

उपरा कपड़े का पहनावा चमत्कार सुन्दरता और कुंकुम के कारण पिञ्जरित (माल-पीला) रहता है । उसके पीछे-पीछे उपरा नई उम्र वाला ताम्बूल कट्ट-याहक (पानदान ले चरने वाला पुरुष) अपने गले में मोटी शोभा की कौड़ियाँ की माला धारण किये हुए रहता है ॥६६॥

१-अथवा 'तुरप्फ' अर्थात् 'जिह्वक' नाम से प्रसिद्ध शिलारम, उसके द्वारा निर्मित लेपनद्रव्य 'तीरत्तक' है, अथवा 'महापुष्पणि' के अनुसार घूम विशेष जिनसे बना हुआ लेपन द्रव्य यहाँ 'तीरत्तक' पद में अभिप्रेत है ।

२-ये दोनों वर्णभरण अथ वस्त्रिन्द्र ही पूर्ण हैं । सम्भवतः 'दलवीटक' पान के बाँदे जैसा हीर मोमपत्रक विद्यो वृक्ष के फले जैसा चमत्कार ही । निरपथ ही ये दोनों चमत्कारों के देगी नाम हैं ।

वृश्चिकरजितकररुहकरमूलनिवद्धशंखचक्रेण ।

प्रथमवयस्त्व भजता ताम्बूलकरकवाहिनानुगतः ॥६७॥

उसके नख महदी^१ (वृश्चिक) लगाने से लाल रहते हैं और वह अपने बाहुमूल में शङ्ख-चक्र धारण रहता है ॥६७॥

श्रेष्ठिवणिविटकितवप्रधानरङ्गस्य शुभहतो मध्ये ।

शूलापालस्थापितकतिपयवधोरपीठिकासीनः ॥६८॥

मुग्व्य रूप में सेठा, अनिया, बिटों और धूतों की गड़ी महजिल के बीच में वेश्याध्यक्ष (शूलापाल) द्वारा लानर रखे हुए मोटे-मोटे गद्दे पर वह भद्र का पुत्र बैठता है^२ ॥६८॥

उत्संगार्पितखङ्गरैयथातथभापिभिर्मंदौद्धत्यम् ।

विभ्राणैरनुजीविभिरधिष्ठितः पचपैः पुरुषैः ॥६९॥

उसके पास पाच छ आदमी अपनी कमर में तलवार राने, व्यर्थ की बकवास करते एवं अभिमान में चूर खड़े रहते हैं ॥६९॥

१-सनसुखराम ने इसे कुरवक माना है। कोश प्रमाण के अभाव में सिर्फ रक्त वर्ण होने में कुरवक को 'वृश्चिक' मानना चिन्त्य है। रक्त पुनर्नवा से भी इसका पहचान उसा प्रकार है। महदी के अर्थ में वृश्चिक का यह प्रयोग अर्थ के सङ्गत होने पर भी निःसदिग्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मेहदी का प्राचीन साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः महदी मुसलमानी युग में भारत में आया विदेशी पौधा है।

२-यहाँ से कामुक की महजिल का एक चित्रण आरम्भ है। इसमें उपस्थित होने वाले दो प्रकार के लोग हैं, एक तो व्यापारी, जैसे सेठ, वनिचे और दूसरे वेश्यागृहों के आश्रित रहने वाले, जैसे विट, कितव आदि। दोनों का अभिप्राय कामुक को पोट-कुमला कर धन पेंड लेना है। भद्रपुत्र के वर्णन से कह सकते हैं कि वह प्राचीन काल के वेश्यागामी रसिकजनों का प्रतिनिधित्व करता है। इस आर्या के 'शूलापाल' शब्द का अर्थ सनसुखराम के अनुसार 'वेश्याध्यक्ष' है। हमारा आगे भी इसी ग्रन्थ में उल्लेख है, जिन्नु चग दीनार श्री त्रिदिवनाथ राय ने इसे 'रङ्गशालाध्यक्ष' कहा है। मेरी समझ में यह व्यक्ति मुजरे की तैयारी में अपनी ओर से सजावट-बनावट करने वाला है, जो ठीके पर सब वेश्यालयों में घूँचे कर सब को सब तरह की भोग सामग्री प्रस्तुत करने का काम करता है।

चतुरतरसेवकार्पितपृष्ठपरिक्षिप्तपूर्वदेहाशः ।

अन्तर्धृतताम्बूलश्चोच्छूनकपोलकलितकरपणं ॥७०॥

यह चालाक नीकर के दिखे हुए तन्निष्ठ पर आवे शरीर में ढाले गहता है । मुग्ध के भीतर ताम्बूल रखने से उसके कपोल अर्धित पून जाते हैं, फिर यह अपने हाथ मल लेता है ॥७०॥

अनपेक्षितप्रसङ्गः पुनः पुनः पठति सोन्नतभ्रूकः ।

गाथा श्लोकप्राया भावितचेता गथातथाधीताम् ॥७१॥

प्रसंग का उच्चारण न करके आनन्दमग्न हो, भीष्टे उठाने के निमित्तमे अश्लील गाथा-छन्द के श्लोकों को बार-बार पढ़ता है ॥७१॥

विस्मयलोलितमौलिः पार्श्वगतांस्ताडयन्नसावेगात् ।

हा कट्ट साध्विति वादैरन्तरयति परसुभाषितश्रवणम् ॥७२॥

आश्चर्य से भिर हिलाता है, कमल बालों को रसावेग के कारण टोफ देता है और 'हा' 'कट्ट' 'साधु' आदि उचना से सुभाषित श्रवण करत हुए दूसरों को निम्न पहुँचाना है ॥७२॥

इदमुक्तो रहसि रथा तातेन नृपो नृपेण तातोऽपि ।

इति पितुराविष्कुस्ते महोभृतः प्रणयविश्वासी ॥७३॥

पिता जी ने एका-त म राजा से यह कहा और राजा ने भी पिता जी से कहा' इस प्रकार अपने पिता और राजा के प्रति परम्य प्रेम और विश्वास प्रकट करता है ॥७३॥

पद्मच्छेदमजानज्ज्ञानन्वा कौशल कलाविषये ।

प्रकटयति जनसमाजे विभ्राणः पद्मवर्तरो सततम् ॥७४॥

पद्मे काट कर चित्रकारी करने की कला (पद्मच्छेद) का जानना अथवा न जानना हुआ यह अपने हाथ में हमेशाकरते काटने की कौशली लिए हुए यह लोगों में प्रकट करता है कि यह कला क विषय में कुशलता रखता है ॥७४॥

ब्रह्मोक्तनाट्यशास्त्रे गीते मुरजादिवादाने चैव ।

अभिभवति नारदादीन्प्रावीण्यं भट्टपुत्रस्य ॥७५॥

भट्टपुत्र का कौशल ब्रह्मा के द्वारा^१ कहे गए नाट्य-शास्त्र में, गान में एवं मृदंग आदि वाद्यों के बजाने में नारद आदि गान्धर्व शास्त्र के रचयिताओं को अभिभूत करता है ॥७५॥

वसुनन्दचित्रदण्डकमुक्तायुधखड्गधेनुवन्धेषु . ।

व्रजति पुरतोऽस्य नित्यं भार्गवतां परशुरामोऽपि ॥७६॥

वसु,^२ नन्द, चित्र, दण्डक (आदि कुस्ती के दाग-पेंचों में तथा) चक्र आदि मुक्तायुध और उलवार, छूरी आदि (शमुक्तायुध) के प्रयोगों में स्वके सामने निश्चय ही परशुराम अपने भार्गवता (भृगुवंश में उत्पन्न होने का अभिमान) छोड़ देते हैं ॥७६॥

वात्स्यायनमयमवुधं वाह्यं दूरेण दत्तकाचार्यम् ।

गणयति मन्मथतंत्रे पशुतुल्यं राजपुत्रं च ॥७७॥

यद् कामशास्त्र में वात्स्यायन को अपरिचित, दत्तक आदि आचार्यों^३

१—यद्यपि नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं तथापि मूल रूप में यह शास्त्र ब्रह्मा जी ने ही भरत को प्राप्त हुआ, जैसा कि स्वयं नाट्य शास्त्र में भरत ने कहा है—

‘नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा पशुदाहृतम् ।’

२—परिमम मण्डल अर्थात् हन्द्र युद्ध के पंतरे के अर्थ में वसु आदि का उल्लेख करते हुए तनमुत्तराम ने कोई प्रमाण उद्धृत नहीं किया है । इनका पारो-भेद के अर्थ में भी उल्लेख प्रमाणित नहीं है ।

३—वात्स्यायन (मल्लनाग) कामशास्त्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं, दत्तक (दक्षिण ?) कामशास्त्र के वैशिक अधिकरण के कर्ता माने जाते हैं और राजपुत्र कोई प्राचीन कामशास्त्रकार थे ।

७७ पं और ७८ पं श्लोक के बीच छः और श्लोक दो अन्य पाण्डुलिपियों में प्राप्त होता है—

‘यः प्रार्थितोऽपि यस्मात्करुणो राधा मुतोददातिस्व ।

अविचिन्तितं यमुनर्ष्यस्त्राग गुणं हसति तस्यायम् ॥’

इसका अर्थ यह है—

राधा के पुत्र जिस वरुण ने यामर्ष्यक प्रार्थना करने पर शपथ किये हुए ज्ञान में दे दिया, बिना सोचे-विचारे घन की वरुण करने वाला यह भट्टपुत्र उसके स्वामी गुण का उपदान करता है ।

तो दूर से ही गहरी और राजपुत्र को पशु जैसा करार देता है ॥७७॥

प्रपलायनैकहृदये यो विक्रममातनोति हरिणोऽपि ।

सिंहस्य तस्य शौर्यं त्रपाकर भट्टपुत्रस्य ॥७८॥

जोर से भागने पर तुले हरिण जैसे प्राणी पर भी जो अपना पराक्रम दिग-
लाता है उस सिंह का शौर्य भट्टपुत्र ने लिपि लब्धित करने वाला होता है^१ ॥७८॥

आखेटकेऽपि कोतुकमस्त्येव जयश्च चचले लक्ष्ये ।

भट्टभयेन न खेलति भट्टसुत. कित्वतिप्रकटम् ॥७९॥

शिखार खेलने में भी इसे शीक है ही, चंचल निशाने को दागने या
भी शीक है, किन्तु यह अपने पिता भट्ट के डर से प्रकट होकर नहीं
खेलता है ॥७९॥

इति निजसेवकनिगदितरमणीयवच.श्रवणपरितुष्ट्या ।

अन्तमुदितो ब्रूते मामेव खलीकरोतीति ॥८०॥

इस प्रकार अपने सेवक जन के रमणीय वचनों से परितोष अनुभव करके
उह मन-ही-मन खुश होता है, लेकिन कहता यह है कि यह मेरी झूठी तारीफ
कर रहा है^२ ॥८०॥

१—कवि ने चाटुकारों के द्वारा यह कहला कर कि पलायमान हरिण पर पराक्रम
करने वाले सिंह का शौर्य उसके लिए लज्जाकर था, ध्याजस्तुति द्वारा भट्टपुत्र की
भीक्ष्ण सूचन की है ।

२—हम यह चुके हैं कि भट्ट का पुत्र के रूप में हमें प्राचीन 'रमिन्' का यह
चित्र देखने को मिला है । ठीक इसी ढंग के रमिन् (नवाय) का उल्लेख गणिका
'उमसार जान' ने किया है—'पर से सुरा । वालिद मरहूम इनके रिश्त, नजगने
के रूप से एक बड़ा हुलाफ इनके गर्व के लिए परीद पर छोड़ गये थे । आप
अपने आपकी यूसुफेदानी (यूसुफ के बराबर सुन्दरतम) मजमते थे, पहरो
आइना सामने रहता था । बाल बढ़ाया गया, घूँघर बनाया गया । नुक्वेदार टोपी
पर पर रंगी गई । ऊँची चोली का अगारता रंग । बड़े पायचों का पाजामा पहना
गया । यह सब टाट रडियों की दरवारदारी के लिए किया गया था ।

... गाने के इल्म में भी आपकी कमाल था । टुमरिया सुद बनाते, सुद ही
धुन बना कर गाते थे । सुद ही भाव बनाते जाते थे । और तो जो कुद या बह
था, सुँह से तबला गूँथ बनाते थे । यारों ने गूँथ ही बना दिया था । ...

कतमत्कतमल्लसं प्रस्थान का च नर्तकी भद्रा ।

विटखटक का नृत्यति कोहलभरतोदितक्रियया ॥८१॥

कौन कौन प्रस्थान (नाट्यादि शास्त्र का विषय) मालूम है, कौन नर्तकी श्रेष्ठ (या साध्वी) है, नाट्याचार्य कोहल और भरत के कहे हुए प्रकार के अनुसार विटखटक^२ (शृङ्गटक ?) में कौन नाचती है ॥८१॥

वतन से धरोरु-योऊ रूपया चला जाता था । लखनऊ के बंकेकरे, सुशापोशार, गेशपसन्द, मुफ्तखोरे आपके साथ रहते थे ।

'रससदन भाग' में 'रसिक' होने के लिए अपेक्षित सामग्री का अच्छा चित्र है, जो भद्रपत्र के वर्णन के बहुत अनुकूल है—

आपादलम्बिविधृते कनकोज्ज्वलाग्ने द्वे वाससी विशद कोमल सूक्ष्म सूत्रे ।
अशे च तुल्यचतुरस्रतनुः पटोऽयं क्षिप्तो विचित्रपरिधि नैवकुङ्कुमश्रीः ॥
कस्तूरिका तिलकमाहित माननान्ते हस्तौ च साधुरचिता कलकानुन्नलायै ।
पाटीर पङ्कसरस च मुजान्तराल जातोऽस्मि हन्त रसिकेभ्य हमम गण्यः ॥

२—नर्तकी का लक्षण भरत ने इस प्रकार लिखा है—

यौवनानि गुणोपेता नृत्तगीत विचक्षणानि ।

सदा प्रगल्भा च तथा त्यक्तालस्याजितश्रमा ॥

समागतासु नारीषु रूपयौवन कान्तिषु ।

न दृश्यते गुणैस्तुल्या नर्तकान्सा प्रकीर्तिता ॥ (२४।२३-२४)

२—विटखटक (या शृङ्गटक) —'विटखटक' सम्भव है कोई नृत्यरत्ना परिभाषिक शब्द हो, परन्तु संस्कृत टीकाकार तनलुखराम ने प्रमाण न मिलने के कारण इसका शाब्दार्थ यह लगाया है कि यह नृत्यभेद जो विटों (भद्रीयों) द्वारा 'खटक' अर्थात् आर्काक्षित हो । प्रमाण के अभाव में इसी अर्थ पर सन्तोष करना पड़ता है । पादान्तर 'शृंगटक' भी आसक पाठ है, शृंगटक शब्द के समरूप होने से इसका अर्थ 'चौराहा' करना और यह कहना कि चौराहों पर कौन नाच सकती है ! यह अर्थ भी यथार्थिन् मान्य है । श्री राय ने दूसरा पाठ 'शृंगटक' ही माना है और उसे एक प्रकार का 'गोपकाशय' कहा है, और प्रमाण उद्धृत करते हैं कि यह मम्मणीयक प्रयोग विशिष्ट एवं उद्भूतत्व प्रधान—

'संख्या समक्ष' पत्युर्युद्धत घृत्त-मुच्यते ।

यद्यपि च क्वचिद् धूर्तचारतन् शृमुटस्तु सः ? (काव्यानुशासन)

कीदृक्त्वं लयमार्गे धेनुकरचिते च भाणके कीदृक् ।

प्रेक्षणकादावेवं पृच्छति नृत्योपदेशक यद्वात् ॥८२॥

यह इस प्रकार यत्नपूर्वक नृत्य के उपदेशक आचार्य से पृच्छता है कि तुम लय के मार्ग में धेनुक के द्वारा रचित ताल में तथा प्रेक्षण आदि में कैसे हो ? अर्थात् तुम्हारी उनमें कहाँ तक पहुँच है ? ॥८२॥

सुमनोमाला कण्ठात्सादरचेता ददाति नर्तक्यै ।

अपनीय स ताम्बूलकमनवसरे साधुवाद च ॥८३॥

आदर युक्त चित्त वाला यह ताम्बूल वाली पूल की माला में कण्ठ में निकाल कर नर्तकी को अर्पित करता है और बिना अग्रसर के 'साधु' कहता है ॥८३॥

भुजपतनगा त्रसस्थितिलालित्योद्ब्रहनपार्श्ववलितानि ।

अनयैव निर्मितानि स्थानकशुद्धिश्च चातुरश्य च ॥८४॥

भुजपतन, गान-संस्थिति, लालित्य, उद्ब्रहन, पार्श्ववलित, स्थानक शुद्धि और चातुरश्य नृत्य के इन प्रकारों को इसी ने तो बनाया है २ । ८४॥

१—लयमार्ग (लयमार्ग ?) नृत्य के प्रसंग के आधार पर 'लय' का 'लय' बनाया गया है, जो उचित है । 'लय' ताल के बीच का द्रुत, मध्य और विलम्बित काल है । 'ताल' नाचने के समय गला बचाने की विधा का काल से मान या निर्धारण है ।

धेनुक—यह कोई गेयकार आचार्य थे ।

प्रेक्षणक—यद्यपि उपरूपक के भेद के अर्थ में यह प्रसिद्ध है तथापि प्रस्तुत में नृत्य की चर्चा के कारण तनसुप्रसन्न ने इसका योगिक अर्थ 'नृत्य' किया है, प्ररूप में इक्षुत या चलन हो जहाँ ।

२—भुजपतन—विशेष नियमों से हाथों का संचालन करना । गात्रगतस्थिति—अंगों की बिलकुल स्थिरता, कभी कभी नृत्य में किसी वस्तु को सिर पर रख कर नाचते हैं, कमाल यह होता है कि नृत्यकाल में भी अंगों की स्थिरता के कारण यह वस्तु गिर नहीं पाती । लालित्य—'मालविकाग्निमित्र' में सम्भजन इन्ने ही 'सौष्टय' कहा है—

'ततः प्रविशत्याचार्या वैद्यमाणां सौष्टया मालाविक्र'

तेमा कि हमारा लक्षण कहते हैं—

अनुष्चर्नाचचलतामगानी समपादताम् ।

कथिर्नूर्पर शीर्षासकण्ठानां समपादताम् ॥

प्रविभक्तैर्भावरसैरभिनयभङ्ग या परिक्रमैश्चिचित्रैः ।

रम्भामप्यतिशेते किमुतेतरनर्तकीलोकम् ॥८५॥

यह अपने अलग-अलग भावों और रसों से नई भङ्गियों (अदाओं) से तथा आश्चर्य करने वाले आवर्तनों (परिक्रमों) से रम्भा को भी अभिभूत करती है, फिर दूसरी मृत्युलोक की नर्तकियों की बात ही क्या ? ॥८५॥

इत्यपसारकविरताव विरतमुत्त्रायुकण्ठमल्युच्चैः ।

वर्णयति भावितारमा लक्षितपदमात्रया पात्रम् ॥८६॥

इस प्रकार भायुक मन वाला वह नृत्य के अवसान में ^१हमेशा जोर से कण्ठ को उछाल कर सिर्फ ताल-माना को लक्षित करके नर्तकी की प्रशंसा करता है ॥८६॥

प्रायेण भट्टतनयो भवतोदृश्वेपचेष्टितो भद्रे ।

त मदनवागुरान्तः पातयति यथा तथा ब्रूमः ॥८७॥

हे भद्रे, प्रायः करके भट्टपुत्र के यह वेश और आचरण हैं, उसे जिस प्रकार तू काम के पाँस में गिराएगी, उस प्रकार कहती हूँ ॥८७॥

रम्या प्रतीक विश्रान्ति—मुरसस्व समुच्चतिडे ।

अभ्यासोप तितामाहः सीष्टव नृत्य वेदिनः ॥

उद्धहन—अगधारण, सम्भवत यह नृत्य में अंगों को ऊपर उठा देने की प्रक्रिया है, प्रायः नृत्य में ऐसा होता है कि मारे शरीर के बोझ को एक हाथ पर रख लेते हैं । पार्श्वगतित—धगली काट कर मुड़ना, (Side Movement) । स्थानक—शुद्धि—अर्थात् विशुद्धता, दीपराहित्य । चतुरस्र—कीरालपूर्वक अंगों का अवस्थान । नृत्य के आरम्भ में यह स्थिति आती है, जैसा कि कहा है—

अगस्य चतुरस्रत्वं समपादौ लताफलो ।

आरम्भे सर्वनृत्यानामेतत् सामान्य मियपते ॥ (व्यन्तराजीव) ।

१—यहाँ 'अपमारव' का प्रयोग सम्भव है नृत्य के विराम होने पर विराम मूचक या नर्तकी के निर्गमनमूचक गीतवादन हो ।

चतुरा प्रागल्भ्यवती परचित्तज्ञानकौशलोपेता ।

योज्या तस्मिन्दूती वक्रोक्तिविभूषिता प्रयत्नेन ॥८८॥

जो दूती चतुर, ढीठ, दूसरे के चित्त को जानने में निपुण और कुटिल बातें करने वाली हो, उसे प्रयत्नपूर्वक उसके पास लगा देना चाहिए १ ॥८८॥

समुपेत्य तयाऽवसरे ताम्बूलं सुमनसश्च दत्त्वेत्यम् ।

अभिधातव्यः सुन्दरि मकरध्वजदीपकैर्वचनैः ॥८९॥

हे सुन्दरी, वह दूती उसके पास समय से पहुँच कर ताम्बूल और फूल के उपहार अर्पित कर इस प्रकार कामोद्दीपक वचन बोले ॥८९॥

जन्मसहस्रोपचितैः पुण्यचयैरद्य फलितमस्माकम् ।

यत्त्वं नयनानन्दन नयनाऽवसरं समेतोऽसि ॥९०॥

हमारे हजारों जन्मों के सञ्चित पुण्यसमूह आज फलित हुए कि जो हे नयनानन्दन, तुम अर्पणों के सामने हुए हो ॥९०॥

चादुक्रममनुरागं प्रणयरूपौ विरहजनितशोकार्तिम् ।

प्रकटयति वाररमणो नटीव शिक्षाभियोगेन ॥९१॥

(अभिनय करने वाली) नटी के समान वेश्या-शिक्षा में निपुणता के द्वारा प्रसंगपूर्वक अनुराग, स्नेह, क्रोध और त्रियोग से उत्पन्न शोक के कष्ट प्रकट करती है ॥९१॥

प्रवयसि यौवनशालिनि हीनकुले सत्कुलप्रसूते च ।

रोगवति दृढशरोरे समचिता योगिनश्च गणिकाश्च ॥९२॥

बूढ़े और जवान में, नीच और कुलगान में, रोगी और स्वस्थ शरीर

१—दूती के गुण—

पटुता धृष्टता चेतीक्षितज्ञत्वं प्रतारणम् ।

देशकालज्ञता चैव दूतीश्लेषे गुणा मताः ॥

मातृती मापय में दूतियों के गुणों का उल्लेख इस प्रकार है—

राश्ट्रेषु निष्ठा सहजश्च घोषः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च चाली ।

परतानुरागः प्रतिभानपत्नमेते गुणाः कामदुधाः पित्याम् ॥ ३।११

घाले में योगी और गण्डिनाए दोनों बराबर चित्तवाले (अर्थात् भेदभाव रहित) होते हैं ॥६२॥

उपचरिताप्यतिमात्रं पण्यवधू. क्षीणसम्पद. पुंस ।

पातयति इश व्रजत. स्पृहया परिधानमात्रेऽपि ॥६३॥

अधिक मात्रा में (ब्र-वादि द्वारा) सेवित होकर भी वेश्या (पण्यवधु) जाते हुए, क्षीण सम्पत्ति वाले पुरुष के शरीर के धनमान पर भी ललचाई नजर रखती है ॥६३॥

इत्थ दृढतरवासिनमनसा पु सामसाम्प्रत पुरत. ।

वेशविलासवतीनामशरीरशरव्यथाकथनम् ॥६४॥

एसी स्थिति में उन पुरुष के आगे जिनका मन दृढतर वासनाओं से घामित है, वेश्याजना की कामजनित व्यथा के सम्बन्ध में कहना असामयिक है ॥६४॥

केवलमगणितलाघवदूरपरित्यक्तधीरताभरणा ।

मुखरयति मा दुराशादग्धसखी तेन कथयामि ॥६५॥

केवल दुराशा नाम की दग्ध सखी, जो हल्कापन की परवाह न करके धैर्य के रहने की निहकुल छोट चुकी है, मुझे बाचाल नर रही है, इसलिए कहती हूँ ॥६५॥

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापत्राणेन ।

चरमं रमणीवल्लभ लोचनविषय त्वया भजता ॥६६॥

मालती के हृदय में पहले कामदेव अधिष्ठित हुआ, बाद में हे रमणी-वल्लभ ! उसके लोचन गोचर होते हुए तुम अधिष्ठित हुए ॥६६॥

क्षणमुत्कण्टकिताङ्गी क्षणमुत्वणदाहवेदनायत्ता ।

क्षणमुपजातोत्कम्पा स्वेदार्वपुः क्षण भवति ॥६७॥

क्षण ही में उसके अङ्गी में रोमाञ्च हो जाता है, क्षण ही में तीव्र दाहजनित वेदना भी दशा हो जाती है, क्षण ही में कण्ठगी होने लगती है और क्षण ही में यह पसीने में तर-बतर हो जाती है ॥६७॥

मुहुरविभावितकार्या मुहुरज्जितधीरभावमत्युच्चैः ।

रोदिति गायति च पुनः पुनश्चमोनावलम्बिनो भवति ॥६८॥

कभी तो उसकी दैमी इतराई नहीं देती, कभी धीरता को छोड़ कर जोर से रोने लगती है, फिर गाने लग जाती है और फिर चुप हो जाती है ॥६८॥

पतति मुहु पर्यङ्के मुहुरद्धे परिजनस्य मुहुरवनौ ।

किसलयकल्पिततल्पे मुहुरम्भसि मुहुरनङ्गसत्तप्ता ॥६९॥

राम से सतप्त वह कभी पलग पर, कभी परिजन की गोद में, कभी जमीन पर, कभी पल्लव की कनी सेज पर और कभी जल में पड़ जाती है ॥६९॥

महिषीव पकदिग्धा हसीव मृणालवलयपरिवारा ।

सुभगमयूरीवासो भुजगविद्वेपिणी जाता ॥१००॥

हे सुभग, (चन्दन-कर्पूरादि का लेपन करके) वह कभी कर्दमलिता माहरी भी भाँति, कभी कमलनाली के वलय (कटक) का परिधान करके (कमलनाल के समूह में विचरने वाली) हसनी की भाँति और कभी (निटरूपी) भुजङ्गा से द्वेष करने वाली मोरनी की भाँति हो जाती है ॥१००॥

वदलीचम्पकचन्दनपकेरुहनीरहारघनसारम् ।

सुन्दरशशधरकान्त नो शान्त्यै मदनहुतभुजस्तस्याः ॥१०१॥

हे सुन्दर, वदली, चन्दन, कमल, जल, हार, कर्पूर, चन्द्रकान्त सबके-सब उसकी मदनग्नि को शमन नहीं कर पाते ॥१०१॥

अपसारय घनसार कुरु हार दूर एव कि कमलैः ।

अलमलमालिमृणालैरिति वदति दिवानिश वाला ॥१०२॥

दिन-रात वह वाला हम प्रकार प्रलाप करती रहती है—सखी 'कर्पूर' हटाओ, हार दूर करो, कमलाँ मे लाभ क्या ! कमलनाल व्यर्थ है ॥१०२॥

1—श्री त्रिदिवनाथ राय ने 'सुन्दर' शब्द को शशधर कान्त या चन्द्रकान्तमणि का विशेषण माना है, यस्तुल हमे ऊपर के 'सुभग' शब्द की भाँति भद्रपुत्र का सम्बोधन होता चाहिए । अन्यथा स्वलोक में अप्रुष्टार्थता या व्यर्थ विशेषणता दोष प्रकट होगा ।

संकल्पैरुपनीतं त्वामन्तिकमुल्लसन्मनोवृत्तिः ।

दृढमालिगति पश्चात्स्वभुजापीडेन याति वैलक्ष्यम् ॥१०३॥

कल्पनाओं के बल से तुम्हें नजदीक लाकर वह भीतर मन में प्रफुल्ल हो तुम्हें आलिङ्गन-पाश में बस लेती है, पीछे जब अपने हाथों का संघटन होता है तब वह लज्जित हो जाती है ॥१०३॥

कुसुमामोदी पवनः पिककूजितमृङ्गसार्थरसितानि ।

इयमियती सामग्री घटिता कामेन तद्विनाशाया ॥१०४॥

फूलों की सुगन्ध वाली हवा, कोकिल की कूक और भ्रमर-समूह की गुजार इतनी सामग्री ब्रह्मा जी ने उसके विनाश के लिए ही रची है ॥१०४॥

अवलां वलिना नीतां दशामिमां मकरकेतुना रक्ष ।

आपत्पतितोद्धृतये भवति हि शुभजन्मना जन्म ॥१०५॥

बलशाली कामदेव ने उस अरला को इस दशा तक पहुँचा दिया है। तुम उसकी रक्षा करो। क्योंकि विपत्ति में पड़े प्राणियों के उद्धार के लिए ही शुभजन्मा पुरुष जन्म लिया करते हैं ॥१०५॥

नो गृह्णन्ति यथार्या अर्थिजनैर्निगदिता गिरः प्रायः ।

मालत्या गुणलेशं शृणु धृष्टया तथापि कथयामि ॥१०६॥

प्रायः प्राणी जनों की यथार्थ बातें लोग ग्रहण नहीं करते हैं तथापि धृष्टता-पूर्वक मालती के गुणों का विज्ञित् उल्लेख करती हूँ, (कृपा करके) सुनो ॥१०६॥

आस्फालयतो नूनं धनुरस्तनोः कौसुमं रजः पतितम् ।

संगृह्य सा सुगात्री विश्वसुजा निर्मिता तेन ॥१०७॥

निश्चय ही कामदेव जब अपना धनुष आस्फालन करने लगा तब उसके धनुष से फूल की धूल गिरी और ब्रह्मा ने उसे बंदोर कर उस शोभन अन्नो वाली मालती का निर्माण किया ॥१०७॥

उपहसति गिरिसुताया लावण्यं येन सततलसेन ।

न द्रवतामुपनीतं भोगोन्द्रविभूषणस्य देहार्घ्यम् ॥१०८॥

वह (मालती) पार्वती के लावण्य की हसी उड़ाती है, जो (लावण्य) हमेशा लगा रह कर सर्पराज के गहने धारण करने वाले शिव जी के आघे शरीर को द्रवित नहीं कर सक्ता ॥१०८॥

शशधरविम्बार्धगतां छायामिव सैहिकेयवदनस्य ।

अलिपटलनीलकुटिलामलकावलिमलिकसंनिधौ वहति ॥१०९॥

वह राहु के मुख को चन्द्रविम्ब के आघे भाग पर पड़ी छाया की भाँति अपने ललाट के समीप भ्रमर-समूह-भैमी नील कुटिल अलकामलि धारण करती है ॥१०९॥

सरसिजमस्थिरशोभ विभ्रमरहितं च मण्डलं शशिनः ।

केन समेतु समत्वं हृदयप्रिय मालतीवदनम् ॥११०॥

कमल की शोभा स्थिर नहीं रहती और चन्द्र के मण्डल में विभ्रम (विलास) का अभाय है, तो फिर हे प्यारे, किसके साथ मालती का मुखड़ा अपनी समता रखे ? ॥११०॥

अलिरूपरि तदोक्षणयोर्भ्रात्वा सौगन्ध्यसूचितविशेषः ।

निपतति कर्णाम्बुस्त्रहे निगुंणताप्यवसरे साध्वी ॥१११॥

भौरा उसको कमल सदृश आँसुओं पर मंडरा कर जब उसे सुगन्धि की विशेषता भालूम होती है तब (मालती के) कान में लगे कमल पर जा बैठता है, समय पर गुणरहित होना भी अच्छा है ॥१११॥

1—स्त्री के शोभन अंगों में मुष्काफल के भीतर म्लित्तमिलाने हुए पानी की तरह जो मागुम पड़ता है इसे ही 'लावण्य' कहते हैं—

मुष्काफलपु छायाया स्तरलत्वमिवान्तरा ।

प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥

'शोभन' में आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं—

साण्यं हि नाम अण्यय संस्थाना भिक्वणमपयय व्यतिरिक्त धर्मान्तरमेव ।

त्रिभ्राणेऽरुणिमाण सहज जितबन्धुजीवसचिमधरे ।

यदलक्तकविन्द्यसन तत्तस्या मण्डनक्रोडा ॥११२॥

अपने सम्भावत लाल, बन्धुजीव (बन्धूक) की शोभा को जीत लेने वाले अपने अधर पर जो यह आलता लगाती है वह उसकी प्रसाधनलीला मान है ॥११२॥

चित्रमिद यदि कृशता तस्या बलिपरिगृहीतमध्यस्य ।

अथवा नो विधिविहिता महताप्यपनीयते तनुता ॥११३॥

आश्चर्य तो यह है कि जो बलि (त्रिबलि, श्लेष से बलवान्) के द्वारा सेवित मध्य भाग बिलकुल क्षीण हो गया है (उमे तो बलिपरिगृहीत होने के कारण बलयुक्त होना चाहिए था ।) अथवा बात यह है कि जब विधाता ही क्षीण कर चुका है तो कोई रडा भी उस क्षीणता को दूर कर नहीं सकता ॥११३॥

आस्तामपरस्तावत्तस्या. स्मरवसतिपृथुतरनितम्ब. ।

क्षथयति कपिलमुनेरपि दृक्पथपतित. समाधानम् ॥११४॥

दूसरे अङ्ग को छोड़िए, उसका जो कामदेव का निवास-स्थान भूत विशाल नितम्ब है वह दृष्टिगोचर होकर कपिल मुनि की समाधि को भी ढीला कर देने वाला है ॥११४॥

तम्या रम्भावपुपो रम्भोपममूरुयुगलमवलोक्य ।

मकरध्वजोऽपि सहसा निजसायकलक्ष्यता याति ॥११५॥

रम्भा के सदृश शरीर वाली उस मालती का रम्भा सदृश ऊरु युगल देख कर सहसा कामदेव भी अपने ही गण या निशाना बन जाता है ॥११५॥

जघनभरालसयाता नायाता सा विलोचनप्रसरम् ।

तिष्ठति तेन मनोहर शरजन्मा ब्रह्मचर्यण ॥११६॥

हे मनोहर, जघन के भार से थलसा कर चलने वाली वह (मालती) दृष्टिगोचर नहीं हुई, इसी कारण नार्तिप्रेय जी आज तक ब्रह्मचारी बने बैठे हैं ॥११६॥

यदि वयमपि मधुमथन पश्यति तामसमवाणसर्वस्वम् ।

तदसारभार भूतामिव लक्ष्मीमुरसि विनिहिता मनुते ॥११७॥

यदि किसी प्रकार त्रिषु कामद्वय के सर्वस्व उस मालती को देख लें तो छाती पर पड़ी लक्ष्मी को व्यर्थ की भारभूत जैसी मानने लग जाय ॥११७॥

यदि पतति सा कथंचिद्वीक्षणविषये हरस्य तदवश्यम् ।

निभुवनमशिव कुल्ले वामैतरदेहभागमासाद्य ॥११८॥

यदि वह (मालती) किसी प्रकार शिव जी के दृष्टिपथ में आ जाय तो (यह) उनके दाहिने शरीरार्ध को पाकर (क्योंकि पारंगती उनके गायें शरीरार्ध में रहती है) निभुवन से अशिव (शिव जी से रहित) बना उल ॥११८॥

सौन्दर्यं तत्तादृशमशेषयोपिद्विलक्षण सृजत ।

यन्निष्पन्न धातुस्तन्मन्ये काकतालीयम् ॥११९॥

उसका सौन्दर्य उस प्रकार जा समस्त मितियों में विलक्षण बन गया है उसे शिवाता की आश्चर्य घटना (काकतालीय) मानती हूँ (अन्यथा शिवाता में वह शक्ति कहाँ से ऐसे विलक्षण सौन्दर्य का निमाण कर) ॥११९॥

सहजविलासनिवास तस्या वपुरनभिवीक्षमाणस्य ।

मन्ये नाकाधिपने. सहस्रमपि चक्षुषा विफलम् ॥१२०॥

स्याभाविन विलासों का निवासस्थान उसका शरीर के न देख पाने वाले नरगंधर्वों की दृष्टि की दृष्टार श्रौतो को भी मैं किन्तु मानती हूँ ॥१२०॥

शिथिलयतु कुमुमचाप क्षिपन्तु सरान्वाणारी मनोजन्मा ।

नसारसारभूता विचरति भुवि मालती यावत् ॥१२१॥

कामदेव अपने पुण्य के धनुष का तब तक दीना कर दे, सगुणों को तन्मय में डाल दे, जब तक ससार ही सारभूत मालती पृथ्वी पर दिनभित है ॥१२१॥

वाल्यापनमदनोदयदत्तवनिट्वृत्ताराजपुत्राद्यै ।

उच्छ्रंसित यतिचिन्तितस्या हृदयदेशमध्यास्ते ॥१२२॥

वाल्यापन, 'मदनोदय' प्रथम का स्मरण, दत्त, निट्वृत्त, राजपुत्र

आदि आचार्यों ने जो कुछ कहा है वह उसके हृदय में ग्रथिष्ठित रहता है ॥१२२॥

भरतविशाखिलदतिलवृक्षायुर्वेदचित्रसूत्रेषु ।

पत्रच्छेदविधाने भ्रमकर्मणि पुस्तसूदशास्त्रेषु ॥१२३॥

भरत का नाचशास्त्र, विशाखिल का कलाशास्त्र, दन्तिल का सङ्गीतशास्त्र, वृक्षायुर्वेद, चित्रकला, सूखी शिल्प, पत्रच्छेद-विधान, भ्रमकर्म (इन्द्रजाल), पुस्तकर्म (काष्ठ, मृत्तिका, चर्म अथवा धातु के खिलौने पुस्तकिका-ग्रनाना) सूदशास्त्र (पात्र शास्त्र) ॥१२३॥,

आतोद्यवादनविधौ नृत्ते गीते च कौशल तस्याः ।

अभिधातुं यदि शक्तो वदनसहस्रेण भोगिनामीशः ॥१२४॥

आतोद्य (वीणा, मुरज, वशी, कास्य आदि चतुर्विध वाद्य) के बजाने की विधि, नृत्त और गीत इत्यादि में उसके कौशल को शायद हजार मुखों से शेषनाम कह सकें ॥१२४॥

परिगलदालोलाशुकमपयत्रणमुरसि मालती रभसात् ।

निपतति नाऽपुण्यवता रतिलालसमानसा रहसि ॥१२५॥

जो पुण्यवान् नहीं हैं उनके वृक्ष पर मालती एकान्त में चंचल सरकते वस्त्र एवं बिना किसी यन्त्रण के वग से नहीं आ पड़ती ॥१२५॥

रतिरसरभसास्फालनचलवलयनिनादमिश्रिन तस्याः ।

तत्कालोचितमणित श्रुतिपयमुपयाति नाऽल्पपुण्यस्य ॥१२६॥

रतिजनित आनन्द के वेग से परस्पर रगड़ जाते चञ्चल कगनी की स्नान-स्नानहट से मिला हुआ उस मालती के तलाल उचित लगने वाला मणित (रतिफल की आराज) पुण्यरहित व्यक्ति के कानों तक नहीं पहुँचता ॥१२६॥

इत्यमभिधीयमानः शुभमध्ये यदि भवेदुदासीनः ।

एवं ततोऽभिधेयः सदर्थितकोपया द्यूत्या ॥१२७॥

हे सुन्दर कटिभाग वाली, इस प्रफार कहने पर (भी) यदि वह उदासीन रहे तो कोय दिला कर द्यूती को यह कहना चाहिए ॥१२७॥

किं सौभाग्यमदोऽयं यौवनलीलाभिरूपतादर्पं ।

सहजप्रेमोपनता मालतिका न बहु मन्यसे येन ॥१२८॥

क्या यह तुम्हें अपने सौभाग्य का धमक हो गया है अथवा यौवन की रमणीयता का ग्रहद्वार, जिससे सहज प्रेमभाव में पाम आई मालती को स्वीकार नहीं करते हो ॥१२८॥

न गणयति या कुलीनान्द्रविणवतः शास्त्रवेदिनः प्रणतान् ।

सा भवदर्थं शुक्यति कुस्थाननिवेशितं धिगनुरागम् ॥१२९॥

जो मालती अपने सामने सिर मुझाए कुलीनों, धर्मियों और शास्त्र जानने वालों को कुछ भी नहीं समझती, वह तुम्हारे लिए खरती जा रही है। धिक्कार है उस अनुराग से जो गलत स्थान में हो ॥१२९॥

कमलवती तीव्ररुचौ बहुभस्मनि शम्भुशिरसि शशिलेखा ।

सा च त्वयि पशुकल्पे यदभिरता तेन मे कृशता ॥१३०॥

तीरे त्रिरणों वाले सूर्य में कमलवती रास की ढेर लगे शिव के सिर में चन्द्रलेखा और पशु-सरीसे तुममें वह जो अनुराज है उसी कारण (शोक से) मैं दुग्ली हो गई हूँ ॥१३०॥ ।

असरलमरस कठिन दुग्रहमस्निग्धमाश्रिता सदिरम् ।

यदुपैति वाच्यपदवी मालतिका तत्किमाश्चर्यम् ॥१३१॥

सरलता रहित, नीरस, कर्कश, कष्ट से ब्राह्मण एव रूने सदिर वृक्ष को पाकर मालती (चमेलीलता) जो निन्दित होती है उसमें क्या आश्चर्य ? ॥१३१॥ ।

अथवा क खलु दोषो यदतुल्यतयोपजनितवैलदयः ।

स्वाधीनामपि सरसा परिहरति मृणालिका ध्वाक्षः ॥१३२॥

अथवा क्या दोष, कि जो सरासरी में न आने के कारण लज्जित हो शीघ्रा अपने अर्धिन और सरस कमलिनी को भी छोड़ देता है ॥१३२॥ ।

मात्रं करिष्यसि खेदं निष्ठुरमुत्तोजसि यन्मया सुभग ।

यूना हि रत्नतण्णिसुहृदभिहितपर्यमाभरणम् ॥१३३॥

दे सुभग, मैंने कर्से जो बड़ी बात बर्दा उगये दुःख मत मानना,

क्योंकि जमानों के लिए अनुरक्त सुन्दरी की सजी की कड़ी बात (शोभा देने वाला) आभरण होती है ॥१३३॥ ।

चन्द्रमसेव ज्योत्स्ना कंसासुरवैरिणव वनमाला ।

कुसुमशरासनलतिका कुसुमाकरवल्लभेनेव ॥१३४॥

चाँद से चाँदनी की भाँति, कृष्ण से वनमाला^१ की भाँति, वसन्त के मरुत कामदेव से कामलता की भाँति ॥१३४॥

मदलीला हलिनेव स्तनयुगलेनेव हारलता ।

रम्यापि सा सुगात्री रम्यतरा भवतु संगता भवता ॥१३५॥

हलधर वलराम से मदलीला की भाँति, स्तनयुगल से हारलता की भाँति, तुमसे संगम प्राप्त कर वट शोभन अङ्गों वाली मालती रम्या होकर भी रम्यतरा हो जाय ॥१३५॥ ।^१

किं बहुना यदि यूनामुपरि विधातुं समीहसे चरणम् ।

तत्कुरु रमणीरत्नं प्रेमोज्ज्वलमंकतस्तूर्णम् ॥१३६॥

यहुत कहने में क्या, यदि तुम जवानों के सिर पर चरण रखना चाहते हो तो प्रेम की चमक वाले उस रमणीरत्न^२ को शीघ्र अङ्क में ले लो ॥१३६॥

अथ तद्वचनश्रवणप्रविजृम्भितमदनभट्टदायादः ।

उपचरणीयः सुन्दरि निजवसतिमुपागतस्त्वयाप्येवम् ॥१३७॥

तलश्चात् उस दूती की बातें सुनने से भट्टपुत्र का मदन उद्दीपित होगा उससे यह अपने घर जाए उसे तुम भी है सुन्दरी, इस प्रकार उपचार करना ॥१३७॥

१—पर तक लटकनी हुई माला अथवा पत्रपुष्पमयी माला को 'वनमाला' कहते हैं । भगवान् कृष्ण के वनमाला धारण करने के कारण ही उन्हें 'वनमाली' कहते हैं ।

२—रमणीरत्न—अर्थात् श्रेष्ठ सुन्दरी । कदा है—

'जाती जाती यदुदृष्टं तद् रत्नमभिधीयते' ।

बाह्यनिहित भी लिखते हैं—

स्त्रीणां गुणा यौवनरूपपेष दाक्षिण्य विज्ञान विलास पूर्वाः ।

स्त्रीरत्न संज्ञा च गुणान्वितासु, स्त्रीव्यापयोऽ-याश्चतुरस्य पुंसः ॥

(कृष्णसंहिता ७३।१३) ।

दूरादभ्युत्थानं प्रणमनमात्मासनप्रदानं च ।

प्रविधेयमचलेन प्रस्फोटनमध्रियुगलस्य ॥१३८॥

दूर ही से उसे आते देख उठ जाना, प्रणाम करना, अपना आसन देना और आँचल से उसके पैरों को पोंछना ॥१३८॥ ।

ईपदयज्ञप्रकटितकक्षोदरबाहुमूलकुचयुगलम् ।

संदर्श्यं भटिति यास्यसि नायकदग्गोचरात्तूणंम् ॥१३९॥

फिर थोड़ा निना कोशिश के अपनी नास, उदर, बाहुमूल, दोनों स्तन उभे प्रकट दिखा करके भट से उलझी आँगों से ओमल ही जाना ॥१३९॥ ।

अथ पर्यंकसनाथं दीपोज्ज्वलकुसुमधूपगन्धाढ्यम् ।

विततवितानकरम्य प्रवेशितो वासकागारम् ॥१४०॥

तब हे भारी जघन वाली, उसे पलङ्ग से सजे, दीपों से प्रकाशित, फूलों की और धूप की गन्ध में सुवासित, पैले चँदरना से मुशोभित रामकागार में दाखिल करना ॥१४०॥

मात्रा ते गुरुजघने सादरमवतारणादिकं कृत्वा ।

अभिनन्दनीय एभिवंचनविशेषैः प्रयत्नेन ॥१४१॥

तेरी माता उसे आदरपूर्वक अवतारण (आनभगत) आदि करके इन राम गानों में यत्न करके अभिनन्दन करे ॥१४१॥

अद्याशिष्य. समृद्धा. परितुष्टा इष्टदेवता अद्य ।

कल्याणालंकारो यदलकृतवानिद वेशम ॥१४२॥

आन आशीर्वाचन मणल हुए, इष्ट देवता मन्तुष्ट हैं, ती नि कल्याण के अलङ्कार अलने इस पर को अलकृत किया ॥१४२॥

१—वासकागार अर्थात् भोगावास, रतालय । 'उमराव जात' के शब्दों में लय नहीं वासकागार का यह चित्र देगिए— उनके कपड़े सुदा सुदा मता दिए गए थे । निवाक के पलंग, कोरियों में कपड़े हुए थे । परों पर सुधरी आँदनी गिर्ची हुई । बड़े बड़े मशरी पानदान, हुम्नदान, ग्रामदान, उगातदान करने अपने करीनों में रहे हुए । दीवारों पर दलबों आदने उम्दा उम्दा मशरीरें दान में दुरतियाँ लगी हुईं जिमके दरमियान एक छोटा-सा अक्ष । इधर उधर उम्दा दपिदियाँ ।

अनुरूपपात्रघटनं कुर्वाणस्याद्य कुसुमवाणस्य ।

सुचिराद्वत संजात. शरासनाकपेणश्रमः सफलः ॥१४३॥

योग्य पात्रों का मिलन करने वाले कामदेव का धनुष खींचने का श्रम बहुत देर के बाद फलीभूत हुआ ॥१४३॥

विन्यस्य शिरसि चरणं सुभगा गणिकाजनस्य सकलस्य ।

सोभाग्यवैजयन्ती संप्रति वत्सा समुत्क्षिपतु ॥१४४॥

दुहागिन मेरी बन्ची समस्त गणिकाओं के शिर पर पैर रख कर अब अपने सौभाग्य की पताका फहराये ॥१४४॥

दुहितर एव स्नाध्या धिक् लोकं पुत्रजन्मसंतुष्टम् ।

जामातर आप्यन्ते भवाद्दशा यदभिसम्बन्धात् ॥१४५॥

पत्नैरे ससार की कि जो लड़के के जनम से सन्तोष अनुभव करता है। प्रशसनीय तो लड़कियाँ हैं जिनके सम्बन्ध से श्राप जैसे दामाद हासिल होते हैं ॥१४५॥

दृढपरिचया गुणज्ञा भवद्विधा नार्थनाहंका यदपि ।

तदपि हृदयाभिनन्दन दुहितस्नेहादहं वच्मि ॥१४६॥

श्राप जैसे व्यक्ति यद्यपि दृढ परिचय वाले, सुखज्ञ एव योग्य पात्र को सम्मान देने वाले होते हैं तथापि हे हृदयाभिनन्दन, मैं लड़की के प्रति स्नेह के कारण कहती हूँ ॥१४६॥

सहजप्रेमोपनता न्यस्ता त्वयि मालती तथा कार्यम् ।

न यथा भवति वराकी त्वद्विप्रियजन्मनां शुचां वसतिः ॥१४७॥

स्वभावतः अनुरक्त मालती को तुम्हें समर्पित करती हूँ, ऐसा करना त्रिमूर्ति कि यह बेचारी तुम्हारे अनिष्ट (वियोग) के कारण शोकों का स्थान न हो ॥१४७॥

मृदुघौतघूपिताम्बरमग्राम्यं मण्डनं च विभ्राणा ।

परिपीतघूपवर्तिः स्यास्यसि रमणांतिके सुतनु ॥१४८॥

हे सुतनु, मोमल, धुले, धूपदि द्वारा वासित वस्त्र एव श्राग्ध्य (कारीगरी

से बने) आभूषण धारण कर तथा धूपवर्ति^१ का पान कर नू वान्त के समीप उप-
स्थित हो ॥१४८॥

सस्नेहं सत्रीडं ससाध्वसं सस्पृहं च पश्यन्ती ।

किंचिद्दृश्यशरीरा प्रविरलपरिहासपेशलालापा ॥१४९॥

सस्नेह, सलज्ज, ससम्भ्रम और सस्पृह दृष्टिपात करती हुई नू अपने शरीर
को कुछ प्रकट कर देना और उसके साथ कभी कभी मजाक का पुट देकर
वातचीत करना ॥१४९॥

मातरि निर्यातायां परिजनमुक्ते च वासकस्थाने ।

अभियुंजाने रमणे वामाचरणं क्षणं कार्यम् ॥१५०॥

माता जब वहाँ से बाहर चली जाय और परिजन भी उस भोगवास्त
को छोड़ दें और वान्त जब रमणार्थ प्रवृत्त होने लगे तब कुछ क्षण
नू प्रतिकूल आचरण करना (अपना अङ्ग सटने न देना, निषेध करना
आदि) ॥१५०॥

रतिसंगरविहितमतावाकर्षति रभसतः पुरस्तस्मिन् ।

कुट्टमितमाचरन्ती जनयिष्यसि किंचिदंगसंकोचम् ॥१५१॥

रतियुद्ध^२ के लिए जब उद्यम मन विलज्जुल हो जाय और सामने वह
वेग में तुम्हें मीचने लगे तब कुट्टमित^३ करती हुई नू अपने अङ्गों को सिरोड़
लेना ॥१५१॥

१-धूपवर्ति—सुग को सुगन्धित करने के लिए यीदीनुमा द्रव्य, जिसमें
प्रायः-नाग ममाले होने थे और जिस प्राचीन काल के शीरीन नागरिक जला कर
धूप-पान करते थे । इमका उल्लेख वादम्बरी और हरविजय महाकाव्य में भी प्राप्त
है । यह धूपवर्ति विविध प्रकार की होती थी । उनमें से एक का नागरमन्थ में
दम प्रसार उल्लेख है—

कर्पूरागुरु चन्दन मुस्तकपूति प्रियङ्गुपालं च ।

माती चेति नृपाणां योग्या रतिनाथ धूमवर्तिरियम् ॥१५२॥

२-‘युद्ध’ संज्ञा तय दी जाती है जब दो (या अनेक) महल परम्पर अभि-
भारेन्द्रा में भिड़ जाते हैं । इस प्रकार धमदधेग नायक और नायिका की निःशंक
रति भी एक प्रकार का ‘युद्ध’ है । इस युद्ध में होने वाले चुम्बन, कालिङ्गन, नखा-
घात, दन्ताघात, ताड़न, स्वीकृत, उपमर्शन आदि विलज्जुल दो महलों की कुस्ती के
समान होने हैं । आगे के प्रसंग में हमी कवि ने हारलता और सुन्दरमेन के रति
युद्ध का वर्णन किया है ।

३-यह एक प्रकार की लम्बी कालीन शूद्रा सेना है । भीतर से प्रसङ्गता

प्रारब्धे सुरतविधौ क्रमदर्शितचित्तयोनिसवेगा ।
अपशकमर्पयिष्यसि निर्व्याजि पुत्रि गानाणि ॥१५२॥

बेटी, जब वह सुरत आरम्भ कर दे तब तू क्रम से चित्त और योनि (अथवा चित्तयोनि अर्थात् कामदेव) का सवेग दिखाना और निराह और निष्कण्ठ भाव से अपने अङ्गों को उसे अर्पित कर देना ॥१५२॥

यद्यद्वाच्यति हन्तु यद्रष्टु यच्च विलिखितु गानम् ।
तत्तदपसारणीय सावेग ढौकनीय च ॥१५३॥

जिस जिस अङ्ग को वह आघात करना^१ चाहे, जिसे देखना चाहे और जिसे खरोचना^२ चाहे उस उसको आवेगपूर्वक हटा लेना और पर उसके सामने कर देना ॥१५३॥

दशे सव्यथहुकुतिमामर्दे विविधकण्ठरसितानि ।
नखविलिखने च सीत्कृतिमाघातेपूल्बण कणितम् ॥१५४॥

जब वह दाँत से मटे^३ तो व्यथामूचक हुँकार करना, मसलन^४ लगे तो विविध प्रकार से कंठ की आवाज करना, नखों से खरोचने लगे तो सीत्कार^५ भरना और आघात करे तो जोर से चीख पड़ना ॥१५४॥

ह्रस्वायासश्वासान्मुचन्ती पुलकदतुरशरीरा ।
स्विद्यत्सकलावयवा प्रकरिष्यसि रागवृद्धये पु साम् ॥१५५॥

कामुक पुरुषों के राग बढ़ाने के निमित्त तू बार बार श्रमपूर्वक श्वास

है, फिर भी ऊपर से नायक द्वारा केश, स्तन, अधर आदि के पकड़न पर नायिक का सिर और हाथ झुकभोरना 'कुट्टमित' कहलाता है। (साहित्यदर्पण)।

१-स्फुन्धद्वय, सिर, स्तनान्तर, गृष्ट, जघन और पार्श्व य कामशास्त्र अनुसार आघात या प्रहरण के स्थान हैं।

२-दोनों काँधों, कंठ, दोनों गाल, नाभि, श्रोणि, दोनों स्तन, भ्रगस्फुण और कण्ठ मूल ये नखाघात या नखों द्वारा खरोचने के स्थान मान गए हैं।

३-फाँस, उदर, स्तन, कपोल और कंठ ये दन्तपीदन के स्थान हैं।

४-मसलने के स्थान हैं बाहु, स्तन, नितम्ब, पार्श्व, निम्नोदर और जघन।

५-वात्स्यायन के कामसूत्र में चित्र समय किस प्रकार का विस्तृत करना चाहिए, इसका उल्लेख है। (२।३।३२०)।

छोड़ती हुई रोमाञ्च से शरीर को व्याप्त करना और समस्त ग्रहों को पसीने-पसीने करना ॥१५५॥

परमृतलावकहंसकपारावतलुगहृदयनिःस्वनितम् ।

अनुकार्यमुचितकाले कलकण्ठ स्तैस्त्वया रसतः ॥१५६॥

हे अत्यन्त मधुर कंठ वाली, कोमिल, लज्ज, हृद्य, कबूतर और घोड़े की भाँति रख के उचित समय में आगाज करना ॥१५६॥

मा मा मामतिपोडय मु च क्षणमद्य नो समर्थाऽस्मि ।

इति गद्गदास्फुटाक्षरमभिघातव्यस्त्वया कामी ॥१५७॥

“मन, मन, मुझे ज़ोर से मत पीड़न कर, निद्रु, मुझे छोड़, मैं पार नहीं पा सकती” इस प्रकार की गद्गद एव अस्पष्ट आगाज ने कामुज के प्रति योजना ॥१५७॥

अनुबन्धमानुकूल्यं वामत्वं प्रौढतामसामर्थ्यम् ।

सुरतेषु दर्शयिष्यसि कामुकभाव स्वयं बुद्ध्वा ॥१५८॥

कामुक का अभिप्राय स्पष्ट समझ कर उसके साथ सुरतों में कभी अज्ञान, कभी अनुकूलता, कभी प्रतिकूलता, कभी प्रगल्भता और कभी असामर्थ्य प्रदर्शन करना ॥१५८॥

असमजसमक्षील दूरोज्जिभतधैर्यमविनयप्रसरम् ।

व्यवहारमाचरिष्यसि वृद्धिमुपेते रसावेगे ॥१५९॥

जब रस का आगे बढ़ि प्राप्त कर ले तब असन्नत, अश्लील, धैर्यरहित, अतिरसुक व्यवहार करना ॥१५९॥

अविचेतितनसुरक्षितरामीलितलोचना निरत्साहा ।

नायककार्यसमाप्तौ स्थास्यसि शिथिलीकृतावयवा ॥१६०॥

जब नायक अपना कार्य समाप्त कर ले तब जैसे उसके गंगा की गर्तों उभर गार ही नहीं, वृ अपनी आँसू मूँद लेना, निरन्वह हा आगे अज्ञा की शिथिल करके पड़ जाना ॥१६०॥

भगिति नितम्बावरणं निःसहतनुतां स्मितं सवैलक्ष्यम् ।

खेदालसां च दृष्टिं जनयिष्यसि मोहनच्छेदे ॥१६१॥

जब मुस्त का प्रसंग समाप्त हो जाय तो भट अपने नितम्ब ढक लेना, देह तिरन कर लेना, शर्माती हुई मुखुराना और खेद के मारे अलसाते हुये देखना ॥१६१॥

वृत्ते रताभियोगे स्पृष्ट्वा सलिलं विविक्तभूभागे ।

प्रक्षाल्य पाणिपादं स्थित्वा क्षणमासने समूह्य कचान् ॥१६२॥

जब रताभियोग समाप्त हो जाय तब निर्जन स्थान में जल-स्पर्श कर, हाथ-पैर धो, आसन पर तनिक बैठ, बालों को समेट ॥१६२॥

उपयुक्तवदनवासा शय्यामारुह्य दर्शितप्रणया ।

इति वक्ष्यसि तं रमणं दृढतरमालिङ्ग्य रभसतः कण्ठे ॥१६३॥

ताम्बूल आदि मुखवास ले, सेज पर चढ़, प्रणय दिखाते हुए, घेग से उठ कर कठालिङ्गन करते हुए उस रमण से यह कहना ॥१६३॥

भट्सुत नूनमिष्टा तव जाया यदनुरक्तहृदयस्य ।

जनयति परितुष्टिमलं नापररामापरिष्वंगः ॥१६४॥

हे भटपुत्र, निश्चय ही तुम्हारी पत्नी तुम्हें प्रिय है, क्योंकि जितना वह अनुराग भरे हृदय वाले तुम्हें अधिक सन्तुष्ट करती हैं उतना दूसरी रमणी ना आलिङ्गन नहीं ॥१६४॥

सफलं तस्या जन्म स्पृहणीया सैव सकलललनानाम् ।

गौरी तयैव महिता सुभगंकरणं तपस्तयाचरितम् ॥१६५॥

उसका जन्म सफल है, समस्त रिश्वी में वह स्पृहणीय है, उसने ही गौरी की अर्चना की हैं, उसने भीभाग्यकरण तप किया है ॥१६५॥

सैवैका गुणवसतिस्तस्या एवान्वयः सदा श्लाघ्यः ।

यस्याः शुभशतभाजः पाणिग्रहणं त्वया विहितम् ॥१६६॥

गुणों का भाजन वही एक है, उसी का वश हमेशा प्रशरनीय है, शत-शत पुरुषों के भाजन जिस सुन्दरी का तुमने पाणिग्रहण किया है ॥१६६॥

तिष्ठतु सा पुण्यवती वंशद्वयभूषण वरारोहा ।

या नापयाति भवतो लक्ष्मोरिव नरकवेरिणो हृदयात् ॥१६७॥

यिना और पति के वशा का भूषण, सुन्दर नितम्बों वाली वह तो है ही, जा विष्णु के हृदय से लक्ष्मी की भाँति तुम्हारे हृदय में दूर नहीं होती ॥१६७॥

पातयसि कुवलयनिभे कौतुकमात्रेण लोचने यासु ।

ता अपि सत्य सुन्दर हर्षोच्छलिता न मान्ति गात्रेषु ॥१६८॥

जिन सुन्दरियों पर कौतुकमात्र से तुम अपनी कुवलय सदृश आँखें डाल देते हो, हे सुन्दर, वे भी इस प्रकार हर्षोच्छलित हो जाती हैं कि अपने अङ्गों में खुद नहीं अट पाती हैं ॥१६८॥

तनुरपि नाथप्रणयं प्रायो मुखरीकरोति लघुमनसः ।

स्वार्थनिवेशितचित्ता करोमि तेऽभ्यर्थनां तेन ॥१६९॥

जिसका मन छोटा है उसे प्रिय का थोड़ा भी प्रणय प्रायः मुरार बना देता है । उसी कारण स्वार्थ की मन में रख कर तुमसे अनुरोध करती हैं ॥१६९॥

तीव्रस्मरतासुण्याच्चापलतः कौतुकेन घृणया वा ।

मद्भाग्यसम्पदा वा दूत्या वा कौशलात्स्वभावाद्वा ॥१७०॥

उड़ीम कामदेय से युक्त जवानी से, या चपलतावश, या अनुग्रह से, या मेरे सौभाग्य से, या दूती के उपाय से, या स्वभाव से ॥१७०॥

योऽय प्रभेलवाश प्रदर्शितोऽस्मासु जीवनोपायः ।

वाधा नात्र विधेया गणिकाजनवृत्तमन्यया बुद्ध्वा ॥१७१॥

जो नि यह हमारे जीवित रहने का उपाय-म्वरूप प्रेम का लेशमात्र हम पर तुमने प्रदर्शित किया है उसमें गणिका जना के मनोमार्गों से गलत (अन्यथा) समझ कर राधा नष्ट करना ॥१७१॥

येन स्नेहः क्रोधः शाठ्यं दाक्षिण्यमाजैव व्रीडा ।

एतानि सन्ति तास्वपि जीवद्धर्मोपनीतानि ॥१७२॥

जिस कारण से स्नेह, क्रोध, शठता, अनुकूलता, कौमलता, लज्जा ये

सब जीवित रहने वालों को निसर्गतः प्राप्त होते हैं वे सभी उन गणिकाओं में भी रहते हैं ॥१७२॥

निर्व्याजिसमुत्पन्नप्रवलप्रेमाभिभूतहृदयानाम् ।

दयितविरहाक्षमाणा गणिकानां वृणसमाः प्राणाः ॥१७३॥

बिना छल-पट के उत्पन्न प्रवल प्रेम के द्वारा अभिभूत हृदय वाली, एव प्रिय के विरह को सहन न कर पाने वाली गणिकाएँ निज प्राणों को वृण-समान समझती हैं ॥१७३॥

अत्राकर्णय साद्भुतमाख्यानं वर्णयामि यद्वृत्तम् ।

अद्यापि विभर्ति वटो विशेषणं यदभिसम्बन्धात् ॥१७४॥

इस प्रसंग में सुनो, मैं एक आश्चर्य-युक्त आख्यान, जो घटित हो चुका है, कहती हूँ, जिस घटना के साक्षिस्वरूप आज भी बरगद का पेड़ 'वेश्यावट' नाम से परिचित है ॥१७४॥

हारलता का आख्यान

'अस्ति महीतलतिलक सरस्वतीकुलगृहं महानगरम् ।

नाम्ना पाटलिपुत्रं परिभूतपुरंदरस्थानम् ॥१७५॥

पाटलिपुत्र नाम का एक महानगर है, वह पृथ्वी का तिलक, सरस्वती का कुलगृह और इन्द्र के स्थान अमरावती को परिभूत करने वाला है ॥१७५॥

त्रिभुवनपुरनिष्पादनकौशलमिव पृच्छतो विरिंचस्य ।

दर्शयितुं निजशिल्पं वर्णकमिव विश्वकर्मणा विहितम् ॥१७६॥

जब ब्रह्मा ने त्रिभुवन के नगरों के निर्माण का कौशल त्रिभुवनमा से पूछा तब मानों उन्होंने अपना शिल्प १ दिलाने के लिये इस नगर को एक "वर्णक" (प्रतिनिध-चित्र) के रूप में निर्माण किया ॥१७६॥

अश्रेयोभिरनाश्रितमभिभूतं नातिभूतिदोषेण ।

न स्वीकृतमुपसर्गैः कलिकालमलैरनालीडम् ॥१७७॥

यहाँ अमरल नदी रहते, पराजय के दोषों से यह अभिभूत नहीं है,

१-शिल्प आदि प्रकार का होता है—आलेख्य, लेख्य, दारुद्र्य, चितिकर्म, पाषाणकर्म, शीष्यकर्म, देयकर्म, चित्रकर्म ।

उसातो वा वहाँ उपद्रव नहीं है, कलिकाल की गुराणियाँ वहाँ नहीं पहुँची हैं ॥१७७॥

पातान्तलं भोगिभिरम्भोधिविधरद्वसंधातैः ।

सुरसदन विबुधगणैर्द्रविणोपचयै. पुर कुवेरस्य ॥१७८॥

भोगिगण (विलासी जन, श्लेष से उपगण) के निवास के कारण यह पाताल के समान है, नाना प्रकार के रत्नों के टेरों में यह समुद्र के समान है, विबुधजनों (विद्वानों, श्लेष से देवताओं) के कारण अमरावती के समान है, धन की समृद्धि से कुवेर की नगरी अलका के समान है ॥१७८॥

महिलाभिरसुरविवर कटक हि हिमाचलस्य गन्धर्वैः ।

हरिनगरं क्रतुयूपै. शमविभवैर्मुनिजनस्थानम् ॥१७९॥

महिलाओं के कारण वह असुरविवर ^१ (खोप्राय असुरों के देश का प्रवेशमार्ग) के समान है, गन्धर्वों (गान करने वालों, पक्ष में देवयोनि विशेषों) के कारण वह हिमालय के मध्य देश से समान है, यह के 'यू' नामक लकड़ी के रने टारों के कारण वह अयोध्या के समान है, शान्ति के विभवों के कारण वह मुनिजनों के वासन्याय आश्रम के समान है ॥१७९॥

तिष्ठन्तु सकलशास्त्रव्यालोचनविमलबुद्धयो विप्राः ।

सदसद्गुणनिर्णीतो ललना अपि निकपभूमयो यत्र ॥१८०॥

सकल शास्त्रों के अनुशीलन से विमल-बुद्धि दाक्षिण जनों की रात बौन करें, जहाँ ललनाए भी मले-बुरे के निर्णय में पछाड़ी वा काम करती हैं ॥१८०॥

कलिकालोदितभीत्या क्रतुहुतवह्वधूमकम्बलावरणः ।

तिपुत्रिमृतोपि कृतश्चरितैरनुमीयते यत्र ॥१८१॥

जहाँ कलिकाल से उभय तर के माटे यज्ञाग्निशों के धूम का कम्बल छोटे पुत्र-द्विज पर रते हुए भी धर्म वा अनुमान (लोगों के) उदाचारा से होता है ॥१८१॥

१-'असुरविवर' में प्रवेश करने के लिए भूमि में बने किये गहरे गड्ढे में प्रवेश किया जाता था । वेनालमाधन हुसना मुख्य ऋग था । इससे धन और भी की भाँति सम्भव मानी जाती थी । इससे माधक 'वर्धक' बने जाते थे ।

अपहरति पिघातुमिव स्वकलंकं शशधरः प्रसायं करान् ।

राज्ञौ यत्र वधूनां लावण्यं वदनकोषेभ्यः ॥१८२॥

जहाँ चन्द्र मानों अपने कलंक को ढंकने के लिए करों (हाथों अथवा किरणों) को फैला कर रात्रि में वधूजनों के मुख के खजानों से लावण्य का अपहरण करता है ॥१८२ ॥

तिमिरपटलासिताम्बरमपहरदभिसारिकाजनौघस्य ।

निजतनु कान्तिवितानं वल्लभसम्भोगविहितये यत्र ॥१८३॥

जहाँ अभिसारिका जनों का अपने शरीर की कान्ति का वितान अन्धकार-समूह के काले वस्त्र को हटाता हुआ प्रिय मिलन के काम में आ जाता है ॥१८३ ॥

यत्र नितम्बवतीनां विचलन्नयनान्तशितशरैर्ब्रूणितः । ✓

शिथिलयति पथिकलोकः स्वकलत्रसमागमोत्कण्ठाम् ॥१८४॥

जहाँ नितम्ब वालीयों के चंचल कटाक्षों के चोख बाणों से घायल होकर पथिक लोग अपनी पत्नियों के समागम की उत्कण्ठा शिथिल कर देते हैं ॥१८४ ॥

यत्र च कुलमहिलानामल्पत्वं वचसि पाणिपादे च ।

स्वच्छत्वमाशये च व्यालोलत्वं विशालनेत्रे च ॥१८५॥

जहाँ कुलवन्ती महिलाएँ जिस प्रकार अल्पभाषिणी हैं उसी प्रकार उनके हाथ-पैर भी छोटे-छोटे हैं, उनके मन (आशय) जिस तरह स्वच्छ हैं उसी तरह उनकी चंचल और विशाल आँखें भी स्वच्छ हैं ॥१८५॥

स्तनजघनचिकुरभारे घनता जीवेशसहजराने च ।

कुलदेवताचनविधौ वलिशोभा मध्यभागे च ॥१८६॥

उनके स्तन जघन और केशभार की तरह उनका प्रियतम के प्रति स्वभाविक अनुराग भी घना है, कुलदेवताओं की पूजा में जिस तरह बलि (उपहार के पदार्थ) की शोभा होती है उसी प्रकार उनके कटिभाग में भी बलि (बिलि) की शोभा है ॥१८६॥

गम्भीरता स्वभावे चेतोभववाणतूणनाभौ च ।

विस्तीर्णता नितम्बे गुरुजनपूजानुरक्तचित्ते च ॥१८७॥

धामदेव के याग के तरवस की भाँति उनका नामिकूप उनके स्वभाव के समान गम्भीर है, गुरुजनों की पूजा में अनुरक्त उनके चित्त की भाँति उनका नितम्ब विस्तीर्ण है ॥१८७॥

हरिणायतेक्षणता विच्छित्तिः कोपहरणमब्जेषु ।

कुटिलत्वमलकपंक्ती वालाना कामचेष्टितं यत्र ॥१८८॥

जहाँ विच्छित्ति (अतिशय शोभा) केवल हरिण के समान विशाल आँसो वाली मुन्दरियों में है (अत्र विच्छित्ति अर्थात् विच्छेद नहीं है), कोशहरण (अर्थात् हथियार रखने के बने चर्मपेटिकाँ स हथियार निभालना) केवल अर्थात् क सम्बन्ध में है (अन्यत्र प्रजात्राँ म किसी के वीरा अर्थात् एजाने का हरण या लूटपाट नहीं होता), कुटिलता केवल वालों में है (लोगों में कुटिलता नहीं है), स्वच्छाचार बालकों में है (न कि लोग स्वच्छाचार करते हैं) ॥१८८॥

सयमनमिन्द्रियाणामिनोपघातग्रहस्तमिस्रस्य ।

स्तव्यत्व तालतरी हारलतास्तरलसगता यस्मिन् ॥१८९॥

सयमन (निग्रह) जहाँ केवल इन्द्रियाँ का हाता है (लोगों का निग्रह या धर पकड़ नहीं होता), केवल सूर्य का उपघात रूप ग्रह राहु के पक्ष में होता है (न कि कोई भी अपने स्वामी का प्रातिवृल्य ग्रहण करता है), स्तव्याँ केवल ताल के पेड़ों में है (लोगों में मन्थता अर्थात् प्रतिमूल व्यवहार नहीं), केवल हार-लताएँ ताल (मण्यमाण) के साथ रहती हैं (लोग तरल अर्थात् गिमी नचल पुरुष के साथ नहीं रहते) ॥१८९॥

भुजगाः पररंध्रदशः खण्डघन्ते प्रियतमाधरा यत्र ।

सूचीव्यथानुभूतिर्नृत्वाभ्यासप्रवृत्तानाम् ॥१९०॥

दूरात का रूध केवल सर्पगण देवों हैं (लोग दूरात का रूध अर्थात् दोष या कमजोरी नहीं देवने), केवल प्रियतमाधरो के अघर गरिष्ठत किए जाते हैं (कोई सन्दिग्ध अर्थात् निरन्त नहीं हाता), जो नृत्यकला के अभ्यास में

प्रवृत्त हैं उन्हें केवल सूची (एक विशेष प्रकार का अभिनय) के कष्ट का अनुभव होता है (किसी अपराध के कारण सूची की व्यथा का कोई अनुभव नहीं करता) ॥१६०॥

नतवपुरप्यतिसरला मन्थरगमनापि नर्मदा यस्मिन् ।

गुरुजनशास्त्ररतापि स्वभावमुग्धाङ्गनाजनता ॥१६१॥

अतिसरला भी युवतियाँ जहाँ नत देहों वाली हैं (विरोध यह कि जो मुझे शरीर वाली हैं वे अतिसरला अर्थात् बिलकुल सीधी-साधी कैसे हो सकती हैं ? परिहार यह कि अत्यन्त सरल स्वभाव वाली हैं), धीमी चाल चलने वाली होकर भी नर्मदा हैं (नर्मदा नदी तो बहुत वेग से बहती है, परिहार यह कि नर्म देने वाली अर्थात् परिहामरसिमा हैं और जघन के भार से अलसाई होने के कारण धीमी चाल से चलती हैं), गुरुजनों में और शास्त्रों में रत होने पर भी मुग्धा हैं (विरोध यह कि शास्त्रज्ञानशील मुग्धा कैसे हो सकती हैं, परिहार यह कि मुग्धा अर्थात् सुन्दर हैं) ॥१६१॥

तस्मिन्मखशतपूतः पुरहूत इव द्विजन्मना प्रवरः ।

गुररिव विद्यावसतिवसति स्म पुरदरो नाम्ना ॥१६२॥

उस नगर में इन्द्र के समान सौ यज्ञ सम्पन्न करने से पवित्र, बृहस्पति के समान विद्वान्, पुरन्दर नाम के एक ब्राह्मण-श्रेष्ठ निवास करते थे ॥१६२॥

धर्मात्मजस्य सत्य त्रिपुररिपोर्विजितकुसुमचापत्वम् ।

हरिनाभिपकजभुवो नियतेन्द्रियता जहास यः सततम् ॥१६३॥

जो हमेशा सुभिष्टिर के एतप की, शिवजी की कामदेव पर विजय की और विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा के इन्द्रियनियम की टिल्ली उड़ाया करते थे ॥१६३॥

न्यवकृतवृष इति शर्वे याचक इति कौस्तुभाभरणे ।

पीडितवसुधासुत इति कपिले न वभूव यस्य बहुमानः ॥१६४॥

शिव ने वृष (धर्म) को नीचे झुका दिया (क्योंकि वे वृष अर्थात् नन्दिकेश्वर बैल पर चढ़ते हैं) अतः उनके प्रति, 'भित्तमगा है' यह विष्णु के प्रति, 'पृथ्वी और सगर-पुत्रों को पीडित किया है' यह कपिल के प्रति कहते हुए जो गौरव नहीं रखते थे ॥१६४॥

मार्गानुगतौ लुब्धो यः प्राणिवर्षुर्विनाशविमुखोऽपि ।

परिहृतपरदरोऽपि स्वाकाक्षितगुरुजनप्रमदः ॥१६५॥

प्राणियों के शरीर का विनाश करने से जो सर्वथा विमुख थे तो भी मार्ग (मृगसमूह) के अनुगमन करने में लुब्ध (व्याध) थे (परिहार यह कि मार्ग अर्थात् सन्मार्ग के अनुगमन करने के लोभी थे), जिन्होंने दूसरों की पत्नियों को सर्वथा त्याग दिया था तथापि स्वयं गुरुजनों की प्रमदाद्या को चाहा करते थे (इस विरोध का परिहार यह कि गुरुजनों का प्रमद अर्थात् हर्ष चाहा करते थे) ॥१६५॥

यस्यान्वये महीयसि सरसोव समस्तसत्वनिजवसतो ।

सच्चरितजन्मभूमो विनिवारितकलिमलप्रसरे ॥१६६॥

सरोवर के समान समस्त सत्तों (सत्त्व-गुणों अथवा जीवों) के निवास-स्थान, सच्चरिता के जन्म-ग्रहण करने की भूमि, कलिमाल के दोषों से रहित जिनके कुल में ॥१६६॥

पितृतर्पणप्रसङ्गे खड्गग्रहणं न शोयंदर्पे च ।

त्रुटन मेखलिकाना वटुकजने नो रताभिसमर्दे ॥१६७॥

जब कभी पितृ-तर्पण का प्रसंग उपस्थित होता तभी खड्ग (अर्थात् गेंडे की भांग के रत्ने पात्र) का ग्रहण किया जाता था न कि शरता के घमट में यदि खड्ग अर्थात् तलवार ग्रहण करता था, मेखलाश्चा अर्थात् करपनिया का टूटना छोटे रत्नों का होता था, न कि सुरत की रगड़ में मेखलाए टूटनी थीं ॥१६७॥

श्रुतिभेदेषु विवादो नो रिक्थविभागमन्युना कलितः ।

तेजस्विता हविर्भुंजि न शमैकरतेषु भूमिदेवेषु ॥१६८॥

विवाद केवल वेदों के भेदों के बारे में हुआ करता था न कि धन के विभाग या चट्टानों के कारण उत्पन्न क्रोध से विवाद उठ खड़ा होता था, तेजस्विता केवल अग्नि में थी, न कि शमप्रधान ब्रह्मण्य में ॥१६८॥

जरतामेव स्वल्पनं जपतामेवाधरस्फुरणम् ।

यजतामेव समिद्रुचिरेणाजिन एव कृष्णमपकं ॥१६९॥

स्वल्पन केवल वृद्धों का होता था, अधर का परतराना केवल जप करने

वालों का होता था, समित् अर्थात् समिधा की इच्छा यज्ञ करने वालों को ही होती थी (न कि कुल के लोगों के समित् अर्थात् सुद्ध की इच्छा होती थी) कालिमा का सम्पर्क केवल मृगचर्म में ही होता था (न कि कुलीन लोगों में कालिमा अर्थात् पाप का सम्पर्क था) ॥१६६॥

तस्याभूत्सकलकलोद्भासितपक्षद्वयस्य सुत एकः ।

नाम्ना सुन्दरसेनः कच इव वचसामधीशस्य ॥२००॥

बृहस्पति के जैसे कच नाम का पुत्र हुआ उसी प्रकार अपनी समस्त कलाओं से मातृकुल और पितृकुल ही उद्भासित करने वाले उस पुरन्दर के मुन्दरसेन नाम का एक पुत्र था ॥२००॥

पशुपतिनयनहुताशनभस्मितभवधायं यं वपुष्मन्तम् ।

अपरमिद्व कुसुमचापं रतिरतये निग्मे घाता ॥२०१॥

विधाता ने कामदेव को शिवजी की नेत्राग्नि से भस्म हुए देवकर रति की वृत्ति के निमित्त शरीरधारी दूसरा कामदेव मानो बना डाला था ॥२०१॥

तिष्ठन्तु तावदन्याः कुलललना यस्य रूपम्वलोक्य । ✓

सापि महामुनिदयिता कृच्छ्रेण ररक्ष चारित्रम् ॥२०२॥

दूसरी कुलवन्तियों की बात दूर रहे, जिसका रूप देख कर महामुनि की पत्नी (वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती अथवा अत्रि की पत्नी अनसूया) भी बड़ी मुश्किल से अपने चरित्र की रक्षा कर सजी थी ॥२०२॥

कलधौतफलकशोभां विभ्राणं यस्य पृथुतरं वक्षः ।

दृष्ट्वा चिराय लक्ष्मीर्हरिहृदये दुःस्थिति मेने ॥२०३॥

सुवर्ण के पाट जैसे जिसके विशाल बद्ध-स्थल को देख कर लक्ष्मी देर तक विष्णु के हृदय पर अपना निवास कष्टप्रद समझती रही ॥२०३॥

कथमोष्यदि न कृतः शशिशकलैरथ कृतः कथं व्ययकः ।

इत्थं यमीक्षमाणो निर्गणमगमन्न कामिनीसाथः ॥२०४॥

कामिनी-समूह जिसे देखता हुआ इस प्रकार किसी निर्याय पर नहीं पहुँचा कि यदि यह चन्द्र के सड़ों से नहीं बना है तो ऐसा कैसे है ? ॥२०४॥

यो जग्राह हिमाशो. प्रसन्नमूर्तित्वमचलत. स्थैर्यम् ।

जलधरत उन्नतत्वं गाम्भीर्यं यादसा पत्युः ॥२०५॥

जिसने चन्द्रमा से प्रसन्न-मूर्ति होना, पर्वत से स्थिरता, मेघ से उन्नति और समुद्र से गाम्भीर्य ग्रहण किया था ॥२०५॥

यो विनयस्य निवासो वैदग्ध्यस्याश्रय. स्थितेः स्थानम् ।

प्रियवाचामायतन निकेतन साधुचरितस्य ॥२०६॥

जो विनय का निवास, विदग्धता का आश्रय, मर्यादा का स्थान, प्रियवचनों का आश्रयतन एवं साधु चरित का निकेतन था ॥२०६॥

यो मदनः प्रमदाना तुहिनकरः साधुकुमुदपण्डस्य ।

निकपोपलो गुणाना मार्गंतरु. पथिकलोकस्य ॥२०७॥

जो प्रमदाश्रां का मदन, साधुजन रूपी कुमुदपण्डको विरसित करने वाला चन्द्र, गुणों का निरूप एवं पथिक जना का मार्गवृक्ष था ॥२०७॥

सज्जनगोष्ठो निरत. काव्यकथाकनकनिकपपापाण ।

प्रणयिजनकल्पवृक्षो लक्ष्मीलीलाविहारभूमिश्च ॥२०८॥

जो सज्जनों की सभा में बैठा रहता, काव्यालाप रूप सोने का निकप, प्रेमी जनों के लिए कल्पवृक्ष और लक्ष्मी की लीलाश्रां की विहार-भूमि था ॥२०८॥

जलधिरिव तुहिनभास. सहवृद्धिपरिक्षय सुहृत्तस्य ।

सकलोपधाविशुद्धो बभूव गुणपालितो नाम्ना ॥२०९॥

चन्द्र का समुद्र के समान साथ ही उठने घटने वाला उसका सन प्रकार से परीक्षित गुणपालित नाम का एक मित्र था ॥२०९॥

तेन समं स कदाचित्तिष्ठन्नहसि प्रसङ्गत. पतिताम् ।

केनापि गीयमानामशृणोदार्यामिमा सहसा ॥२१०॥

उसके साथ किसी समय बैठे हुए उसने प्रसंग से प्राप्त, किसी के द्वारा गई गई इस श्रायां को सहसा सुना ॥२१०॥

‘देशान्तरेषु वेपस्वभावभणितानि ये न बुध्यन्ते ।
समुपासते न च गुरुन्विपाणविकलांस्त उक्षाणः’ ॥२११॥

दूसरे देशों की वेपभूषा, रहन-सहन और बोली जिन्हें मालूम नहीं तथा गुरुजनों की सेवा जिन्होंने नहीं की वे पिना सींग के दैल हैं ॥२११॥

श्राकण्यार्थ तमूचे वचनमिदं सुन्दरः सुहृन्मुह्यम् ।
शोभनमेतदगीत गुणपालित साधुनानेन ॥२१२॥

मुनकर सुन्दरसेन अपने प्रधान मित्र से बोला—‘गुणपालित, इन भले-मानुष ने ठीक यह गीत गाया है ॥२१२॥

साधूनामाचरितं खलचेष्टां विविधलोकहेवाकान् ।
नमं विदग्धैर्विहितं कुलटाजनवक्रकथितानि ॥२१३॥

गुल्मेहशास्त्रतत्त्वं विटवृत्तं धूतवंचनोपायान् ।
वारिधिपरिखा पृथ्वी जानाति परिभ्रमन्पुरुषः ॥२१४॥

जब आदमी समुद्र से विरो पृथ्वी पर भ्रमण करता है तब वह सज्जनों के आचरण, दुजनों की चेष्टा, विविध प्रकार के लोगों की उल्लास, विदग्धजनों के परिहास, कुलटाओं की वक्रोक्तिर्वा, गम्भीर और गूढ़ शास्त्रों का तत्त्व, विटों का वृत्तान्त और धूतों के ठगने के उपाय से परिचित होता है ॥२१३-२१४॥

अत उज्जिभ्रत्य गृहस्थितिसुखलेशं विविधलाभपरिणामे ।
स्थापय गमनारम्भे वयस्य हृदय मया सहितः ॥२१५॥

अतः हे मित्र, घर पर पढा रहने के लेशगान मुख को छोड़, विविध प्रकार के लाभ के परिणामस्वरूप मेरे साथ इस गमन-कार्य में मन को प्रवृत्त करो’ ॥२१५॥

इत्थं निगदितवन्तं सुहृदुत्तरलाभलालसात्मानम् ।
ऊचे सुन्दरसेनं लज्जित इव सहचरो वचनम् ॥२१६॥

इस प्रकार मित्र के उत्तर सुनने के इच्छुक कहते हुए सुन्दरसेन से उसका साथी लज्जित-सा बोला ॥२१६॥

अभ्यर्थनानुबन्धो लज्जाकर एव मादृशा कितु ।

आकर्ण्य कथयाम. पथिकाना यानि दु खानि ॥२१७॥

‘सुम्न-जैलें मे गार-वार प्रार्थना करना लज्जाकर ही है, किन्तु सुनो, पथिकों के मार्ग में जा कष्ट होते हैं, उन्हें कहता हूँ ॥२१७॥

कपटकावृतमूर्तिदूर्ण राध्वपरिश्रमावसितशक्ति. ।

पासूत्कटधूसरितो दिनावसाने प्रतिश्रयाकाक्षी ॥२१८॥

पथिक देह में पटा-पुराना बपडा लपेटे, सुदूर मार्ग पर चल कर थक जाने से समाप्तप्राय नल वाला, धूल-बम्फट से भरा, दिन गीत जाने पर निरास स्थान का इच्छुक ॥२१८॥

मातर्भंगिनि दया कुरु मामैवं निष्टुरा भव तवापि ।

कार्यक्शेन गृहेभ्यो निर्यान्ति भ्रातरश्च पुत्राश्च ॥२१९॥

इस प्रकार बहुत तरह की दीन बातें करता है कि, माँ, बहन, सुम्न पर दया करो, इस तरह निष्टुर न बनो, तुम्हारे भी भाई और लड़के कार्यवश घर से बाहर निकलते हैं ॥२१९॥

कि वयमुत्पाट्य गृहं प्राप्तगन्तार ईदृगेव सताम् ।

भवति निवासो यस्मिन्निज इव पथिका. प्रयान्ति विश्रामम् ॥२२०॥

क्या हम लोग प्रातः काल घर उखाड़ कर ले भागेंगे ? सज्जनों का निवास स्थान ऐसा ही होता है, जहाँ पथिक अपने घर की भाँति विश्राम पाते हैं ॥२२०॥

अद्य रजनी नयामो यथाकथञ्चित्तवाश्रये मातः ।

अस्त गतो विवस्वान्वद सम्प्रति कुत्र गच्छामः ॥२२१॥

माँ, तुम्हारे आश्रम में जिस किसी तरह आज रात गुजार लेंगे । सूरज छूट गया, कबो इस समय कहाँ जाँय ? ॥२२१॥

इति बहुविधदीनवचा प्रतिगेहद्वारदेशमधितिष्ठन् ।

निर्भत्स्यंतेव राको गृहिणीभिरिदं वदन्तीभि ॥२२२॥

प्रत्येक घर के दरवाजे पर खड़ा हुआ वह यह कहती हुई घर वाली स्त्रियों से हुन्कारा जाता है ॥२२२॥

न स्थित इह गेहपति. किं रटसि वृथा प्रयाहि देवकुलम् ।

कथितेऽपि नापगच्छति पश्य मनुष्यस्य निर्वन्वम् ॥२२३॥

‘मालिक घर पर नहीं हैं, क्यों व्यर्थ का चक्रवास कर रहे हो ? मन्दिर में चले जाओ, देसो कहने पर भी नहीं टसकता, मदों की जात बड़ी ढीठ होती है’ ॥२२३॥

अथ यदि कथंचिदपरः पुनः पुनर्याचितो गृहस्वामी ।

निर्दिशति सावधीरणमत्र स्वपिहीति जीर्णगृहकोणे ॥२२४॥

और यदि किसी प्रकार दूसरे घर का मालिक बार-बार माग करने पर नाक-भौं सिकोड कर बता देता है कि इस पुराने घर के मोने में सो जाओ ॥२२४॥

तत्र कलहायमाना तिष्ठति गृहणी विभावरीप्रहरम् ।

अज्ञाताय किमर्थं वासो दत्तस्त्वयेति सह भर्त्रा ॥२२५॥

तो उसकी घर-वाली यह कहती हुई कि अनजान आदमी को क्यों घर में तुमने वास दे दिया, सारी रात पति से झगड़ती रहती है ॥२२५॥

ईदृगयं सरलात्मा किं कुर्मो भगिनि तावको भर्ता ।

स्थास्यसि गेहेऽवहिता भ्रमन्ति खलु दचका एवम् ॥२२६॥

‘शहिन तेरा मरद बड़ा सीधा है, तू क्या करती है ? जरा घर से मचेत होकर रहना । इस तरह ठग धूमा करते हैं’ ॥२२६॥

इति भाजनादियाच्चा बुद्धौ विनिधाय निकटवर्तिनो गेहात् ।

नारीजनः समेत्य ब्रूते तामाप्तभावेन ॥२२७॥

इस प्रकार पड़ोस के मकान से बर्तन आदि मागने के बहाने खिर्चा आकर बड़े यथार्थभाषी के रूप में कह जाती है ॥२२७॥

गृहशतमधिकमटित्वा कलमकुलत्थाणुचणामसूरादि ।

एकीभूतं भुंक्तेऽधुघोपतप्तोऽध्वगो भैक्षम् ॥२२८॥

देर तक रोड़ड़ों घर धूम कर पयिक धान, कुलयी, चीनी, चना, मगर आदि एक में मिला हुआ भिजात भूस से पीड़ित हो खाता है ॥२२८॥

परवशमशनं वसुधा शयनीयं सुरनिकेतनं सद्य ।

पथिकस्य विधिः कृतवानुपधानकमिष्टिकासण्डम् ॥२२६॥

प्रभाता ने पथिक का भाजन पराधीन, शय्या धरती, घर देवमन्दिर और तक्रिया हूँट का टुकड़ा बनाया है ॥२२६॥

इति निगदितवति तस्मिन्सुन्दरसेनस्य चोत्तरावसरे ।

इयमुपगोता गीति केनापि कथाप्रसङ्गेन ॥२३०॥

यह यह कह ही रहा था और सुन्दरसेन को जब उत्तर देने का आग्रह हुआ इन्हीं शब्द किसी ने कथा के प्रसंग से यह गीति सुनाई ॥२३०॥

निजवरभवन सुरगृहमूर्ध्वीतलमतिमनोहर शयनम् ।

कदशनममृतमभीप्सितकार्यैकनिविष्टचेतसा पुंसाम् ॥२३१॥

‘जिन लोगों का चित्त अभीष्ट कार्य के सम्पादन में पूरी तरह लग चुका है उनके लिए देवमन्दिर अपना ही भवन बन जाता है, धरती अति मनोहर शय्याहो जाती है, परम भोजन अमृत बन जाता है’ ॥२३१॥

ता च श्रुत्वा सुहृदं पोरन्दरिरिदमुवाच परितुष्टः ।

मम हृदयगत प्रकटितमेतेन सहैव गच्छाम् ॥३३२॥

उसे सुन कर पुरन्दर का लड्डा सुन्दरसेन मन्तुष्ट हो अपने मन से बोला ‘इसने मेरे दिल को यात साथ ही खोल दी, तो हम चलें’ ॥३३२॥

अथ सहचरद्वितीय. क्लेशसमुद्रावतरणकृतचित्तः ।

निरगात्सुन्दरसेन. कुसुमपुरादविदितः पिना ॥२३३॥

अनन्तर सुन्दर सेन दूसरे साथी के साथ क्लेश का समुद्र पार करने के लिए निश्चय करके पिता के अनजाने ही कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) से निकल पड़ा ॥२३३॥

पर्यन्विदग्धगोठीरभ्यस्यन्नायुधानि विविधानि ।

शास्त्रार्थनिधिगच्छन्विलोकयन्कोतुकान्यनीकानि ॥२३४॥

विदग्ध जन्म की गोष्ठियाँ^१ देखता, नाना प्रकार के आयुधों का अभ्यास

१—प्राचीन काल में यहाँ कई प्रकार की गोष्ठियाँ प्रचलित थीं, जैसे जल्प-गोष्ठी, पदगोष्ठी, वाक्यगोष्ठी, गीतगोष्ठी, नृत्यगोष्ठी, वाद्यगोष्ठी, वीणागोष्ठी

करता, शास्त्र के अर्थों को समझता, अनेक कौतुकों को, अवलोकन करता ॥२३४॥

जानन्पत्रच्छेदनमालेख्यं सिक्थपुस्तकमार्णि ।

नृत्यं गीतोपचितं तन्त्रीमुरजादिवाद्यभेदांश्च ॥२३५॥

पत्र पर कटाव की कला, चित्र, मोम और काष्ठ की पुस्तलिया बनाने का कौशल, नृत्य, गीत, तन्त्री, मुरज आदि वाद्यभेद सीखता ॥२३५॥

बुध्यन्वचकभङ्गोर्विटकुलदानर्मवक्रकथितानि ।

बभ्राम मुहुत्सहितः सुन्दरसेनो महीमखिलाम् ॥२३६॥

एक ठगों की चालें और विदों तथा कुलदाओं के परिहास-वचनों, यमोक्तियों को समझता^१ मित्र के साथ मुन्दर सेन समस्त पृथ्वी पर घूमा ॥२३६॥

अथ विदिसमकलशास्त्रो विज्ञाताशेषजनसमाचारः ।

निजगृहगमनाकांक्षी स शिलोच्चयमर्बुदं प्राप ॥२३७॥

तत्पश्चात् सफल शास्त्रों के ज्ञान प्राप्त कर, अशेष जनों के रहन-सहन मालूम कर, अपने घर जाने का इच्छुक वह आबू (अर्बुद) पर्वत पर पहुँचा ॥२३७॥

तत्पृष्ठदेशदर्शनलोलमति सुन्दरं परिज्ञाय ।

गुणपालितो वभापे विलोक्यतामद्विराज इति ॥२३८॥

जब गुणपालित ने देखा कि मुन्दरसेन आबू पर्वत के पीछे का भाग देखने के लिए चंचल हो रहा है, तब बोला—देखा इस पर्वतराज की ॥२३८॥

आदि । पाण्डित ने हर्ष अरिचरित में 'विद्यागोष्ठी' का उल्लेख किया है । विद्या, धन शील, बुद्धि और आयु में मिलते जुलते लोग जहाँ अनुरूप बातचीत के द्वारा एक जगह आसन जमावें उसे 'गोष्ठी' कहते हैं :-

समानविद्यापित्तशीलबुद्धिवयसामनुरूपैरालापैरेकत्रासनवंधो गोष्ठी ।

वास्यायन ने लोकविद्विष्या पर-हेमास्मिन् गोष्ठी और लोक चिन्तानुपतिनी गोष्ठी के नाम से अष्टौ और पुरी के भेद से गोष्ठियों का दो सामान्य विभाग कर दिया है । इन सब प्रकार की गोष्ठियों में वैदिक या बुद्धिचानुयं अपेक्षित होता है । अतः प्रस्तुत में इन सभी प्रकार की गोष्ठियों का निर्देश है ।

१—महाकवि चाण ने भी अपने पुस्तक-रक्षा (श्वर) जीवन में गुप्त इसी

एष सुतः सानुमतः स्यन्दच्छीताच्छसलिलसम्पन्नः ।

लोकानुकम्पयेव प्रालेयमहीमृता मरी न्यस्तः ॥२३६॥

प्रवहमान शीतल जल से सम्पन्न यह पर्वत हिमालय का पुत्र है, जिसे हिमालय ने लोगों पर अनुकम्पा करके मरुभूमि में रग्न दिया है ॥२३६॥

शिशिरकरकान्तमौलि कटकस्थितपवनभोजनः सगुहः ।

विद्याधरोपसेव्यो विभर्ति लक्ष्मीमय शमोः ॥२४०॥

यह शिवजी की शोभा धारण करता है, क्योंकि इसके भी शिखर पर चन्द्रकान्त मणि हैं (शिव जी का सिर चन्द्र से कान्त अर्थात् मनोहर लगता है) इसके भी कटक अर्थात् मध्यभाग में सर्प निवास करते हैं (शिवजी के कटक अर्थात् बलय के रूप में सर्प रहते हैं), यह भी सगुह (अर्थात् गुहाओं से युक्त) है (और शिवजी गुह अर्थात् कार्तिकेय के सहित हैं), यह भी विद्याधरों से सेवित है (और शिवजी विशेष प्रकार की मन्-तन् विद्या को धारण करने वाले योगियों से युक्त हैं) ॥२४०॥

अथ तर्षशिखरसगतसुमनस इति जातनिश्रयो मन्ये ।

अभिलषति समुच्चेतु तारा निशि मुग्धकामिनीलोकः ॥२४१॥

यहाँ मुग्ध कामिनीयाँ रात में वृद्धों के शिखरों पर लगे फूल समझ कर आश्चर्य से भर कर तारों को तोड़ लेने की इच्छा करती हैं ॥२४१॥

आश्चर्यं यतुपान्ते तिष्ठन्त्येतस्य सप्त मुनयोऽपि ।

अथवा कस्याकर्षं न करोति समुन्नतिमंहताम् ॥२४२॥

आश्चर्य तो इसमें है कि इस पर्वत के समीप ही सप्तर्षि तारे रहते हैं, अथवा इसमें आश्चर्य कैसा, नष्टों की समुन्नति किसे आकृष्ट नहीं करती ? ॥२४२॥

अवगत्य निरवलम्बनमम्बरमार्गं पतंगतुरगाणाम् ।

अथमवनिधरो मन्ये विश्रान्त्यै वेवसा विहितः ॥२४३॥

ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ने आकाश मार्ग को निरवलम्बन जानकर सूर्य के घोड़ों के विश्राम के लिये इस पर्वत को बनाया है ॥२४३॥

मकार की उपलब्धिया हासिल की थीं, जैसा कि 'हृषिकेशि' में वे लिखते हैं—उदार स्यवहार वाले यज्ञ यज्ञे राजकुलों को देजता, अनिन्द्य विद्याओं से उद्भासित गुरु-कुलों में निवास करता, मूल्यवान् धातु-चीत और गम्भीर गुणों वाले लोगों की गोपित्यों में भाग लेता एवं विदग्ध जनों के मण्डलों (गोपित्यों) का गहन करता ... (प्रथम उच्छ्वास) ।

इममाश्रित्य हिमांशोरोपधयः संनिकर्षमुपयाताः ।

प्रत्यासत्तिः प्रभुणा प्रायोज्जुग्राहकवशेन ॥२४४॥

इसी पर्वत को आश्रयण करके अं पधियों ने (अपने पति) चन्द्र का सनिकर्ष प्राप्त किया, प्रायः बीच वाले अनुग्राहक के माध्यम से प्रभु का सान्निध्य लाभ होता है ॥२४४॥

सेक्तुमिवाशाकरिणोविसृजत्ययमवनिधरणपरिखिन्नान् ।

निर्भरसलिलकण्ठीघान् भवति हि सौहार्दमेककार्याणाम् ॥२४५॥

यह पर्वत पृथ्वी धारण करने से नितान्त खिन्न दिग्गजों को मानों खींचने के लिये अपने निर्भरों के जल-शीकर छिड़कता है, क्योंकि एक ही कार्य करने वालों का आपस में सौहार्द हो जाता है (पृथ्वी धारण करने का जो कार्य दिग्गजों का है वही महीभृत् होने से पर्वत का भी है) ॥२४५॥

हारीताहितशोभो मुदितशुको व्यासयोगरमणीयः ।

विश्रान्तभरद्वाजः समतामयमेति मुनिनिवासस्य ॥२४६॥

हारीत पक्षियों (हारिल चिड़ियों) से शोभित, शुक्र पक्षियों से उल्लसित, व्यास (विस्तार) के कारण रमणीय, भरद्वाज (भरत पक्षियों) का विश्राम-स्थान यह पर्वत हारीत, शुक्र, व्यास, भरद्वाज मुनियों से सेवित आश्रम की समता प्राप्त करता है ॥२४६॥

अस्मिन्निःसंगा अपि परलोकप्राप्त्युपायकृतयत्नाः ।

गन्धवहभोजना अपि न हिंसका फलभुजोऽपि न प्लवगाः ॥२४७॥

यहां निःसङ्ग हाकर भी परलोक (अन्य लोक अथवा मनुष्य पक्ष में मृत्यु के बाद जो लोक मिलता है) की प्राप्ति के उपाय में प्रयत्नशील, वायु भोजन करने वाले (सप, हिंसक प्राणी) हाकर भी अहिंसक, वानर न होकर भी फल के भोगी ॥२४७॥

शुभकर्मकरता अपि पटकर्मणोऽप्यता अपि स्ववशाः ।

अनभिमतरीद्वचरिताः शिवप्रिया अपि वसन्ति शमनिरताः ॥२४८॥

एकमात्र शुभ कर्म में निरत होकर भी पटकर्म (अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह) में निरत, यत् (यद्, पक्ष में जितेन्द्रिय) होकर भी स्वाधीन, रीद्वचरित (र्द्व = शंकर के चरित, पञ्च में मयंकर आचरण)

म अन्नभिमत होकर भा शिव के प्रेमी, शान्त स्वभाव (नपस्त्री जन) निवास करते हैं ॥२४८॥

मूर्तिरिव शिशिररश्मेर्हरिणवती सप्तपत्रकृतशोभा ।

सरणिरिव चण्डभासः पलाशिनो यातुधानजायेव ॥२४९॥

मृग के रहने से मृगाक (चन्द्र) की मूर्ति के समान, सप्तपत्र वृक्ष (सतमन के पेड़ों) से शोभित हो सप्तपत्र (सात घोड़ों) वाले सूर्य के रथ की सरणि के समान, पलाश वृक्षों से शोभित होकर पलासिनी (मास भक्षण करने वाली) राक्षसी मेना के समान ॥२४९॥

सोत्कण्ठेव समदना वासकसज्जेव कृततिलकशोभा ।

बहुहरिपीलुसनाया नरनाथद्वारभूमिरिव ॥२५०॥

मदन वृक्ष (धूरे के पेड़) के रहने के कारण समदना उत्कण्ठता ^१ नायिका के समान, तिलक वृक्षों के अवस्थित होने के कारण तिलक (त्रिशेक) से शोभित वासकसज्जा ^२ नायिका के समान बहुत से हरिचन्दन और पीलु वृक्षों से युक्त होने से हरि (अश्व), पीलु (हाथी) ने समायुक्त राजद्वार-भूमि के समान ॥२५०॥

अर्जुनवाणत्रातेः कुस्नाथवरूथिनीव सद्यता ।

ऋक्षसहस्रोपचिता लक्ष्मीरिव गगनदेशस्य ॥२५१॥

अर्जुन और वाण नामक वृक्षों से ढँकी रहने के कारण अर्जुन के राण समूह से ढँकी कौरव सेना के समान, हजारों ऋक्षों (भालुओं) से सजर्धित होने से ऋक्ष-सहस्र (हजारों तारागण) सर्वाधृत आकाश-लक्ष्मी के समान ॥२५१॥

ध्वजिनीव दानवानां मृष्टकसमधिष्ठिता त्रियामेव ।

उद्यातरोहिणीका रम्येयमुपत्यका भाति ॥२५२॥

मिष्टक अर्थात् आम्रवृक्षों से अधिष्ठित होने से मिष्टक नामक दैत्य से

१—प्रियमिलन की उत्कण्ठता वाली नायिका। यह कामसे अन्यन्त अभिभूत, तरल मानस वाली, पसीने से तर और कापती हुई एवं रोमाञ्चित अङ्गों वाली नायिका 'उत्कण्ठिता' कहलाती है।

२—यह अवस्थाकृत भेद के अनुसार अष्टविध नायिकाओं में एक प्रकार की नायिका है। जब नायिका प्रिय के आगमन की उत्कण्ठता में अपने वासकागार (भोगावास) को सद्य प्रकार से सुसज्जित करके बैठती है तब उसे 'वासकसज्जा' कहते हैं।

समधिष्ठित दानवी सेना के समान, रोहिणी अर्थात् हरीत के उत्पन्न होने से रोहिणी नामक नदी जिसमें उदित है ऐसी रात्रि के उमान यह रमणीय उपत्यका (पर्वत के नीचे की समतल भूमि) शोभा दे रही है ॥२५२॥

इति दर्शयति वयस्येसुन्दरसेने च पश्यतिप्रीत्या ।

स्वप्रस्तावोपगता गीतिरिय केनचिद्गीता ॥२५३॥

इस प्रकार जब मित्र विरला रहा था और सुन्दरसेन ललक से देख रहा था तभी किसी ने अपने कथा-प्रसङ्ग में याद आई इस गीति (एक प्रकार की आर्या) का गान किया ॥२५३॥

‘अतिशयितनाकपृष्ठ पृष्ठं ये नार्वुदस्य पश्यन्ति ।

बहुविययपरिभ्रमण मन्ये क्लेशाय केवल तेषाम्’ ॥२५४॥

‘स्वर्ग से बढ कर इस यात्रू पर्वत के पृष्ठभाग को जो नहीं देखते, उनका बहुत से देशों का घूमना केवल क्लेश के लिए हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ ॥२५४॥

आकर्ष्यं च स वभापे महात्मनानेन युक्तमुपगीतम् ।

शिल्लरिशिर. पश्यामो वयस्य रम्य समारुह्य ॥२५५॥

सुनकर सुन्दरसेन बोला—‘मिन, इस भलेमानुष आदमी ने ठीक कहा है, इस पहाड की रमणीय चोटी पर चढ कर देखें, ॥२५५॥

अथ गिरिवरमारुढो विलोकयन्विविधविवुधभवनानि ।

वापोरुद्यानभुवः सरासि सरितश्चचार विस्मेर. ॥२५६॥

अनन्तर वह पहाड की चोटी पर चढ गया, वहाँ अनेक प्रकार के देवालयों, वाकियों, उद्यान, सरोवर और नदियाँ आश्चर्य के साथ देखता हुआ घूमने लगा ॥२५६॥

विचरन्नुपवनमण्डपपुष्पप्रकराभिरामभूपृष्ठे ।

रममाण्ण मह सत्या ललनामालोक्यामाम ॥२६०॥

(इसी समय) पुष्पाशीर्ण अभिराम उपवन भूमि में विचरण करते हुए उसने सरसी के साथ शीटा करती हुई एक ललना को देता ॥२६०॥

अचिरामामिव विघना ज्योत्स्नामिव कुमुदवन्धुना विकलाम् ।

रतिमिव मन्मथरहिता श्रियमिव हरिवक्षस. पतिताम् ॥२५७॥

, वह मेघवियुक्त विजनी, चन्द्रविरला चाँदनी, मन्मथरहिता रति, विष्णु के वक्ष से गिरी लक्ष्मी ॥२५७॥

हस्तोच्चयं विधातुः सारं सकलस्य जंतुजातस्य ।

दृष्टान्तं रम्याणां शस्त्रं संकल्पजन्मनो जैत्रम् ॥२५८॥

विधाता के हस्त शिल्प का नमूना, समस्त जीवनगत का सार, रमणीय वस्तुओं का दृष्टान्त, कामदेव का जयशील शस्त्र ॥२५८॥

विकसितकुसुमसमृद्धिं शृंगाररसापगैककलहंसीम् ।

लीलापल्लववल्ली व्रतिनामवधानवर्मणां भल्लीम् ॥२५९॥

खिले हुए पुष्पों की समृद्धि, शृङ्गार रस की नदी की एकमात्र कलहसी, लीला के पल्लवों वाली लता और तपस्वियों की समाधि की वज्र को चकनाचूर कर देने वाली भल्ली थी ॥२५९॥

अवलोकयतस्तस्य स्मरसायकवेव्यतामुपगतस्य ।

इदमभवन्मनसि चिरं विस्मयभाराभिभूयमानस्य ॥२६१॥

जब भुन्दरसेन उसे देखता हुआ कामदेव के बाण से विंध गया तब आश्चर्य के भार से अभिभूत होते हुए उगने देर तक मन में यह सोचा ॥२६१॥

केदं खलु विश्वसृजः कौशलमत्यद्भुतं समुपजातम् ।

येन विरुद्धानामपि घटितैकत्र स्थितिस्तथाहीयम् ॥२६२॥

‘यह विधाता का अद्भुत निर्माण कौशल कहाँ से उत्पन्न हुआ, जिससे परस्पर विरुद्ध पदार्थों का एकत्र संगठन है ॥२६२॥

ललितवपुर्निर्दोषा स्फुरदुज्ज्वलतारकाभिरामा च ।

निर्वाच्यवदनकमला जितवोणा कणितवाणी च ॥२६३॥

जैसा कि यह रमणी ललित देह वाली निर्दोष और चमकदार और उज्ज्वल आँसों के तारों से अभिराम है। इसका मुखकमल अबचनीय है, बाणी वीणा को पराजित करने वाली है और कवणन (वीणा की आवाज) जैसी है ॥२६३॥

प्रकटितविग्रहसंस्थितिरतिशोभाघटितसंधिवन्धा च ।

उन्नतपयोधराढ्या शरदिन्दुकरावदाता च ॥२६४॥

उसके अंगों का सम्भान स्पष्ट दिखाई दे रहा है और अपनी अधिकतम शोभा से इसके सब अङ्गों का मेल बैठा हुआ है, ऊँचे-ऊँचे पयोधरों (स्तनों) वाली है और शरत्कालीन चन्द्र की चाँदनी के समान धवल है। ॥२६४॥

अभिमतसुगतावस्थितिरभिनन्दितचरणयुगलरचना च ।

अतिविपुलजघनदेशा विध्वस्तशरीरविहितशोभा च ॥२६५॥

सुन्दर चाल से चलना और रुकना इसे अभिमत है और जिसके दोनों चरणों की रचना का लोग अभिनन्दन करते हैं । इसका जघनदेश अति विराल है और कामदेव के कारण इसकी शोभा है ३ ॥२६५॥

१—ऊपर के तीन श्लोकों (२६४-२६६) में कवि ने प्रस्तुत नायिका में श्लेष घटित विरोधाभास के द्वारा परस्पर विरोधी वस्तुओं का एकत्र सघटन बताया है । क्रम से उसे इस प्रकार समझना चाहिए—

नायिका निर्दोषा है, दोष अर्थात् बाहु, निर्गन्त बाहु वाली अर्थात् बाहुहीन है, फिर वह ललित वपु अर्थात् शोभित शरीर वाली कैम्पे है, अथ च, दोषा अर्थात् रात्रि, निर्दोष अर्थात् रात्रि रहित है फिर चमकते हुए तारों, नक्षत्रों से अभिराम कैसे है ? विरोध का परिहार यह है कि नायिका निर्दोष अर्थात् दोषों से रहित है, उसमें कोई दोष नहीं और चमकदार अँकों के तारे से अभिराम है ।

उसका मुखकमल निर्वाच्य अर्थात् वाणी रहित है, फिर उसकी वाणी वीणा को जीत लेने वाली कैसे है ? परिहार यह कि उसका मुखकमल निर्वाच्य अर्थात् अवचनीय (जिसमें कोई कहन, दोष देने की बात नहीं) है ।

जब कि उसने वाणी के द्वारा वीणा को पराजित कर दिया है तब उसकी वाणी कथित अर्थात् वीणा की आवाज जैसी कैम्पे है ? परिहार यह कि वीणा स आधक मीठी वाणी बोलती है और जो वीणा की आवाज जैसी सुन पड़ती है ।

जब कि उसने विग्रह अर्थात् युद्ध की सास्थिति को प्रकट किया है फिर शोभा के द्वारा सधेय अर्थात् मेलामलाप कैम्पे पर दिया है ? परिहार है कि विग्रह की सास्थिति अर्थात् अश्रुओं का विन्यास, अपना जगह पर रचना और सधेय अर्थात् अश्रुओं का सरलेय गठन ।

जब कि ऊँचे ऊँचे पयोधरों अर्थात् नेत्रों से परिपूर्ण है तब फिर शरत्कालीन चन्द्र की चाँदनी स अवदात कैम्पे है ? परिहार यह कि ऊँचे ऊँचे पयोधरों अर्थात् स्तनों वाली है और शरत्चन्द्र की चाँदनी के सदृश धनल है ।

जब कि सुगत अर्थात् युद्ध में अवस्थिति जिसे अभिमत है तब फिर चरणों अर्थात् वेद की शाखाओं की रचना अभिनन्दित कैम्पे है ? परिहार यह है कि सुगत अर्थात् शोभन गमन उस अभिमत है और चरण अर्थात् पैर उसका अभिनन्दित है ।

जबकि उसका जघन भाग अति विराल है फिर उसके शरीर की शोभा विध्वस्त अर्थात् विनाश प्राप्त कैम्पे है ? परिहार यह कि उसका जघन भाग अति विराल है और विध्वस्त अर्थात् विनाश को प्राप्त, शिव के द्वारा दग्ध है शरीर जिसका प्ये कामदेव द्वारा जिम नायिका की शोभा सम्पादित है ।

आविर्भवदनुरागे तस्मिन्नथ वलितलोचना सहसा ।

मापि वभूव मृगाक्षो हस्तगता कुसुमचापस्य ॥२६६॥

मुन्दरसेन के हृदय में अनुराग उत्पन्न हो ही रहा था कि मृग के समान शक्तिवाली वह सुन्दरी भी उस पर दृष्टि पड़ते ही सहसा कामदेव के वशीभूत हो गई ॥२६६॥

तरुमूलमाश्रिताया विस्मृतसकलान्यकर्मणः सपदि ।

तस्या गात्रलतायामंकुरित सात्त्विकैर्भवैः ॥२६७॥

वह वृक्ष के नीचे जा बैठी और शीघ्र ही अपने दूसरे सारे काम भूल गई । उसकी अद्भुतलतिमा में सात्त्विक भाव^१ अंकुरित होने लगे ॥२६७॥

सैवोपवनसमृद्धिस्तस्मिन्नेव क्षणे स्मर समाश्रित्य ।

तां व्यथयितुमारंभे प्रभोर्हि कृत्य करोति खलु सर्वः ॥२६८॥

वही उपवन-समृद्धि (जो कुछ ही देर पहले उने सुख दे रही थी) उसी क्षण कामदेव को स्मरण करके उसे व्यथित करने लगी ; अपने मालिन का काम कर करते हैं ॥२६८॥

गात्रसरसेधनेभ्यः प्रस्वेदजल विनिर्ययो तस्याः ।

अन्तज्वलितमनोभवहव्यभुजा दह्यमानेभ्यः ॥२६९॥

भीतर ही भीतर प्रज्वलित कामाग्नि के कारण जली जाती हुई उसके अङ्गों की शिरा-संधियों में पसीना छूटने लगा ॥२६९॥

कुसुमशरजालपतिता मुहुर्मुहुर्विदधतो विवृत्तानि ।

अनिर्मेपं पश्यन्ती मत्स्यवधूमनुचकार सा तन्वी ॥२७०॥

कामदेव के जाल में फँसी, बार-बार छटपटाती और अश्लक देखती हुई वही तन्वी मछली का अनुकरण करने लगी ॥२७०॥

स्तव्यतनुं सोत्कम्पां पुलकवती स्वेदिनी मनिःश्वामाम् ।

विदधे तामसमशरः क्रीडति हि शठो विशिष्टमासाद्य ॥२७१॥

विपमयाण कामदेव ने उसे जडीभूत शरीर वाली, कपकपी से भरी,

१—सात्त्विक भाव आठ प्रकार के वर्णित हैं—

स्तम्मः स्वेदोऽथ रोमाश्चः स्वरमङ्गोऽथ वेपथुः ।

वैवर्ण्यमथ प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः॥

रोमाञ्चयुक्त, पसीने से तर और निःश्वासयुक्त बना डाला ; शठ विशेष स्थान पाकर और खेल खेलने लग जाता है ॥२७१॥

उच्छ्वासैरुल्लसन् कुचयुगले सौष्ठवं विलासानाम् ।

अभिलपितेन प्रेम्णा स्निग्धत्वं चक्षुषोर्मनोहारि ॥२७२॥

उच्छ्वासाँ के कारण उसके स्तन उल्लसित हो उठते थे, उसके मन में एक विशेष इच्छा के उत्पन्न हो जाने के कारण उसके विलासों में अधिकतर चारुता उत्पन्न हो गई थी, प्रेम के कारण उसकी आँखों में मन हर लेने वाली स्निग्धता छा गई थी ॥२७२॥

अनुरक्तया वदनरुचिं वचसि च गमने साध्यसस्वलनम् ।

तस्या मदनः कुर्वन् उपनिन्ये चारुतामवधिम् ॥२७३॥

अनुराग के कारण उसके मुख की कान्ति कुछ और ही हो गई थी, वाणी और गमन दोनों में उसके भय के कारण स्वलन होने लगा ; इस प्रकार काम-देव ने उसकी चारुता को सीमा तक पहुँचा दिया ॥२७३॥

पार्श्वगतेऽपि प्रेयसि कामशरासारताड्यमानापि ।

न शशाक साऽभिघातुं चित्तगतं प्रणयभङ्गतो भीता ॥२७४॥

प्रियतम के पास होने पर भी, काम के बाणों की वर्षा से ताड़ित होती हुई भी प्रणय-भंग हो जाने की आशंका से डरी हुई वह अपने दिल की बात न कह सकी ॥२७४॥

अथ विदितचित्तवृत्तिः सक्तदमं प्रियतमे समाकृष्य ।

मदनेन दह्यमानां विहसितविशदं जगाद तामाली ॥२७५॥

अनन्तर उसकी चित्तवृत्ति को जानकर, प्यारे में लगी आँसों वाली एवं कामाग्नि में जलती हुई उसे लींचकर सखी मुस्कुराते हुए बोली ॥२७५॥

अयि हारलते संहर हरहुँकृतिदग्धदेहसंक्षोभम् ।

सद्भावजानुरक्तिर्नहि रम्या पण्यनारोणाम् ॥२७६॥

अरी हारलते, शिव जी के हुंकार से दग्ध शरीर वाले कामदेव द्वारा जनित उद्वेग धी दूर दटा, क्योंकि याषासू औरतों के लिये सद्भावजनित अनुराग हितकर नहीं ॥२७६॥

अवधीरय घनविकल कुरु गौरवमकृशसम्पदः पुंसः ।

अस्मादशा हि मुग्धे घनसिद्धौ रूपनिर्माणम् ॥२७७॥

घनरहित पुरुष को छोड़ और बहुत घन वाले पुरुष का गौरव (सम्मान) कर ; क्योंकि अरी बेवकूफ, हम-जैसियों के रूप का निर्माण घन कमाने के लिए हुआ है^१ ॥२७७॥

अभिरामेऽभिनिवेशं विदधाना विविवलाभनिरपेक्षा ।

उपहस्यसे सुमध्ये विदग्धवाराङ्गनावारे. ॥२७८॥

अरी सुन्दर वटिभाग वाली, तू नाना प्रकार के लाभों की परवाह न करके फेजल सुन्दर (दिपाईं देने वाले) पुरुष में अभिनिवेश जो कर रही है तो चालान घेरवाओं की जमात में तेरी खिल्ली उड़ेगी ॥२७८॥

येपाश्लाघ्यं यौवनमभिमुखतामुपगतो विधियेपाम् ।

फलित येपा सुकृतैर्जीवितसुखितार्थिता येपाम् ॥२७९॥

जिनका यौवन प्रशसनीय है, जिनका भाग्य अनुकूल हो गया है, जिनका पुण्य फलित हो चुका है और जो जीवन का आनन्द चाहने वाले हैं ॥२७९॥

अभिमान है । इसमें उत्पन्न अनुरक्ति को 'अभिमानिकी अनुरक्ति' कहते हैं । वाग्शायन के अनुसार प्रीति चार प्रकार की होती है—

अभ्यासादाभिमानाच्च तथा सम्प्रत्ययादपि ।

विपयेभ्यश्च तन्त्रज्ञाः प्रीतिमाहुश्चतुर्विधाम् ॥२१?॥

उभमें अभिमानिकी प्रीति का लक्षण है—

'अनभ्यस्तेष्वपि पुरा कर्मस्वविपयात्मिका ।

सङ्कल्पाज्जायते प्रीतिर्यासा स्यादाभिमानिकी ॥

रूप गोलामी ने और भी स्पष्ट रूप से इन्में समझाया है—

'सन्तु रम्याणि भूरीणि प्रार्थं स्यादिदमेव मे ।

इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते ॥

प्रस्तुत में सजी ने ऐसी प्रीति करना बेरवाओं के लिए अपर्या (हानिकार) कहा है ।

१—२७७ के उत्तरार्ध और २७८ आर्वा का कथ्य वैशिक ज्ञान का शास्त्रत मूलधार है । जैसा कि सजी ने कहा है 'हमारा रूप निर्माण घन सिद्धि के लिए होता है' ठीक हमी प्रकार की नसोदत 'उमरार जाल' ने भी किया है—

'ए बेवकूफ रडो, कभी हम भुलावे में न आना कि कोई तुम्हो मन्चे दिल मे

तेऽवश्यं स्वयमेव त्वामनुवध्रंति मदनशरभिन्नाः ।

नहि मधुलिहः कृशोदरि मृग्यन्ते चूतमजर्या ॥२८०॥

वे अवश्य स्वयं कामदेव के बाणों से भिद तक तेरे पीछे पड़ेंगे । हे कृश उदर वाली, ग्राम की मञ्जरी भौरों की खोज नहीं किया बरती ॥२८०॥

इति गदितवतीमाली कामशरासारभिन्नसर्वाङ्गी ।

अव्यक्तस्खलिताक्षरमूचे कृच्छ्रेण हारलता ॥२८१॥

यह कहती हुई सखी से हारलता, जिसके अग अग काम-बाणों की वर्षा से भिद गए थे, बड़े कष्ट से, अखण्ड एव दृढ़ती आवाज में बोली ॥२८१॥—

सखि कुह तावद्यत्नं बहुमनसिजवेदनाप्रतीकारे ।

क्रोडीकृता विपत्या न भवत्युपदेशयोग्या हि ॥२८२॥

‘हे सखी, असह्य वेदना को रोकने के लिए तब तक शीघ्र यत्न करो, क्योंकि विपत्ति के मारों को उपदेश नहीं दिया करते ॥२८२॥

अस्वायत्तः प्रेयान्मृदुपवन. सुरभिमास उद्यानम् ।

इयती खलु सामग्री भवति हि क्षीणायुषामेव ॥२८३॥

अस्वाधीन प्रिय, हल्की हवा, वसन्त का महीना, बाग इतनी सामग्री क्षीण आयु वालों के ही होती है ॥२८३॥

मत्वा मदनाशीविपविपवेगाकुलितविग्रहामालीम् ।

समुपेत्य शशिप्रभया पौरंदरिरभिदधे कृतप्रणतिः ॥२८४॥

जब शशिप्रभा को यह मालूम हो गया कि सखी हारलता का शरीर काम-रूपी निप के वेग से आतुल हो उठा है, तब आकर प्रणाम करके पुरन्दर के पुत्र सुन्दरसेन से बोली ॥२८४॥

यदि नाम रूणद्धि गिर गणिकाभावोपजनितवैलक्ष्यम् ।

तदपि कथनीयमेव स्निग्धापदि नहि निष्प्यते युक्तम् ॥२८५॥

‘गणिका होने के कारण उत्तर जो लज्जा है वह वाणी को रोक नहीं है

पादेगा । तब आरतना जो तुझ पर जान देता है, चार दिन के बाद चलता फिरता नजर आवेगा । यह तुझमें हरगिज प्याह नहीं कर सकता और न इस मायक है...’ ।

तयापि कहना ही पड़ेगा, क्योंकि मनेही जन की आपत्ति में युक्तायुक्त का विचार नहीं करते ॥२८५॥

एतावति संसारे परिगणिता एव ते सुजन्मानः ।

आपन्नपरित्राणे व्याकुलमनसः स्फुरन्ति ये बुद्धो ॥२८६॥

इतने बड़े संसार में ये सुजन्मा लोग इने-गिने ही याद आ रहे हैं जिनका मन आपत्ति में पड़े हुए रक्षा के लिए व्याकुल हो उठता है ॥२८६॥

यस्मिन्नेव मुहूर्ते यदवधि दृष्टोऽसि मे सख्या ।

तत एवारभ्य गता विधेयता दग्धमदनस्य ॥२८७॥

जिस क्षण मेरी सखी को तुम दृष्टि-गोचर हुए हो उसी क्षण से वह मुझे कामदेव के इशारे पर चलने लगी है ॥२८७॥

रोमोद्गमसंनहन भित्त्वान्तर्विग्रह परापतिता ।

तस्या मानससम्भवकोदण्डविनिर्गता दूपवः ॥२८८॥

कामदेव के धनुष से निम्नले हुए बाण उसके रोमाञ्च के वचन की मेद कर भीतर शरीर में गड़ गये हैं ॥२८८॥

किंवा वदतु वराकी कुच समाश्रसितु यातु क शरणम् ।

पोड्यति भृशं यस्मान्नित्य शुचिदक्षिणो मृदु पवन ॥२८९॥

वह बेचारी क्या बोले, कहाँ सोंस ले, किसकी शरण में जाय ? जिसस कि हरदम मृदु शृंगारी पवन उसे पीड़ित कर रहे हैं ॥२८९॥

वचसि गते गद्गदतामुज्झितमीनव्रताश्चिराय पिका ।

हृष्टा व्यययन्ति सखी जातावसरा निरगलं विरुतेः ॥२९०॥

सखी की आवाज जब गद्गद् (अव्यक्त-स्फलित) हो गई तब अचसर पाकर प्रसन्न कोकिल मीन व्रत को छोड़, दर से सखी को अधिक कष्ट दे रहे हैं ॥२९०॥

स्खलिताकुलिते गमने तन्वद्भ्या अगणितश्रमा हंसाः ।

सुचिराल्लब्धावसराः कुर्वन्ति गतागतानि परितुष्टा ॥२९१॥

तन्वद्भि के स्फलित और आकुलित गति के होने पर दर क शब्द अचसर पाकर हम अथक नाल में परितुष्ट हो जाना-आना (गमनागमन) करने लगे हैं ॥२९१॥

उष्णोच्छ्वसितसमीरैर्विंदह्यमानोऽपि मधुकरस्तस्या ।

अलककुसुमं न मुंचति कृच्छ्रेष्वपि दुस्त्यजा विषयाः ॥२६२॥

उसकी गर्म साँस के समीर जलता हुआ भी भौरा उसके अलक पर के फूल नहीं छोड़ रहा है, दुःख की स्थितियाँ में भी विषयों का त्याग कठिन होता है ॥२६२॥

नो वारयति तथा मां सांप्रतमिति कथयतीव मधुलेहः ।

निःसहवपुषः कर्णे श्रुतिपूरकपुष्पसंगतो गुंजन् ॥२६३॥

निःसह शरीर वाली उस (हारलता) के कान में कनफूल पर बैठ कर गुजार करता हुआ भौरा मानो उससे कहता है कि पहले की भाँति अब तुमके वारण नहीं करती ॥२६३॥

प्रशिथिलभुजलतिकायास्तस्याः पतितस्य हेमकटकस्य ।

यत्प्रापणं पृथिव्यास्तस्मिन् खलु मुक्तहस्तता हेतुः ॥२६४॥

अधिक शिथिल भुजलता वाली उसके हाथ से गिरे हुए सोने के कगन का जो जमीन पर पड़ जाना है उसमें हेतु उसका मुक्त अर्थात् शिथिल हस्त वाली होना है (श्लेष से उसकी मुक्तहस्तता अर्थात् उदारता हेतु है) ॥२६४॥

रशनागुणेन विगलितमेकपदे तन्नितम्बतश्चिद्रम् ।

पतनाय नियतमथवा निपेवणं गुरुकलयस्य ॥२६५॥

यह आश्चर्य की बात है कि उसके नितम्ब से रशना-गुण (करधानी) एका-एक गिर पड़ा, अथवा क्यों न हो ? गुरु के कलय (पत्नी) का सेवन (गमन) पतन का कारण होता ही है (क्योंकि रशनागुण ने गुरु अर्थात् विशाल नितम्ब के कलयभूत धोखे का सेवन किया, अर्थात् उसके साथ रहा) ॥२६५॥

अङ्गीकृत्य मनोभवमुरसि तथा लालितोऽपि हतहारः ।

तापयति सखी तत्क्षमन्तभिन्नात्कुतः कुशलम् ॥२६६॥

इस प्रकार हृदय के समीर रग कर उसके द्वारा लालित हुआ भी गुप्ता हार कामदेव के पक्ष को अङ्गीकार कर मन्त्री को सन्तान कर रहा है, ठीक है अन्तर्भिन्न (एह अथवा मन में कलहादि द्वारा निष्प्रेर प्रसन्न, पक्ष में मन्त्रिणः ; क्योंकि हार बिना छिद्र निष्प्रेर गूया नहीं जा सकता, अतः यह भी अन्तर्भिन्न है) व्यक्ति से कल्याण कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥२६६॥

षक्षसि तत्स्वेदजलं कञ्जलमलिनाश्रुवारिणा मिश्रम् ।

कुचतटपतितं तस्याः प्रयागसम्भेदसलिलमनूकुस्ते ॥२६७॥

उसके शरीर पर गूने से मंकेद और कञ्जनयुक्त अश्रु से मिश्रित ; उसके स्तन तट पर टपका हुआ स्वेदजन प्रयाग में गंगा-यमुना के परस्पर मिश्रित जल का अनुसरण कर रहा है ॥२६७॥

पिकृष्टामलयसमीरणमुमनःस्मरमृङ्गदहनपरिकलिता ।

पंचतपरचरति भवत्परिरम्भणश्रीरख्यलम्पटा वाला ॥२६८॥

कुशारे आलितन के सुगंध के प्रति आसक्त यह यात्रा कोशित की कृष्ट, मत्पानित, पुष्प, कामदेव और मृङ्ग इन दाहनों से निर्गी कृष्ट पश्चात्त-नय कर गयी है ॥२६८॥

न परापतति वराकी दशमीं यावन्मनोमवावस्याम् ।

त्रायस्व सुभग तावच्छरणागतरक्षणं व्रतं महताम् ॥२६९॥

यह बेचारी जब तक अन्तिम दशमीं कामावस्था^१ (मृत्यु) तक नहीं पहुँच जाती है, तब तक है सुभग, इसे बचा लो क्योंकि शम्भुगण-गच्छा बड़े गौरी का व्रत है ॥२६९॥

अथ तद्वचसि कृतादरमुद्भूतमनोमवं समवधायं ।

अवगीतिमीतचेता ऊचे गुणपानितः सुहृदम् ॥३००॥

इतना कह कर शशिप्रभा के चले जाने के बाद गुण-पानित ने देखा कि सुन्दरमेव उसकी यात में आदर कर रहा है और उसका काम-राम उसपर हो गया है तो यस्या के साथ गूने की निन्दा से दगा हुआ वह मित्र ने बोला ॥३००॥

यद्यपि मारप्रसरो दुर्वारः प्राणिना नवे वयसि ।

चिन्त्यं तदपि वित्रैकमिरवसानं वारयोपितां प्रेम्णः ॥३०१॥

‘यद्यपि प्राणियों को नई श्रम्या में काम-वेग को रोक पाना कठिन होता

१—कामावस्था दश अवस्थाएँ—नयनप्रीति, चिन्तायग, मङ्गल, निद्राभेद, मनुता, विषयनिर्गुच, निद्रानाश, उन्माद, मूर्च्छा, एवं मृत्यु । ये काविक काम-दशाएँ हैं। मानसिक दशाएँ हैं—अभिष्टाय, चिन्ता, मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, प्रक्षार, उन्मत्तता, व्याधि, जङ्गा और मृत्यु ।

है तथापि विचारशील जनों को वाजारु औरतों के प्रेम के परिणाम के बारे में सोचना चाहिए ॥३०१॥

वारस्त्रीणां विभ्रमरागप्रभाभिलापमदनरुजः ।

सहवृद्धिक्षयभाजः प्रख्याताः सम्पदः सुहृदः ॥३०२॥ २

वेश्याओं के विभ्रम, राग, प्रेम, अभिलाप और कामव्यथा^१ ये सब धन-सम्पत्ति के मित्र कहे जाते हैं जो उसी के साथ बढ़ते-बढ़ते रहते हैं^२ ॥३०२॥

ताभिरवदातजन्मा कुर्वीत समागमं कथं यासाम् ।

क्षणदृष्टोऽपि प्रणयी रूढ़प्रणयोऽपि जन्मनोऽपूर्वः ॥३०३॥

उनसे कोई कुलीन व्यक्ति कैसे रुझ कर सकता है, जिनका तुरत का दृष्टि-पथ में आया हुआ भी प्रेमी बन जाता है और यों का गाढ़ प्रेमी भी ऐसा हो जाता है जिसे अभी देखा ही नहीं ॥३०३॥

प्रद्युम्नः प्रद्युम्नो विरूपकः खलु विरूपकः सततम् ।

सुस्निग्धः सुस्निग्धो रूक्षो रूक्षस्तु गणिकानाम् ॥३०४॥ ✓

वे गणिकाएँ अधिक ऐश्वर्य वाले व्यक्ति को सतत प्रद्युम्न अथवा दूसरा कामदेव कह कर गणना करती हैं, जिसके पास धन-सम्पत्ति नहीं उसे वे विरूपक

१—'सहवृद्धि' में स्पष्ट रूप से इनका अन्तर समझाया है—

‘प्रेमाऽभिलापो रागश्च स्नेहः प्रेम रतिस्तया ।

शृङ्गारश्चेति सम्भोगः सप्तावस्थः प्रकीर्तितः ॥

प्रेमा दिदृक्षा रम्पेपु तच्चित्तमभिलापकः ।

रागस्तत्सङ्गद्युधिः स्यात् स्नेहस्तत्प्रणयक्रिया ॥

तद्वियोगासह प्रेम, रतिस्तत्सह वर्तनम् ।

शृङ्गारस्तत्सम कांडा, सम्भोगः सप्तधाक्रमः ॥

२—अर्थात् कामुज जनों को सम्पत्ति की वृद्धि होने पर गणिकाओं के अनुराग की भी वृद्धि होती है और उनकी सम्पत्ति ज्यों ज्यों घटती जाती है त्यों त्यों उनका अनुराग भी घटता जाता है । आचार्य सेनेन्द्र लिखते हैं—

दासी दासी तावद् यावत्सुरूपस्य किञ्चिदस्ति करे ।

क्षीणधनपुरयराशेर्दृष्ट्वापा रवर्गनगराव ॥

(समयमावृत्त ८।११५) ।

अर्थात् विद्वत् रूप वाला (कुत्सित) कहती हैं, जो बहुत सम्पत्ति शाली हैं वह उनके समस्त स्नेहशील हैं और जो (धनहीन) स्नेहशील हैं उसे रूपा कहा करती हैं १ ॥३०४॥

यासां जघनावरणं परकौतुकवृद्धये न तु त्रपया ।

उज्ज्वलवेपा रचना कामिजनाकृष्टये न तु स्थितये ॥३०५॥

वे अपने जघन देश का आवरण; कामुकी के कुतूहल बढ़ाने के निमित्त करती हैं न कि लज्जा से; शृंगार कामुक जनों के आकर्षण के निमित्त करती हैं, न कि मर्यादा की भावना से ॥३०५॥

मांसरसाभ्यवहारः पुरुषाहृतिपीडया न तु स्पृहया ।

आलेख्यादौ व्यसनं वैदग्ध्यख्यातये न तु विनोदाय ॥३०६॥

मांस और उसका शीरा इसलिए चखती हैं कि पुरुषों के सम्पर्क से उत्पन्न उनके शरीर का दर्द कम हो, न कि इच्छा से; चित्र आदि कलाओं में शौन्य अपनी विदग्धता प्रकट करने के निमित्त रखती हैं न कि मन बहलाने के लिये ॥३०६॥

रागोऽवरे न चेतसि सरलत्वं भुजलतासु न प्रकृतौ ।

कुचभारेषु समुन्नतिराचरणे नाभिनन्दिते सन्निः ॥३०७॥

राग (लाली, दूसरे पद में अनुराग) उनके अधर में होता है, चित्त में नहीं; सरलता (सीधापन) उनकी भुजलताओं में होती है, स्वभाव में नहीं; उनके रोमिकल स्तनों में समुन्नति (ऊँचाई) है, आचरण में नहीं, जिनकी सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं ॥३०७॥

जघनस्थलेषु गौरवमाकृष्टघनेषु नो कुलीनेषु ।

अलसत्व गमनविधौ नो मानववंचनाभियोगेषु ॥३०८॥

उनके जघनों में गौरव (अर्थात् भारीपन) होता है, न कि खान्दानी लोगों के प्रति, जिनका धन वे खींच चुकती हैं, वे गौरव (अर्थात् समादर का भाव)

१—आचार्य श्री मेन्द्र का कहना है—

चित्तेन चेत्ति वैश्या स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम् ।

चित्तं विनाऽपि चेत्ति स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम् ॥

नहीं रखती ; आलस्य उनके चलने में है, लोगों के ठगने के कार्यों में वे आलस्य नहीं करती ॥३०८॥

वर्णविशेषापेक्षा प्रसाधने नो रतिप्रबन्धेषु ।

ओष्ठे मदनासङ्गो नो पुरुषविशेषसम्भोगे ॥३०९॥

उन्हे मिंगार-पटार में लाल-पीले आदि वर्णों की अपेक्षा होती है न कि मुरत के प्रसंगों में वे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण-विशेष की अपेक्षा रखती हैं ; मदन का उदय सिर्फ उनके ओंठ में रहता है, न कि पुरुष विशेष के साथ सम्भोग के कार्य में मदनोदय होता है ॥३०९॥

या बालेऽपि सरागा वृद्धेष्वपि विहितमन्मथावेगा ।

ह्योवेष्वपि कान्तदृशः साकांक्षा दीर्घरोगेऽपि ॥३१०॥

जो वेश्याएँ बालक के प्रति भी अनुरागवती होती हैं, धूर्तों में मदनावेग का प्रदर्शन करती हैं, नपुंसकों पर भी काम-पूर्ण दृष्टि रखती हैं और पुराने बीमार पर भी इच्छुक रहती हैं ॥३१०॥

स्वेदाम्बुकणोपचिता न चार्द्रता निजनिवासमनसश्च ।

आविष्कृतवेपथवो वज्रोपलसारकठिनाश्च ॥३११॥

(रतिभ्रम के कारण) वे स्वेदजल के कणों से आर्द्र रहती हैं पर उनमें रहने वाला उनका मन (या हृदय) आर्द्र नहीं होता ; पुरुषों को ठगने के लिये बाहर से कर्कश प्रकट करती हैं लेकिन खुद वे हीरे की भाँति कठोर होती हैं ॥३११॥

जघनचपला अनार्या परभृतयः कृतकनेचरागाश्च ।

सर्वा गार्पणदक्षा असमर्पितहृदयदेशाश्च ॥३१२॥

वे जघनचपला और अनार्या होती हैं (विरोध यह कि जघनचपला नाम का छन्द आर्या छन्द के अन्तर्गत होता है फिर यह अनार्या कैसे हो सकती है ? परिहार यह कि वेश्याएँ जघनचपला अर्थात् बहुत पुरुषों को समर्पण करती हैं एवं अनार्या अर्थात् हीन स्वभाव वाली होती हैं), परभृता और कृत्रिम-नयन-

१—मदनासंग—काम सम्बन्ध, पक्ष में मोम प्रयोग । हृत्त आर्या का अर्थ दो प्रकाश में है, जैसे (१) दंश अथवा शक्ति के कारण उत्पन्न अधर कत की स्थिति को शान्त करने के लिये 'मदन' अर्थात् मोम का प्रयोग ; अथवा (२) उनका 'मदनोदय' अर्थात् प्रेम उनके युग्म में ही रहता है, हृदय में नहीं ।

रागा होती है (विरोध यह कि परभृता अर्थात् कोमिला स्वरूप होती है, फिर उनके नेत्र का राग वृत्तिम कैसे होता है ? कोयल की ग्राँठ स्वाभाविक लाल होती है। परिहार यह कि चेर्याएँ परभृता अर्थात् दूसरों के निमित्त जीवन वाली और नेत्र में पनावटी प्रेम धारण करने वाली होती है), समस्त ग्रह सर्पित करने में चतुर और हृदय को न समर्पित करने वाली होती है (विरोध यह कि जब सभी ग्रह समर्पित कर देती है तब हृदय भी कैसे नहीं समर्पित करती ? परिहार यह कि सभी ग्रह समर्पित नरके भी दिल नहीं देती, अनासक्त रहती है) ॥३१२॥

न कुलसमुत्पन्ना अपि भुजंगदशनकृतवेदनाभिज्ञाः ।

कंदपंदीपिका अपि रहिताः स्नेहप्रसङ्गेन ॥३१३॥

नकुलों में समुत्पन्न होकर भी भुजंगों के दाँतों की पीटा से परिचित होती है (विरोध यह है कि नकुलों अर्थात् नेयलों के वश में उत्पन्न होकर भी भुजंगों अर्थात् सर्पों के दाँतों के आघातों की पीटा से अपरिचित कैसे हो सकता है ? नेयले और सर्प लड़ते समय एक-दूसरे पर दन्तावात करते हैं, परिहार यह कि चेर्याएँ कुलों में उत्पन्न नहीं होती उनकी जाति हीन होती है और भुजंगों अर्थात् बिटों के दाँतों के द्वारा क्षत होने पर उनकी वेदना से परिचित होती है), कामदेव की दीपिता और स्नेह के सम्बन्ध से रहित होती है (जब कि दीपिका है तो स्नेह अर्थात् तेल के सम्बन्ध से रहित कैसे होती है ? परिहार यह कि कामदेव को उद्दीपित करने वाली और स्नेह अर्थात् अनुराग से रहित होती है) ॥३१३॥

उज्ज्वलवृषयोगा अपि रत्तिसमये नरविशेषनिरपेक्षाः ।

कृष्णौकाभिरता अपि हिरण्यकशिपुप्रियाः सततम् ॥३१४॥

वृष-योग को छोड़ बैठी हैं और पुरुष विशेष की उन्हें अपेक्षा नहीं होती (विरोध यह कि जब कामशास्त्रोक्त वृष-लक्षण युक्त पुरुष को त्याग देती हैं, फिर विशेष पुरुष की अपेक्षा से रहित कैसे होती है ? परिहार यह कि वृष अर्थात् धर्म के योग से रहित होती है और उन्हें इस बात की अपेक्षा नहीं होती कि पुरुष किसी विशेष प्रकार का हो बल्कि सब प्रकार के पुरुषों के साथ संगम करती हैं), कृष्ण में एकान्त अनुरक्ता और निरन्तर हिरण्य-कशिपुप्रिया होती हैं (विरोध यह कि जो कृष्ण में अनुराग करती हैं उन्हें कृष्ण का शत्रु हिरण्य-कशिपु कैसे प्रिय हो सकता है ? परिहार यह कि कृष्ण अर्थात् कालिमा रूप

पाप में एकमान अनुरक्त रहती हैं और हिरण्य अर्थात् सुवर्ण और वशिष्ठ अर्थात् अन्न-यज्ञ इनके प्रिय पदार्थ हैं) ॥३१४॥

मेरुमहीधरभुव इव किपुरुषसहस्रसेवितनितम्बा ।

नोतय इव भूभिभृता सुपरिहृतानर्थसयोगाः ॥३१५॥

मेरुवर्षत के नितम्ब के समान उनके नितम्ब हजारों किपुरुषों (एक प्रकार की देवयोनि, पक्ष में कुलित पुरुष) द्वारा सेवित हैं, राजनीति में जिस प्रकार अनर्थ का संयोग (अर्थात् नाश अथवा भयानकता से उपलब्धि) का परिहार होता है उसी प्रकार वैश्याएँ भी अनर्थ संयोग (अर्थात् अर्थ या धन के संयोग से रहित (= धनहीन) का परिहार कर देती हैं ॥३१५॥

बहुमित्रकरजदारणलब्धाभ्युदयाः सरोरुहिष्य इव ।

डाकिन्य इव च रक्तव्याकर्षणकौशलोपेताः ॥३१६॥

कमलिनियों के समान व बहुमित्र कर द्वारा विदारण से अभ्युदय लाभ करती हैं (कमलिनियाँ मित्र अर्थात् सूर्य के बहुत से करों, किरणों द्वारा विदारण अर्थात् स्फुटन जनित अभ्युदय लाभ करती हैं, विकसित होती हैं और वैश्याएँ बहुत से मित्र बने लोगों के करों, हाथों द्वारा विदारण से अभ्युदय अर्थात् धन-सम्पत्ति लाभ करती हैं। डाकिनियों के समान रक्त (रक्त, पक्ष में अनुरक्त जनो) को खींच लेने का कौशल उन्हें मालूम होता है ॥३१६॥

प्रतिपुरुषं सनिहिताः कृत्यपरा विविधविकरणोपेताः ।

बहुलार्थप्राहिष्यः प्रकृतय इव दुर्गहा गणिकाः ॥३१७॥

गणिकाएँ प्रत्येक पुरुष का सन्निधान प्राप्त करके कृत्यपरा विविध विकारयुक्ता और बहुल अर्थप्राहिणी होकर प्रकृति के समान दुर्गहा होती हैं १ ॥३१७॥

१—इस श्लोक में पुरुष, कृत्य, विकरण, अर्थ, प्रकृति और दुर्गहा इतने शब्द प्रायः चार अर्थ रखते हैं, फलतः मूल में यह आर्या अर्थचतुष्टयवाचिनी कही गई है। पहले प्रत्येक के चार चार अर्थों को समझ लेना आवश्यक है—

पुरुष—(१) व्याकरण का प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष, (२) इस शरीर में रहने वाला अर्थात् आत्मा, (३) जीवात्मा, (४) प्राना में रहने वाला पुरुष।

कृत्य—(१) तथ्यादि प्रत्यय, (२) सुख द्वा समोहात्मक महदादि कार्य, (३) निज-निज करणीय कार्य, (४) स्नात राज्यांगों का कर्त्तव्य।

सादरमाकृष्य चिरं कुसुमस्तवकं च नरविशेषं च ।

रिक्तीकतुं निपुणाः क्षुद्राः क्षुद्राश्च चुम्बन्ति ॥३१८॥

क्षुद्राय (अर्थात् मधुमविराया) जिस प्रकार फूल के गुच्छे का देर तक मधु-
पान करते हुए उसी में सटी (चुम्बनासक्त) रहती है, उसी प्रकार क्षुद्रार्थ

विकारण या विकार—(१) शप् श्यन् आदि के योग में जो वृद्धि आदि विकार होते हैं, (२) साध्य दर्शनेक सोलह प्रकार के विकार, (३) मोघ, लोभादि, (४) विविध उपकरण ।

अर्थ—(१) शब्द का वाच्य, (२) हरयत्व और परिणामित्व विशिष्ट पदार्थ, (३) धन, ऐहिक सौभाग्य, (४) अपने राज्य की रक्षा और परराज्य की टोह आदि राजनीति अथवा राजकर ।

प्रकृति—(१) व्याकरण की प्रकृति, शब्द और धातु, (२) सन्ध, रज, तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था, जगत् का मूल कारण, (३) जीवात्मा या स्वभाव, (४) स्वामी, मन्त्री, महाय, धन, देश, दुर्ग और सैन्य ये सात प्रकार के राज्यात्मा ।

दर्शक—(१) 'दर' इस उपसर्ग को जो ग्रहण करता है, (२) शास्त्राभ्यास के द्वारा जो कष्ट से मालूम किया जाता है, (३) कष्ट में जो निश्चित किया जाय, (४) अपराजेय ।

इस प्रकार सम्पूर्ण श्लोक के चार गूढ़ार्थ निकलते हैं—

(१) व्याकरण का प्रकृतियों प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुषों के साथ रह, कृत्य आदि प्रत्यय के लगने पर नाता प्रकार के वृद्धि आदि विकारों से उपचित हो विविध अर्थों में व्यवहृत है और 'दर' इस उपसर्ग को भी ग्रहण करती है ।

(२) त्रियुक्त्यात्मक प्रकृति पुरुष अथवा आत्मा का सन्निधान प्राप्त करके सुख, दुःख, मोह रूप महदादि कार्यों का निर्माण करती हुई विविध विकारों को प्राप्त होती है, हरयत्व और परिणामित्व विशिष्ट बहुत से पदार्थ ग्रहण करती है, शास्त्रज्ञान के बिना उनका स्वरूप ज्ञान नहीं होता ।

(३) प्रकृतिया अर्थात् स्वभाव प्रत्येक पुरुष के अलग-अलग होते हैं, सब अपना-अपना करणीय कार्य करते हैं, काम, मोघ, लोभ आदि विविध विकार उनमें होते हैं, नाता प्रकार के सौभाग्य-लाभ की आकांक्षा करते हैं, उन्हें निश्चित करना अत्यन्त कठिन है ।

(४) राजनीति के स्वामी, मन्त्री, महाय, प्रकृति प्रकृति प्रजा व्यक्तियों (पुरुषों) के साथ सन्निधान प्राप्त कर, निज निज कार्य करके विविध प्रकार से वृद्धि प्राप्त हो अपने राज्य की रक्षा आदि रूप अर्थ सम्यक् प्राप्त करके, अथवा बहुत राजकर (दंड) द्वारा शक्तिशाली हो अपराजेय हो जाते हैं ।

(वेश्याएँ) कामुज जनों को आदरपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करके, जब तक वह निलकुल रिक्त नहीं हो जाता तब तक चुम्बनादि करती रहती हैं ॥३१८॥

परमार्थकठोरा अपि विषयगत लोहकं मनुष्य च ।

चुम्बकपापाणशिला रूपाजीवाश्चकर्षन्ति ॥३१९॥

लोहचुम्बक पत्थर की शिलाएँ जिस प्रकार वस्तुतः कठोर होकर भी अपने सामने के लोहे को खींच लेती हैं उसी प्रकार वस्तुतः कठोर स्वभाव वाली रूपाजीवाएँ (रूप का पेशा करने वाली वेश्याएँ) अपने गोचर हुए पुरुष को अपनी ओर खींच लिया करती हैं ॥३१९॥

पुरुषाक्राता. सतत कृत्रिमशृंगाररागरमणीया. ।

आहन्यमानजघना करेणवो चारयोपाश्र्व ॥३२०॥

जिस प्रकार हथिनियों पर हमेशा पुरुष आरूढ रहते हैं, जनाकरी सिगार-पटार और लाली से वे रूजसूरत दिखाई देती हैं और उनके जघन देह पर मदावत प्रहार करता है उसी प्रकार वेश्याएँ भी हमेशा पुरुषों से आश्रित रहती हैं, निरन्तर जनाकरी सिगार-पटार और प्रेम के कारण रमणीय प्रतीत होती हैं तथा सदा उनके जघन पर (कामुक जन) प्रहार करते रहते हैं ॥३२०॥

उच्चितगुणोत्क्षिप्ता अपि पुरतोऽपि निवेशिते सुवर्णलवे ।

भ्रगिति पतति मुखेन प्रकटप्रमदा यथा च तुला ॥३२१॥

जिस प्रकार तुलाएँ (तराजू) उड़ी हुई वस्तु (गुण) के जरिये उठाई जाने पर भी रती भर सोना आगे डाल देने पर ऋत् से आगे की ओर गिर जाती हैं—कुक जाती हैं उसी प्रकार प्रकट प्रमदाएँ (पेशवाँ औरतें अर्थात् वेश्याएँ) योग्य गुणों के द्वारा प्रवृत्त काम होकर भी थोड़ा सोना उनके आगे रख देने पर ऋत् मुँह की ओर से कुक जाती हैं ॥३२१॥

बहिष्पपादितशोभा अन्तस्तुच्छा. स्वभावतः कठिना. ✓

वेरया समुद्गिका इव कणन्ति यत्रप्रयोगेण ॥३२२॥

जिस प्रकार तिलीने राहर से रूढ़ निरुद्ध के चित्रित होते हैं और भीतर से लोपले होते हैं तथा स्वभावतः कठार होते हैं और जब बल पँठवे हैं तब बजने लगते हैं उसी प्रकार वेश्याएँ बाहरी तड़क भड़क रखती हैं, भीतर उनके कुछ नहीं रहता, स्वभावतः कण मिजाज रखती हैं और तरीक़ा में व्यवहार करने पर अनुकूल बलिब लगती हैं ॥३२२॥

वध्रंति येऽनुरागं देवहतात्मासु वारवनितासु ।

ते निःसरति नियत पाणिद्वयमग्रतः कृत्वा ॥३२३॥

जो अभाग्ये उन बाजालु औरतों में प्रेम रचते हैं वे निश्चय ही दोनों हाथ प्रागे की ओर पकारे (अर्थात् भिलममे वन कर) निकलते हैं ॥३२३॥

इदमुपदिशति वयस्ये सुन्दरसेने च मन्मथव्ययिते ।

प्रस्तावादुपघातं गीतित्रयमभ्यधाधि केनापि ॥३२४॥

इस प्रकार भिन गुणगालिन सुन्दरसेन के काम पीडित होने की हालत में जन उपदेश दे रहा था तभी किसी ने प्रसंग से तीन गीति नामक छन्दों का गान किया ॥३२४॥

तरुणी रमणीयाकृतिमुपनीतां स्मृतिभुवा वशीकृत्य ।

परिहरति यो जडात्मा प्रथमोऽसौ नालिको विना भ्रातिम् ॥३२५॥

'कामदेव द्वारा ग्रभीन करके लाई हुई, रमणीय आकृति वाली युवती को जो जड आदमी छोड़ देता है वह बिना अन्वेषण पटला अभाग्य है ॥३२५॥

इदमेव हि जन्मफलं जीवितफलमेतदेव यत्पुंसाम् ।

लटहनितम्बवतीजनसम्भोगसुखेन याति तारुण्यम् ॥३२६॥

'यही तो जन्म लेने का फल है और यही तो जीवित रहने का लाभ है जो पुरुषों का यौवन सुन्दर नितम्बिनिया के साथ सम्भोग के आनन्द में व्यतीत होता है ॥३२६॥

भुमनोमार्गणदहनज्वालावलिदह्यमानसर्वाग्य ।

प्रवलप्रभप्रवणाः प्रमदाः स्पृहयन्ति नाल्पपुण्येभ्यः ॥३२७॥

कामाग्नि की प्यारता से जिनका अग्न-अग्न जल रखा है ऐसी प्रेमावेग से मरी हुई नवोत्पत्तियाँ जिनका पुण्य थोड़ा होता है उन्हें नहीं चाहती ॥३२७॥

१— पुरप-भरीचा' का यह श्लोक प्रासंगिक है—

सीदर्यवल्लीव विलासविज्ञा तारुण्यसम्बन्धमनोहरश्रीः ।

सभागतये विजनेऽभिलाषादुपेक्षते केन विचक्षणोः ॥४३॥

एवमुपश्रुत्य वचः समुवाच पुरंदरात्मजः सुहृदम् ।

मम हृदयादिव कृष्ट्वा गीतमिदं साधुनाऽनेन ॥३२८॥

यह सुनकर सुन्दरसेन मित्र से बोला—‘मेरे दिल से निकाल कर ही इस भले मानुस ने यह गीत गाया है ॥३२८॥

तदतनुसायकविकलां हारलतां हरिणशावतरलाक्षीम् ।

आश्वासयितुं यामो गुणपालित किं विकल्पितैवंहुभिः ३२९॥

तो गुणपालित, काम से पीड़ित, मृगशिशु की भाँति तगल श्राँखों वाली हारलता को दिलासा देने के लिये हम चलें, इन बहुत प्रकार के ऊहापोहों से क्या लाभ ?^१ ॥३२९॥

अथ तत्र कापि गणिका गणयंती परिचितं हृतद्रविणम् ।

प्रविशन्तमेव मन्दिरमीर्ष्याव्याजेन निरुरोव ॥३३०॥

तत्पश्चात् वहाँ (जाकर देखा कि) किसी वेश्या ने किसी लुटेरे पन वाले परिचित पुरुष को, जब कि वह घर में प्रवेश कर ही रहा था, ईर्ष्या का बहाना करके (कि तुमसे पहले आया हुआ आदमी तुम्हें देखकर डाह करेगा) रोक दिया ॥३३०॥

काचिद्वचकदत्तं पुंजीकृतजीर्णवसनमवलोचय ।

वेश्या विपीदति स्म क्षपाक्षये वृत्तकर्तव्या ॥३३१॥

कोई वेश्या किसी ठग के द्वारा (पोटली जैसे) लपेट कर दिए हुए पटे-पुराने कपड़े को देख कर रात बीत जाने पर अपना सारा किया-कराया व्यर्थ जान विधाद करने लगी ॥३३१॥

दैवस्मृत्या पतितं दृष्टिपथे भग्नमूल्यविटमेका ।

ज्वलिता रूपा भुजिष्या जग्राह जवेन धावित्वा ॥३३२॥

सुरा-विस्मृती से कमाई का पैसा उड़ा कर भागा हुआ विट ज्यों ही दिरगाई पड़ा, क्रोध से तमतमाई वेश्या ने धेग से दौड़ कर उसे पकड़ लिया ॥३३२॥

१—‘सुकुन्दानन्दमाण’ का यह श्लोक संगत है—

परिरम्भश्रेलिपरिहासभापरौभृशमादतोऽपि न वशं समेति यः ।

स वधुजनोऽपि यतते यदि स्वयंमहणाय तत्सुरूपपुरयगौरयम् ॥१६४॥

अन्त स्थितकामिगृहद्वारगत लुप्तवित्तनरमन्या ।

समुवाच कुट्टनी व्रज कल्लोलाकल्पदेहेति ॥३३३॥

दूसरी कोइ कुट्टनी समाप्त धन वाले पुरुष को द्वार पर पहुँचा देल कर, जब कि उसके घर में कोइ कामुक पहले से आ ठहरा था, कह रही थी—“तेरे शरीर पर सिर्फ लहरियादार सफ़द कपड़ा^१ भर है, चलता जन ।” ॥३३३॥

प्रकटितदशननखक्षतिरभिदधती राजपुत्ररतियुद्धम् ।

अपरा पुर सखीना वारवधूराततान सौभाग्यम् ॥३३४॥

दूसरी कोइ वेश्या अपने शरीर के दन्तशतों और नखशतों को दिखा दिखा कर अपने साथ हुए राजपुत्र के रतियुद्ध को कहती हुई साथ वालियों के सामने अपना सौभाग्य प्रकट कर रही थी ॥३३४॥

अन्या कामिस्पधर्तविधितभाटी समत्सुका चण्डी ।

सौभाग्यगर्वदपं समुवाह विलासिनीमध्ये ॥३३५॥

दूसरी कोपना वेश्या, जब कामुकों की परस्पर संधा कर पड़ने से उसकी कीमत^२ उठ गई तब औरों के सामने सौभाग्य की श्रृंखल जताने लगी ॥३३५॥

एकगणिकानुवन्धे क्रोधोद्यतशस्त्रकामिनो कापि ।

सम्भ्रमतो धावित्वा निवारयामास कुट्टनी कलहम् ॥३३६॥

एक ही गणिका के लाभ के लिए क्रोध से शस्त्र उठा कर प्रहार करने के लिए तैयार दो कामुकों के कलह को कुट्टनी ने वेग से दौड़ कर रोका ॥३३६॥

धनमाहृत्य बहुभ्यो भुज्यत एकेन केनचित्सार्धम् ।

इति धनवन्तं कामिनमावर्जयति स्म वारवधू ॥३३७॥

‘बहुतों से धन इकट्ठा करके किसी एक नागरिक के साथ उसको भाग किया जाता है’ यह कह कर किसी वेश्या ने धनवान् कामुक को बशीभूत किया ॥३३७॥

१—कल्लोलाकल्पदेह—अर्थात् तेरे शरीर पर कुछ भी वेप भूषा है नहीं, सिर्फ एक सफ़द कपड़ा मात्र है, ऐसी स्थिति में वेश्या के घर क्या करेगा !? यदि ‘कल्लोल’ और ‘अकल्पदेह’ को सम्बोधन मानते हैं तब ‘कल्लोल’ का अर्थ होगा शस्त्र और ‘अकल्पदेह’ का अर्थ होगा असमर्थ शरीर वाला अर्थात् नपुंसक ।

२—भाटी अर्थात् कीमत, मूल्य, पण । इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग चमेन्द्र आदि के वैशिक वाक्यों में भी प्रचलित है ।

गायन् गायामात्रं द्विपदकमथ सौष्ठवेन विट एकः ।

बभ्राम पुरो दास्या विदधद्विकृतीरनेकविधा ॥३३८॥

एक विट द्विपदिका^१ के लय में मात्रिक गायिका को सुन्दर ढंग से गाता और विविध प्रकार की चेष्टाएँ करता हुआ वेश्या के सामने कतराने लगा^२, ॥३३८॥

कश्चित्पण्यस्त्रीणां विभवोपचितान्यपुरुषयोजनया ।

विदधाति स्माराघनमघनत्वमुपागतः कामी ॥३३९॥

दरिद्रता को प्राप्त कोई कामी विभव शाली किसी दूसरे पुरुष को बाजारू औरतो के फेर में डाल कर मजा मारने लगा ॥३३९॥

त्वयि सक्तेन मया गृहमुज्जितमधुना परेव जातासि ।

इति ढौकमलभमानः कश्चिद्गणिकामुपालेभे ॥३४०॥

'तूरे प्रेम में पड़ कर मैंने घर छोड़ा और तू आज दूसरी-सी हो गई है' इस प्रकार किसी ने गणिका से कुछ न पाते हुए उसे उलहना दिया ॥३४०॥

उपितामापरेण सम वृद्धविटाना पुरः पराजित्य । ✓

पूजयति स्म भुजग. कश्चिद्गणिका द्विगुणभाट्या ॥३४१॥

किसी कामी ने पैसा लेकर दूसरे के साथ सोई हुई किसी गणिका को बूढ़े विटों के सामने पराजित करके उससे दुगुना पैसा वसूल किया^३ ॥३४१॥

१—द्विपदिका—

'शुद्धा सण्डा च मात्रा च समूर्णति चतुर्विधा ।
द्विपदीकरणारव्येन तालेन परिगीयते ॥'

२—सुंदे धन वाले विट जन गणिका को आकृष्ट करने के लिए ऐसे ही प्रयत्न करते हैं । जैसा कि आचार्य रामेन्द्र लिखते हैं—

भक्षितनिजबहुविभवाः परविभवक्षपणदीक्षिताः परचात् ।
अनिश वेश्यावेशस्तुतिमुत्तरमुस्ता विटारिचन्त्याः ॥

३—यहाँ प्राचीन बंधा जीवन की एक खास पद्धति की ओर संकेत है । अपने प्रति अन्याय देखकर कोई भी 'विटमण्डप' में पहुँच कर 'विटमण्डपरी' (सुंदे विटों) की बंदोर करता था और उनकी सभा में अपने प्रांत हुये अन्याय का पैमला कराता था । 'पादुतादितक' में उस 'बंदोर' को 'निसाप्रपात बर्न' कहा है । यहाँ भी एक ऐसी ही घटना का उल्लेख है ।

दृष्टा त्वया विशेषक वलयकलापी शशिप्रभाभुजयो ।

वाढ भण भण कीदृक् चास्तुरा सा मया दत्ता ॥३४२॥

[उन्होंने इस प्रकार विटजनों की गतों सुनीं]

विशेषक, तुने शशिप्रभा के हाथों में वलयकलापी^१ देखी, उता, उता, कैसी है ? उसे मैंने दिया है ॥३४२॥

अथ चतुर्थो दिवसश्रीनाम्बरयुगलकस्य दत्तस्य ।

तदपि परुषा विलासा वद मदनक कि करोम्यत्र ॥३४३॥

मदनक, आज चार दिन हुए कि मैंने (उत्ते) दो चीन के रेशमी कपड़े दिए थे, फिर भी यह कड़ी गतों किए जा रही है, तू ही बता, अब मैं क्या करूँ ? ॥३४३॥

स्नेहपरा मयि केली कलहसक किंतु राक्षसी तस्या ।

माता नात्मोकर्तु वपंशतेनापि शक्यते पापा ॥३४४॥

वलयक, केली मुझे प्यार करती है, किन्तु राक्षसी पापिन उधड़ी माँ सी कर्पा तक प्रयत्न करने पर भी अनुकूल नहीं बहो जा सकती^२ ॥३४४॥

सुमन कुकुमवास सज्जीकुष्ट किमिति तिपुसि विचित्त ।

अथ तव दयितिकाया किजल्काक नतंनावसर ॥३४५॥

किजल्क, आज तेरी चहेती (दयितिका) के नाचने का दिन है, फूल और कुंजुम से कपड़े को सजा, क्यों लापरवाह बैठ है ? ॥३४५॥

१—एक प्रकार का चाञ्चुवन्द जातीय अलंकार। मयूरार भूषण, (जिसका सुष मयूर का बना हुआ और शपभाग चन्द्रवाक्ति पुच्छ का चित्रकारी से युक्त)। इस प्रकार के बाहुभूषण के सम्बन्ध में भरत ने नाट्यशास्त्र में लिखा है—

शङ्खकलापी कटक तथा स्यात् पद्मपूरवम् ।

खनूरवासोपितिक वाहुनानाविभूषणम् ॥

तनसुराराम का कहना है कि निश्चय ही 'वलयकलापी' 'शङ्खकलापी' है, क्योंकि 'वलय' शङ्ख से बनाये जाते थे ।

२—यहाँ विट हमेशा पैस का तगादा करने वाली गणिका की माता पर बहुत कुपित है, जो वैराजीवन के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। अगर गणिकार्यों की मान हो तो ये विट उन्हें परेशान कर डालें। चोमेन्द्र का कहना है कि बेरया के मातृ हीन गृह में ये विट घुमकर उस प्रकार बाहर नहीं निकलते जिस प्रकार जाड़े के दिनों में चूहे म सोया बिलार जन्दी बाहर नहीं निकलता ।

यदि नाम पंच दिवसांस्त्वयि कुस्तो प्रेम धनलवं दृष्ट्वा ।
तदपि न रागवती सा कन्दर्पक किं वृथा गर्वं ॥३४६॥

कन्दर्पक, यदि किसी तरह थोड़ा सा धन देख कर वह पाँच दिनों तक तुम्हें
'प्यार कर ले, तब भी यह तुम्हें प्यार नहीं करती, व्यर्थ क्यों गर्व कर रहा
है' ॥३४६॥

जीवन्नेव विलासक परिहर दूरेण मूढ हरिसेनाम् ।
वद्वावेशस्तस्यां व्यापृतपुत्रो महाविपमः ॥३४७॥

अरे विलासक, मूढ़ कहीं का ! जीते जी दूर ही से हरिसेना को छोड़,
क्योंकि व्यापृत का लड़का उससे फँस गया है, जिसे तू किसी प्रकार मात नहीं
दे सकता ॥३४७॥

केसरया क्षणदत्तं कृत्वांशुकमुपरि कामिजालस्य ।
स्तव्वग्रीवं भ्रमतश्चन्द्रोदय पश्य माहात्म्यम् ॥३४८॥

चन्द्रोदय, केसरा ने उत्सव के अवसर पर उपहार में जो अंशुक दिया
था उसे कन्धे पर रख कर गर्दन उठा कर घूमते हुए कामिजाल का
माहात्म्य देख ॥३४८॥ ।

कौमारकं विहन्तुं रतिसमये मदनसेनायाः ।
श्च्छामि किंतु तस्या मात्रातीव प्रसारितं वदनम् ॥३४९॥

मैं चाहता हूँ कि रतिसमागम के अवसर पर मदनसेना का कौमारक हरण
करूँ, किन्तु उसकी माँ ने ही ज्यादा मुँह फैला रखा है ॥३४९॥ ।

१—चमेन्द्र का यह पद्य उद्धरणिय है—

वेश्यास्तताः सरामं पूर्वं तदनु प्रस्तीनतनुरागम् ।
पश्चादपगतरागं पल्लवमिव दर्शयन्ति निजचरितम् ॥

—यहाँ वेश्या जीवन में प्राचीन काल से चले आ रहे एक खास रस्म की
ओर संकेत है। रतिसमागम के अवसर पर मदन सेना के कौमारक अर्थात् कौमार्य
का हरण करना (उसे छूती करना) और उसकी माँ का मुँह फैलाना (अर्थात्
पैसा ज्यादा मांगना) दोनों स्थितियाँ बहुत पहले भी थीं। उस खास रस्म को
उन दिनों 'शौवनोत्सव' कहते थे। आज के लगनवी वेश्या जीवन में 'मिस्सी' या
नय उतारने की रस्म कहते हैं। वेश्या का रोजगार चारम्भ होने के पूर्व की अवस्था

विभ्रम कियतस्तपसः फलमेतद्यदुपभुज्यते मदिरा ।

स्वकरेण पीतशेषा मदवूर्णितमदनसेनया दत्ता ॥३५०॥

विभ्रम, तूने कितना तप किया है जो यह फल भोग रहा है कि पीकर मस्त मदनसेना ने पीने से बची मदिरा को अपने हाथ से मुझे अर्पित किया ॥३५०॥ ।

कुवलयमालानिलयो लीलोदय किमिति सम्प्रति त्यक्तः ।

किं विदधामस्तस्मिन्भ्रातर्दास्या विना मूल्यम् ॥३५१॥

'लीलोदय, अब तूने कुवलयमाला का घर क्यों छोड़ दिया?'—'क्या करें भाई! पैसे के बिना दासी रख के क्या होगा?' ॥३५१॥

मुपिताशेषविभूतेरिन्दीवरकस्य यामिनी याति ।

संवाह्यतः सम्प्रति मंजीरक तिलकमंजरीचरणौ ॥३५२॥

मंजरीक, इन्दीवरक का सारा ऐश्वर्य छिन गया, उसकी रात इन दिनों तिलक मंजरी के चरण दावते गुजरती है ॥३५२॥

'दारिका' या 'गणिका दारिका' की होती है। इस अवस्था में उसमें कोई हँसी मजाक नहीं कर सकता था। 'उमराव जान' ने 'दारिका' को लखनवी जवान में 'नौची' कहा है। यौवनोत्सव या मिस्री किमी घाटने वाले के हज़ारों रुपये नकद देने पर सगपच की जाती थी। इस प्रकार उस व्यक्ति को कौमार्य के हरणार्थ नौची सौंप दी जाती थी। प्रस्तुत में जब चिट ने मदनसेना के कौमार्य के हरणकी इच्छा प्रकट की तब उसकी मां ने मूँह ज्यादा फैला दिया अर्थात् बहुत पैसे की मांग की जिसे वह देने में असमर्थ हो गया।

—प्राचीन काल में सपीति या सहपान की प्रथा थी, जिसमें नायक और नायिका दोनों मिलकर मधुपान करते थे। वैशिक जीवन में मधुपान एक अनिवार्य प्रसंग था। बेरया के हाथ से प्रतिशेष मधु के पान की सूचना द्वारा चिट ने उसके प्रति उत्कर्ष-प्राप्त अनुराग व्यक्त किया है। फारसी या उर्दू के साहित्यों में प्रियतमा या साकी के हाथों 'से शराव पीने के लिए प्रेमी विकल रहता है। गालिव कहत है—

पिला दे ओक से साकी, जो हमसे नफ़रत है।

पियाला भर नहीं देता, न दे, शराव तो दे ॥

अद्यापि बालभावं निखिलं न जहाति बालिका तदपि ।

प्रौढिन्ना मकरन्दक सकला ललना अधःकुल्लते ॥३५३॥

[उन्होंने कुट्टनी, विट, दासी और गणिका प्रभृति की बातें चलते-चलते सुनीं]

(किसी बूढ़ी वेश्या ने अपनी लड़की के सम्बन्ध में कामुक से कहा—)
'मन्दरक' आज भी बालिका का पूरा बचपना नहीं गया, फिर भी अपनी पोढ़ाई से समस्त ललनाओं को नीचे करती है' ॥३५३॥

कुब्जे गत्वा वक्ष्यसि तं निर्दयचित्तनर्तनाचार्यम् ।

हारा सुकुमारतनुः किमिति श्रममद्य कारिता भवता ॥३५४॥

(किसी वेश्यामाता का दासी के प्रति वचन) 'कुब्जे, जाकर निर्दय उस नृत्याचार्य (रस के उस्ताद) से कहना कि हारा अभी सुकुमार शरीर है, आज आपने इतनी मेहनत क्यों कराई' ॥३५४॥

निःसारोऽभिनिवेशः शुकशावकपाठने सुरतदेवि ।

तिष्ठति बहिरुपविष्टः प्रतीक्षमाणस्तव प्रेयान् ॥३५५॥

(वेश्या के प्रति माता का वचन) 'सुरतदेवि, मुझे के बच्चे को पढ़ाने में यह लगन बेकार है, तेरा चहेता शहर बैठा इन्तजार कर रहा है' ॥३५५॥

वीणावादनखिन्ना पतितास्ते वासभवनपर्यंके ।

उत्थापय तां त्वरितं स्मरलीलां मत्त आयातः ॥३५६॥

(चेरी के प्रति माता का वचन) 'वीणा बजा के थकी स्मरलीला वासभवन के पलंग पर पड़ी है, उसे शीघ्र उठा, मत्त आया है' ॥३५६॥

किमिदं यथास्थितत्वं तव माघवि यन्मुहुर्वदन्त्या मे ।

परिघत्से नाभरणं श्रीविग्रहराजसूनुना दत्तम् ॥३५७॥

(वेश्या के प्रति माता का वचन) 'माघवि, यह क्या तेरा ढीठपना कि मैं बार-बार कहती हूँ और तू विग्रहराज के लड़के का दिया गहना नहीं पहनती !' ॥३५७॥

ईदृक्शून्यमनस्त्वं किं कुर्मो मातरिन्दुलेखायाः ।

पानक्रीडासक्त्या पतितापि न चेतिता कनकनाडी ॥३५८॥

(कामुक को सुनाते हुए चेटी का वेश्यामाता के प्रति वचन) 'अम्मा हम क्या करें ? इन्दुलेखा इस तरह लापरवाह हो गई है कि उसने पानक्रीडा में गिरी कान की तरनी को भी नहीं जाना' ॥३५८॥

नकुलः पयो न पायित इति रोपवशादियं हि दुःशीला ।

नाश्नाति कामसेना पुनः पुनर्याच्यमानाऽपि ॥३५९॥

(वेश्या माता के प्रति कामुक को सुनाते हुए चेटी का वचन) 'नेरले को दूध नहीं पिलाया, उस इतने मे ही रुष्ट हो जाने के कारण वह ढीठ काम सेना बार-बार मनावन करने पर भी नहीं खाती' ॥३५९॥

श्रीवलसुतपरिपालित ऊर्णायुः किल मया विजेतव्यः ।

मुकुला मुक्तसुखस्थितिरहर्निशं मेपपोपणे लप्ता ॥३६०॥

(कामुक नायक को सुनाते हुए वेश्यामाता की उक्ति) 'क्या करूं ! श्रीवल के पुन के पाले हुए भेडे को पछाड़ने के लिए मुकुला मुक्त भोग परित्याग करके दिनरात भेडे को तैयार करने में लगी रहती है' ॥३६०॥

आताम्रतां समुपगतमुच्छूनं च करतलतव ललिते ।

मा पुनरतिचिरमेवं प्रविधास्यसि कन्दुकक्रीडाम् ॥३६१॥

(वेश्यामाता की नाँची के प्रति उक्ति) 'ललिता, तेरा हाथ लाल हो गया और सूज गया है, तू फिर देर तक इस तरह गेंद न खेलना' ॥३६१॥

अभिराम कनकभाटी प्रथममियं गृह्यते समुत्पन्ने ।

सौहे तु कुसुमदेव्यास्त्वं प्रभवसि जीवितस्यापि ॥३६२॥

(प्रथमागत कामुक के प्रति वेश्यामाता की उक्ति) 'अभिराम, पहले-पहले सोने की गिरी (हम) लिया करते हैं, बाद में जब कुसुमदेवी का प्यार हो जायगा, तब तो उसके जीवन पर भी तुम्हारा अधिकार होगा' ॥३६२॥

वेश्यामाता यहाना करती है कि तत्काल उसकी पत्नी के पास किसी से मुलाकात का समय नहीं है। आचार्य छेमेन्द्र के अनुसार यह आश्चर्य है कि वेश्या को तत्काल अपनी व्यस्तता व्यक्त कर देनी चाहिए क्योंकि लोग स्वभारत मुलभ पत्यु के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं—

'प्रथम प्रार्थिता यस्या न क्षणाऽस्तीत्युदाहरेत् ।

जनस्यायंस्वभावः हि सुलभामवमन्यते ॥ गमयमात्स्य ५।१८ ।

ग्रहणकमर्षय तावद्यदि कौतुकमुपरि चन्द्रलेखायाः ।

निर्वर्तितकतंब्यो दास्यसि किञ्चिद्यथाभिमतम् ॥३६३॥

(विश्या माता वी नवागत कामुक के प्रति उक्ति) 'यदि तुम्हें चन्द्रलेखा के ऊपर कुतूहल है तो बख्शीश (ग्रहणक) निकालो, जब काम हो, जायगा तब जो चाहे दे देना' ॥३४३॥

न परमदाता मातः सूनुरसौ वासुदेवभट्टस्य ।

निलंज्ज शठवृत्तिः पुनः पुनर्वार्यमाणोऽपि ॥३६४॥

क्षपयति वसनानि सदा हठेन सकलानि सुरतसेनायाः ।

न ददात्येकामूर्णामुरणः परमति कर्पासम् ॥३६५॥

(माता के प्रति चेटी द्वारा कामुक की शठता का प्रकाशन) 'माता जी, यह वासुदेव का लडका ज्यादा देने वाला नहीं है और बार-बार मना करने पर भी शठता करके बेइया सुरत-सेना के सारे कपड़ों को हठपूर्वक हमेशा हटा देता है; भेदा एक तो ऊन का एक भी सूत नहीं देता दूसरे कपास के बीज को चबा डालता है' ॥३६४-३६५॥

भगिनि न मुञ्चति वेरम क्षणमपि भेक्षपटराजपुत्रोऽसौ ।

भग्नान्यतरावसरो नग्नेनाधिष्ठितं यथा तीर्थम् ॥३६६॥

(गणिका द्वारा दूसरी से कामुक के शठ्य का निरूपाण) 'यदिन, यह शठ पटराज का लडका क्षण भर भी घर नहीं छोड़ता इससे दूसरी को मौका नहीं मिलता, नगे को जैसे तीर्थ मिल गया है' ॥३६६॥

इत्थंप्राया वाचः शृण्वन्विकुट्टनीसमुदगीर्णाः ।

तं वेरासनिवेशं पश्यन् प्रविवेश दारिकावेशम् ॥३६७॥

प्रायः इसी तरह बेटों और कुट्टनियों की बातें सुनता और वश्याओं के मुहल्ले की चनामट देखता हुआ यह नौची (हारलता) के घर में प्रविष्ट हुआ ॥३६७॥

१—नग्नेनाधिष्ठितं तीर्थम्—यह स्तोनोति है। नगे को तीर्थ मिल गया है। नग्न शर्पात् नगे रहने वाले साधु, जो तीर्थ के किसी स्थान पर टिक जाने पर शक्य होते हैं, फिर उस स्थान को नहीं छोड़ते। उसी प्रकार शठ कामुक भी घर में बैठा रहता है।

आकृष्टमिवोक्तया स्नपितमिव स्निग्धचक्षुषः प्रसरैः ।

तमुपागतमभ्यर्णं हारलता पूजयामास ॥३६८॥

उच्छ्रया से लिंचे हुए की भांति, स्नेह-भरे दृष्टिगतों से नहाये हुए की भांति, पाँचे उम सुन्दरसेन का हारलता ने सत्कार किया ॥३६८॥

सुविहितसमुचितसंस्थितिरवनतशिरसा प्रणम्य तत्सख्या ।

इदमभिदधेऽतिनम्रं सुन्दरसेनः शुभावसरे ॥३६९॥

सुन्दर सेन समुचित आसन पर बैठा, तब हारलता की मरी शुभ अवसर देग उसे प्रणाम करके विनय पूर्वक उससे बोली ॥३६९॥

प्रियदर्शनं किं बहुभिः स्मरपीडितदीनवचनसन्दर्भैः ।

इयमास्ते हारलता जीवनमस्यास्त्वदायतम् ॥३७०॥

'प्रियदर्शन, कामपीडित (हारलता की) दीनता भरी बहुत बातों से क्या लाभ ? यह हारलता है और इसका जीवन तुम्हारे अधीन है ॥३७०॥

निर्यत्रकेलिविशदं सहजप्रेमानुबन्धरमणीयम् ।

कार्यान्तरान्तरायैरपरिहृतं यातु यौवनं युवयोः ॥३७१॥

तुम दोनों का जीवन प्रतिबन्ध-रहित भीड़ा विहारों द्वारा निर्याद, सहज प्रेम के निगूढ बन्धन द्वारा रमणीय और अन्य कार्यों के विघ्नों से रहित होते ॥३७१॥ ।

निर्दयमविरतवांछं ध्वस्तश्रपमव्यवस्थितावरणम् ।

उपचीयमानरागं सततं भूपाद्भ्रवत्सुरतम् ॥३७२॥

निर्दय भाव से (जिसमें श्रद्धा न बरती जाय), इच्छा को विराम न दे, लग्ना को दूर कर, आवरण को हटा, उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अनुराग के

१—सहज प्रेम, अर्थात् नैसर्गिकी प्रीति ।

'दम्यत्योः सहजा तु या ।

सांद्रा निगडमूता च प्रीतिर्नैसर्गिकी मता'

(अनङ्गरङ्ग ४१२६)

२—अनुराग का निरन्तर-विरह प्रत्येक अवस्था में उत्तरोत्तर बढ़ते रहना उसकी श्राप विशेषता है। 'रमाणंमुपास्य' के अनुमात जय द'श भी सुग्र रूप से ही जिय स्नेह प्रत्येक के कारण अनुभूत होता है तथा 'राग' की स्थिति जानी है—

महिष, निरन्तर^१ तुम्हारा सुरत होता रहे' ॥३७२॥ ।

इति दत्त्वाश्रियमन्तनियति परिजने तदङ्गेषु ।

वित्तम्भवित्तरसो ववृधे कुसुमायुधः सुतराम् ॥३७३॥

यह आशीर्वाद दे, परिजन के भीतर चले जाने पर उसके अग-अग में मणय द्वारा परिशुद्ध मदनरसावेग बढ़ गया ॥३७३॥ ।

यदमन्दमन्मथोचितमनुरूपं यन्नवानुरागस्य ।

यद्यौवनाभिरामं यच्च फलं जीवितव्यस्य ॥३७४॥

अविनय एव विभूषणमश्लीलाचरणमेव बहुमानः ।

निःशंकतैवसौष्टवमनवस्थितिरेव गौरवाधानम् ॥३७५॥

केशग्रहणमनुग्रह उपकारस्ताडनं मुदे दंशः ।

नखविलिखनमभ्युदयो दृढदेहनिपीडनं समुत्कर्षः ॥३७६॥

निगरणलोलं चुम्बनमवयवनिष्पेषणस्पृहो मर्दः ।

श्रंतःप्रवेशनेच्छं निर्भरपरिरम्भणं यस्मिन् ॥३७७॥

जो^२ सुरत चण्डवेग काम के उपयुक्त, साथ ही अनुराग के अनुरूप, यौवन के

‘दुरसमभ्यधिकं चित्तं सुरत्वेनैव राज्यते ।

येन स्नेहप्रकर्षेण त राग इति कथ्यते ॥’

मत्थेक अवस्था में उपचीयमान होने वाले राग को ‘मांजिष्ठ राग’ कहा है—

“अचिरेणैव ससक्तश्चिरादपि न नश्यति ।

अतीव शोभते योऽसौ मांजिष्ठो राग उच्यते ॥”

१—सुरत की निरन्तरता—अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से द्विविध सुरत का हमेशा जारी रहना । बाह्य सुरत के प्रेक्षण, भावण, आरलेपण, चुम्बन आदि अनेक भेद हैं और अभ्यन्तर सुरत उत्तानक आदि भेद से षट्त्रिंशत् विध है ।

२—यहां से कवि ने गणिका हारलता और सुन्दरमेन का सुरत-चरण आरम्भ किया है । इसे उस शंश में अस्याभायिक या विरुद्ध नहीं कहा जा सकता कि गणिका होने के कारण मुग्धा होकर भी हारलता पाण्डुराल में कामतन्त्र के मिद्धांतों से पूर्ण परिचित हो चुकी है और सुन्दरमेन भी कामशास्त्र में निपुण है ।

कारण अभिराम^१ और जीवित रहने का फल है, जिसमें अग्नि^२ ही निभूषण है अश्लील व्यवहार ही गौरव है, निर्मा^३ हो जाना ही भद्रता है और एक जगह न टिकना (अस्थिर हो जाना) ही गौरव देने वाला है, गल फटटना^४ अनुग्रह है, ताडन^५ उन्कार है, दांत से काट लेना प्रसन्नता के लिए होता है, नखों से खर्राचना ग्रम्युदय है, कस कर शरीर को दगाना बडव्यन है, और जिसमें अति-प्रसन्न और सतृष्ण सुग्मन^६ है, अङ्गी को कस कर दगाते हुए निरपेक्ष भाव से मसलना^७ है और अन्त प्रवेश इच्छा^८ से कस कर आलिङ्गन है ॥३७४-३७॥

१—यह स्थिति उद्दाम यौवन के अस्तर के सर्वथा अनुकूल ही है, जैसा कि कहा है—

सौन्दर्यं प्रीति सम्पात्तिश्चखडवेगोऽथ यौवनम् ।
एकैकमनुरागाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

२—३७६ और ३७७ श्लोकों की छाया बहुत अरा में भद्रपभूरित के इस श्लोक में मिल गई है—

यद्दूर मुक्तविनय यदनुष्ठितेच्छ यच्चिदय यदसमाधि यदस्तलजम् ।

यदरागपीढहृदय यदमुत्तलज तत्तद्वभूव सुरतेषु गुणो न दोषः ॥

३—केशग्रहण—नायिका को द्रवीभूत करने के लिए नायक उसके बालों को पकड़ता है, आकर्षण करता है। 'अनङ्ग' के अनुसार तरणीजनों के प्रसन्न केशों को सुग्मन के अस्तर में मन्द एवं विधिपूर्वक पकड़ना चाहिये। यदि नायक प्रिय-तमा के बालों को अपने दोनों हाथों से पकड़ कर सुग्मन करता है ऐसी स्थिति में वह केश-ग्रहण 'ममहस्तक' कहलाता है। यदि एक ही हाथ से पकड़ता है तब 'तरङ्गरङ्क' कहलाता है। जब कामार्त प्रिय बालों को हाथों में लभेइ कर पकड़ता है तब वह 'भुजगरञ्जिक' कहलाता है। बानों के पास वाले बालों को पकड़ कर जब परस्पर सुग्मन होता है तब वह कचग्रह 'कामायतस' इस नाम से अभिहित होता है।

४—ताडन—कराघात, हस्त प्रयोग विशय। नायिका की पीठ पर का ताडन 'सुरिः' मस्तक पर फणानर हाथ द्वारा ताडन 'प्रमृत्क', स्तनान्तर में अथवा स्नन पर ताडन 'अपहस्तक' एवं पारयं या जघन में ताडन 'समतल' कहलाता है।

५—'विगनल्लोलं सुग्मनम्' अर्थात् चिम सुग्मन में विद्धा चधिः अरा ग्रहण करती है। विद्धावुद्ध नामक सुग्मनवुद्ध में अन्तमुग्म सुग्मन, दरानसुग्मन, जिद्धासुग्मन और तालुसुग्मन ये चार प्रकार के सुग्मन यहा रिष्ट गण्।

६—नायिका के ऊरु पादु, कुच, नितम्ब, पारयं, निम्नोद्ग और जघन प्रभृति को नायक निदंय भाव से मदन करता है।

७—इस प्रकार का आलेगन 'नीरपीरक' कहलाता है। चिममें रागाञ्चलाक्या

यदनङ्गैरिव विहितं रागैरिव दीप्तिमत्त्वमुपनीतम् ।

प्रेमभिरिव निश्चलितं शृंगारैरिव विकासमानीतम् ॥३७८॥

जो मानों ऊई अनङ्गों द्वारा सम्पादित है, अनेक रागों द्वारा उद्दीपित है, बहुत प्रेमों से निश्चल बनाया गया है और नाना विधि शृंगारों द्वारा विकसित है ॥३७८॥

अप्रागल्भ्यं व्यसनं धैर्यमकार्यं विवेक उपधातः ।

ह्येषामगुणो यस्मिन् तत्सुरतं प्रस्तुतं ताभ्याम् ॥३७९॥

जिसमें प्रगल्भ न होना नाशक है, धैर्य अकार्य है, विवेक अयोग्यता सम्पादक है और लजाना अगुण है, उसे दोनोंने आरम्भ किया ॥३७९॥

प्रारंभ एव तावत्प्रज्वलितो घगिति मनसिजो यस्मिन् ।

तस्य विशेषावस्था वक्तुमशक्याः प्रवृद्धस्य ॥३८०॥

जिस सुरत में प्रारम्भ ही में कामाग्नि धक् धक् करके प्रज्वलित हो उठा फिर उसके बहुत बढ़ जाने पर उसकी विशेष अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३८०॥

सहजरसेन जडीकृतमिति यूनः कामशास्त्रनिर्णीतौ ।

नानाकरणप्राप्ते लालित्यमवाप पाण्डित्यम् ॥३८१॥

इस प्रकार सहज शृंगार रस के द्वारा कुण्ठित कर दिया गया उन तरुण-तरुणी का पण्डित्य कामशास्त्र में वर्णित नाना प्रकार के करण-समूह में लालित्य को प्राप्त हुआ ॥३८१॥ ।

धार्मिकता के अवसर में यह बिलबुल मान नहीं होता कि दूसरे का शंग भङ्ग होगा या नहीं, बल्कि दोनों ता'वाल एक दूसरे में प्रवेश कर जाना, दूध और पानी की भाँति मिल जाता चाहते हैं ।

१-नापयं पद कि एक अर्धग उम प्रकार के सुरत के सम्पादन में काम नहीं हो सकता । इसी प्रकार राग, प्रेम और शृंगार आदि में बहुवचन-प्रयोग को संगतार्थ समझना चाहिये । उपपुन कथन से कवि ने अर्धग को सुरत का उपादक, राग, को वर्धक, प्रेमा को स्थैर्यकारक एवं शृंगार को सुरत के गुणों का सम्पादक माना है ।

✓ २-नानाकरणप्राप्ते लालित्यमवाप पाण्डित्यम् । धार्मिकता, सुख, नम्रप्रेम, दम्भप्रेम, संवेगन मीठन, पुण्ड्रविन और उपरिष्ठक इन प्रप्रेम में आठ भेद में १४ शंग, अथवा रतियन्त्र के दुर्भेदों की ओर संकेत है । प्रधानतः

अविधेयमनाख्येयं प्रविचयं छादनीयमविपह्यम् ।

न वभूव तयोस्तस्मिन्वारब्धे सुरतपरिमर्दे ॥३८२॥

जब उन दोनों का वह सुरत का सम्मर्दन आरम्भ हुआ कि तल्लाल कुछ भी अस्पर्शीय, अस्पर्शनीय, अविचारणीय, गोपनीय और असहनीय नहीं रहा ॥३८२॥

अन्यस्ता या तन्व्या सुरतविधौ विविधचाडुपरिपाटी ।

तामालूनविशोर्णां चकार सहजः स्मरावेगः ॥३८३॥

जो पहले नाना प्रकार की चाटूक्तियों की परम्परा उन्हें ग्रन्थस्त थी उसे सुरत के आरम्भमें कामसरम्भ ने छिन्न-भिन्न कर डाला ॥३८३॥

सद्भावरागदीपितमदनाचार्योपदिष्टचेष्टानाम् ।

कः परिगणनं कतुं रतिचक्राविष्टरमणयोः शक्तः ॥३८४॥

सद्भाव और प्रेम के कारण उद्दीपित मदनाचार्य द्वारा उपदिष्ट चेष्टाओं को, कौन है जो रमण और रमणी के रति-चक्र में आग्निष्ट हो जाने पर गणना कर सकता है ? ॥३८४॥

वाला मृदुगात्रलता दृढपुरुषाक्रान्तविग्रहा न परम् ।

न व्यथिता मुदमाप प्रभवति खलु चित्तजन्मनः शक्तिः ॥३८५॥

मुकुमार अग लतिका वाली वाला दृढ पुरुष से आक्रान्त होने पर केवल व्यथित ही न हुई अपितु प्रवन्न भी हुई, यह कामदेव की शक्ति का प्रभाव है ॥३८५॥

किं रमणी रमणोऽविशदुत रमणी रमणमिति न जानीमः ।

स्वावयवावगमस्त्व प्रकाशमगमत्तयोस्तदा निपुणम् ॥३८६॥

जुवा रमणी ने रमण में प्रवेश किया या रमण में उसने, हम नहीं जानते,

रतिबन्ध ६ भागों में विभक्त है—उत्तान, पारध, आसित, ध्यानत, स्थित और सुतगदित । इनमें प्रत्येक के विभाग करके ८४ बन्ध कामशास्त्र में प्रसिद्ध हैं ।

१-रतिचक्राविष्ट-रतिचक्र अर्थात् सुरतप्रबन्ध, उसमें पिल पड़े । वात्स्यायन कहते हैं ।

शास्त्राणां विपयस्तावद् याचन्मनसा नराः ।

रतिचक्रप्रवृत्तस्य नास्ति शास्त्रं न च क्रमः ॥

१

का० सू० २।२

पर उससमय तो त्रिलकुल उन्हें अपने अर्गों का ज्ञान छुत हो गया ॥३८६॥

तस्या निमीलितदृशो निःस्पन्दतनोर्वभूव सुरतान्ते ।

लिङ्गमनङ्गच्छाया जोवितसत्तानुमानस्य ॥३८७॥

मुरत के समाप्त होने पर उसकी आँखें मुँद गइ और शरीर अचल हो गया (ऐसालगा कि यह मर गई, पर) उसके शरीर में एक प्रकार की काम-कान्ति व्याप्त थी, जिसके कारण उसके जीवित रहने का अनुमान हुआ ॥३८७॥

श्रमजलविन्दूपचिता वृत्तस्मरणेन जातवैलक्ष्या ।

सा शुशुभे रतिविरतौ पर्याकुलकेशभूषणा नितराम् ॥३८८॥

विपरीत रति के परिश्रम के कारण उसके शरीर में पसीने के जल की बूँदें भर आईं, उसके नाल और गहने अस्त-व्यस्त हो गये हैं एव निज कार्य स्मरण करके नितान्त लज्जित वह मुन्दर दिखने लगी ॥३८८॥

निर्व्याजार्पितवपुषोर्निवृत्तिमयमेव गणयतोर्विश्वम् ।

क्षणदा विरराम तयोरक्षीणाकाक्षयोरेवम् ॥३८९॥

निश्छल भाव से परस्पर शरीर समर्पित करने वाले उन दोनों को प्रतीत हुआ कि ससार मुरतमय ही है, इस प्रकार उनकी आकांक्षा अभी पूरी ही न हुई कि रात बीत गई ॥३८९॥

मोहनविमर्दलिन्ना विजृम्भमाणा स्वलङ्घतिमंदम् ।

निद्राकपायिताक्षो हारलता वासवेशमनो निरगात् ॥३९०॥

जब मुरत के मर्दन से लिन्न, नींद (क शभाव में) लाल आँखों वाली जमाइ लगी और गिरती-पडती धीरे-धीरे वास भगन से निम्न गई (३९०) ।

“परिचितपार्श्वंगताहं तेन समं पानभोजनं कृत्वा ।

नोता निशा कथाभिर्मोहनकार्यं च यत्किञ्चित् ॥३९१॥

[प्रभात में मुन्दरमेन ने वेश में घूमते हुए गणिकाओं की परस्पर इस प्रकार की बातें सुनी]

(मन्दवेग नायक के साथ नीचरत में असन्तुष्ट गणिका की उक्ति) ‘मैं उस परिचित के पास गई, उसके साथ खान-पान करके कहानी-किस्से से रात गुज़ारी, मुरत कार्य तो नाम मात्र हुआ’ ॥३९१॥

अविदग्ध. धमकठिनो दुर्लभयोपिद्युवा जडो विप्र. ।

अपमृत्युरूपक्रान्त. कामिव्याजेन मे रात्री ॥३६२॥

(चण्डवेग और चिरकाल कामुग के कारण उच्च रत में असन्तुष्ट गणिका की उक्ति) 'मिलगुल बुद्ध, धम करने से बर्कश, जिते रती दुर्लभ थी, जबान और मूर्ख एव विप्र आज रात कामुक के व्याज से मेरी मृत्यु के रूप में आ पहुँचा' ॥३६२॥ ।

नेच्छाविरतिः क्षणमपि न च शक्तिर्वस्तुशून्यरतियत्नैः ।

केवलमलद्याहं कदर्यिता वृद्धपुरुषेण ॥३६३॥

(रत शक्ति शून्य वृद्ध पुरुष के समागम से खिन्न गणिका की उक्ति) 'आज मुझे एक बूढ़े ने बिना वस्तु के रति कार्यों के कारण केवल बहुत पीड़ित किया क्योंकि क्षण भर भी उसकी इच्छा तो कम न होती थी और वह शक्ति सम्पन्न भी न था ॥३६३॥ ।

मद्यवशादभियोक्तरि मृतकल्पे तल्पभागमग्नाया. ।

अनिरोधितनिद्रायाः सुखेन मे यामिनी याता ॥३६४॥

(रतान्त में मद्यपान करके निःसञ्ज हो कामुक के पड़ जाने में अनायासित एव सुग से सोई गणिका की उक्ति) 'मेरी रात सुख से गुज़री, क्योंकि रत-भियोग करने वाला वह पीकर मरा जैसा हो गया, इसलिए पलम पर पड़ी मुझे नींद बिना व्याधा के आई' ॥३६४॥ ।

सुकुमारसम्प्रयोग. पेशलवचन. सवक्रपरिहास ।

शकुनवरोन समेतो मम सरित रमणो मनोहराकार ॥३६५॥

(उत्तम नायक की पारर हर्षित गणिका की उक्ति) 'मगी, मेरा रमण सुकुमारता से काम लेता था, मधुर बातें करता था, हँसी-मजाक भी पंच में करता था, साथ ही सुभग और देखने में सुन्दर था, ॥३६५॥ ।

पर्यं कान्तनिलीन. परामुखो मुक्तमन्दनिश्वास ।

मच्चोदनया नितरा निःस्पन्द. स्वेदसलिलससिक्त. ॥३६६॥

(मिठी बोद प्रामोद कामुक के साथ रात खिाने वाली पारहृद्यनी गणिका की उक्ति) 'गणिक, आज एक दिन मिठी काम का गगर आदमी आया, जो मेरे पदंग के बीच पड़ गया मुह फेर लिया, धीरे धीरे साथ छाड़ने लगा, जब मैंन सम्भोग के लिए प्रेरित किया तो वह निरपेष्ट ही रहा' ॥३६६॥'

पर्यस्तमितानंगोऽप्यपगतनिद्रः क्षपाक्षयाकांक्षी ।
यामोषितः प्रहीणो निष्प्रतिपत्तिः स्थितोऽद्य सखि मनुजः ॥३६७॥

उसका अंग बिलकुल अस्त मित ही रहा, उसे नींद हराम हो गई, किसी तरह वह रात सतम करना चाहता था, मैंने उसे छोड़ दिया ॥३६७॥

शृणु सखि कौतुकमेकं ग्रामीणककामिना यदद्य कृतम् ।
सुरतरसमीलिताक्षी मृतेति भीतेन मुक्तास्मि ॥३६८॥

(किसी ग्रामीण कामुक की मूढता से कुतूहल अनुभव करके गणिका की उक्ति) 'सखी, एक कौतुक सुन, गवार कामुक ने आज जो किया, मेरी श्रांति जब सुरत के आनन्द से मुंद गई तब उसने समझा कि मर गई और डर के मारे मुझे छोड़ दिया, ॥३६८॥

अविदितदेशप्रकृतेः शठात्मकाहं विदग्धतोऽस्माभिः ।
अनुभूतो राजसुतादधिभाण्डविडम्बनाक्लेशः ॥३६९॥

(विपण्य गणिका की उक्ति) 'हमने तो राजा के लड़के से विट्टी के तिरस्कार का कष्ट अनुभव किया, क्योंकि वह इस देश की चाल बिलकुल नहीं जानता था, धूर्त एव गर्वाला था' ॥३६९॥

प्रियसखि लोकसमक्षं नगरप्रभुणा हठेन नीतास्मि ।
एवं वंचकदातुर्द्विगुणार्थंप्रार्थने कुतोऽन्यायः ॥४००॥

(लोकापवाद से अग्रमानित गणिका की उक्ति) 'प्रिय-सखी, नगर-प्रमुख मुझे बल-शुचक लोगों के सामने ले गया । इस तरह तो कभी ज्यादा धन के पाने से न्याय नहीं किया जाता' ॥४००॥

आकर्षन्ती जघनं व्रजसि यथा विलिखिता नखैस्तिलशः ।
मन्ये तयोपभुक्ता केरलि केनापि दाक्षिणात्येन ॥४०१॥

'केरली, जो तु चारों ओर (कामुक के) नरों की खरीच पाई हुई, अपने जघन को जैसे खींचे लिए जा रही है तो मुझे लगता है कि किसी दक्षिण देश-बासी ने तेरा अपभोग किया है' ॥४०१॥

अधरे बिन्दुः कंठे मणिमाला स्तनयुगे शशप्लुतकम् ।

तव सूचयन्ति केतकि कुसुमायुधशास्त्रपडित रमणम् ॥४०२॥

केतकी, तरे अधर में बिन्दु, १ कण्ठ में मणिमाला, २ और स्तनों में शश-प्लुतक^३ नाम के दूत यह सूचना दे रहे हैं कि तेरा रमण कामशास्त्र का पण्डित रहा होगा ॥४०२॥

इति शृण्वन्नुपसि गिरो निवृत्तनिशाभियोगणिकानाम् ।

सोऽपि यथाक्रियमाणं प्रविचातुं निर्जगाम कर्तव्यम् ॥४०३॥

प्रमात काल में निशाभियोग^४ से छुटकारा प्राप्त गणिकाओं की बातें सुनता हुआ वह (मुन्दरसेन) भी प्रातः कालीन कार्य के लिए बाहर निकल गया ॥४०३॥

सुरचितरागोपचितिस्वीकृतमनसस्तया समं तस्य ।

यौवनसुखमनुभवतो जगाम सवत्सरः सार्धः ॥४०४॥

इस प्रकार अपने सुन्दर प्रेम की वृद्धि के कारण तथा उसके (हारलता के) द्वारा मन अंगीकृत हो जाने के कारण मुन्दरसेन ने यौवन सुख का अनुभव करते हुए डेढ़ साल व्यतीत किया ॥४०४॥

पित्तम्भकया. शृण्वन्विचरन्नुद्यानवेदिकापृष्ठे ।

सहचरकरसक्तकरः सुन्दरसेन. किल कदाचित् ॥४०५॥

कभी जब मुन्दरसेन रहस्य की बात करता, साथी (गुणपालित) के हाथ से हाथ मिला कर घूमता, उपवन की वेदी पर बैठ गया ॥४०५॥

१—बिन्दु—अधर को पकड़ कर उसके बीच अगले बड़े चार दातों से किया गया छत 'बिन्दु' कहलाता है ।

२—मणिमाला—कंठ में माला पहनी जाती है, अतः वहाँ बहुत से दातों द्वारा पीड़न करने पर एक प्रकार का मालाकार दन्तचिह्न उत्पन्न जाता है, इसी की काम-शास्त्रीय संज्ञा 'मणिमाला' है ।

३—शशप्लुतक—पाँचों नखों की भाषिणी के स्तनों पर जगह-जगह पड़ी चरोच की संज्ञा ।

४—निशाभियोग—यह प्राचीन घेरा-जीवन का रात्रिकालीन स्वरूपक या सुरत के अर्थ में प्रचलित पारिभाषिक शब्द है ।

स्थूलधनतन्तुसततितानितनानाभ्वरावरणम् ।

यष्टिप्रान्तनियत्रितदलवृन्तककुतुपतुम्बिककटिन्नम् ॥४०६॥

त्रुटितचरणत्रसंगतसस्फुटिताभ्यक्तपादमलिनतनुम् ।

त्वरितगतिलेखवाहकमारादायान्तमद्राक्षीत् ॥४०७॥

तभी उसने देखा कि लेखवाहक (चिह्नी पहुँचाने वाला) शीघ्र गति से चल कर दूर से आ रहा है । उसने मोटे और घने डोरे से बुनी रुई दार छोड़नी छोड़ रखी थी, उसने लाठी के अग्रभाग में ताड़ का परसा, तेल रखने की कुप्पी, तुम्बी और फेरा (या पेटी) बाध रखा था, उसके पैरों में, टूटे जूते पड़े हुए थे इसलिए ठोकर लगने से उसके पैरों पर धूल भर गई थी और उतका शरीर भी गन्दा हो गया था ॥४०६-४०७॥ ।

प्रत्यासन्नीभूतं क्रमेण पौरन्दरिः परिजाय ।

साकूतमना ऊचे वयस्य हनुमानयं प्राप्तः ॥४०८॥

जब वह क्रम से नजदीक आ गया तब उसे पहचान कर पुरन्दर के लडके सुन्दरसेन से उसके आने का अभिप्राय जान लिया और कहा—“मित्र, यह हनुमान आ गया” ॥४०८॥

अवनितललीनशिरसा कृतनतिना तेन विनिहितं भूमौ ।

उत्क्षिप्य भट्टिति लेखं सुन्दरसेनस्तु वाचयामास ॥४०९॥

जमीन पर माथा टेक कर उसने प्रणाम किया और लेख को रख दिया, तब कट-से उठा कर सुन्दरसेन ने पढ़ा ॥४०९॥

“स्वस्तिश्रीकुसुमपुरात्पुरंदरः सुन्दरं समभिधत्ते ।

अन्तर्जृम्भितशोकग्रन्तोऽवि स्पष्टवर्णपदम् ॥४१०॥

“स्वस्ति, कुसुमपुर से पुरन्दर (अपने बेटे) सुन्दर से भीतर-भीतर पढ़े शोक से ग्रस्त और स्पष्ट भाषा में कहता है ॥४१०॥

कुन्ममकलकं न गणितमवधोरितमस्रजन्मनां चरितम् ।

नापेक्षितमवगीतं शठसेवितवर्त्मनि त्वया पतता ॥४११॥

शठों से सेवित मार्ग में गिरते हुए तुमने अपने फलक-रहित कुल की पर्याह न की, ब्राह्मणों के चरित्र को अवश की और निन्दा को नहीं देता ॥४११॥

वंशेकुटिलगतीनां द्विजिह्वतादोपरहितचरितानाम् ।

अपरविनाशरतानामुत्पन्नः कथमसि भुजङ्गः ॥४१२॥

सीधी चाल चलने वालों, दुर्जिभा होने (दो मुँह वाली वात करने) के दोष से मुक्त चरित वालों और दूसरों का विनाश न करने वालों के वश में तू भुजङ्ग (लम्पट, पल में सर्प) कैसे जन्मा ? (क्योंकि सर्प तो कुटिल चाल चलते हैं, उसकी दो जीभें हांती हैं और दूसरों के विनाश में लगे होते हैं) ॥४१२॥

क्व पुरोडाशपवित्रितवेदपदोद्गारगर्भवदनं ते ।

क्व च मदिरासववासितवारवधूमुखरसास्वादः ॥४१३॥

यहाँ यज्ञ के अन्न 'पुरोडाश' के योजन से पवित्र हुआ और वेद में मंत्रों के उच्चारण करने वाला तेरा मुख और यहाँ मदिरा-रस कीरगन्ध से युक्त बाजारू औरत के मुख का रसास्वाद ॥४१३॥

क्व कुशविपाटनजन्मा सहसोदितवेदनाचमत्कारः ।

क्व च दासीरतसंगरनिर्दयनखरक्षतिः प्रीत्यै ॥४१४॥

यहाँ कुश उखाड़ने से हुई सद्गता वेदना से चोमना और यहाँ दासी के साथ रतियुद्ध में जोर से नलों की खरोंच के मजे ॥४१४॥

क्व त्रेतानलधूमक्षोभितनयनाम्बुधौतवदनस्त्वम् ।

क्व च गणिकानिर्भर्त्सनशोकभरायातवाप्पसलिलौघः ॥४१५॥

यहाँ तीनों (गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण) अग्नियों के धुएँ से सलसलाई श्राद्धों के श्राद्ध से मुँह का धुल जाना और यहाँ वेश्या की दुल्हार के शोक से उत्सन्न श्राद्ध ॥४१५॥

क्व वपट्कारध्वानः पट्कर्मविभूषणं श्रवणपूरः ।

क्व च साधारणवनितारतिमणिताकर्णनीत्सुकवम् ॥४१६॥

यहाँ ब्राह्मणों के श्रवणनादि पट्कर्मों का भूषण श्रवणपूर (कानों की आभूषण करने वाला) वपट्कार का घोष और यहाँ वेश्या की रात्रि की आवाज गुनने की उत्सुकता ॥४१६॥

ष्ठाचार्यप्रतनुलताताडनसंक्षोभसम्भवः कल्पः ।

क्व च कुपितवारललनानिष्ठरपादप्रहारविपहित्वम् ॥४१७॥

यहाँ आचार्य द्वारा पाली छाड़ी में पीटने से उत्सन्न कर्म और यहाँ पिण्डियाली वेश्या की निष्ठुर पाद प्रहार का सद्गता ॥४१७॥

क्व हरिणचर्माविरणं स्मृतिशास्त्रनिवेदितं व्रतं चरतः । ✓

क्व च पण्यस्त्रीगात्रस्पृष्टाम्बरधारणेषु बहुमानः ॥४१८॥

कहाँ स्मृतिशास्त्र के यथाए नियम का आचरण करते हुए मृगचर्म श्रोदना और कहाँ सरीद की औरत के श्रंग के छुए कपड़े पहनने में गौरव ॥४१८॥

समिधाभेवच्छेदतमभ्यस्तं शैशवात्समारभ्य । ✓

शठवनिताधरखण्डन उत्पन्नं कौशलं कुतो भवतः ॥४१९॥

तुमने तो बचपने से लेकर समिधाओं के काटने का अभ्यास किया था, यह बदमाश औरत के अधर काटने की कला तुम्हें कैसे मालूम हुई । ॥४१९॥

शुश्रूषणमेव गुरोः परिशीलितमचलचेतसा सततम् । ✓

कुटिलमतयो भुजिष्याः कथं त्वयाराधिताः निपुणम् ॥४२०॥

तुमने हमेशा शुद्ध चित्त से गुरु की सेवा की, फिर कैसे तुमने टेढ़ी बुद्धि वाली दासियों की अधिक आराधना की । ॥४२०॥

ग्राम्नायपाठ एव स्फुटतरपदसौष्ठवं तव ख्यातम् ।

प्रकृपितचेरयानुनये क्व शिक्षितं वचनचातुर्यम् ॥४२१॥

वेद पाठ में ही तुम्हारे सफ़्ट पदोच्चारण का सौष्ठव प्रसिद्ध हुआ, फिर खिन्नियानी वेश्या के मनावन में तुमने वचन आतुर्य कहाँ सीखा ॥४२१॥

अथवा किं क्रियतेऽस्मिन्नवदातकुलेऽपि लब्धजन्मानः ।

सदसंस्तुता भवंति प्रागुपचितकर्मदोषेण ॥४२२॥

अथवा करें क्या ? पूर्वजन्म के बड़े कर्म के दोष से ही इस निर्मल कुल में जन्मे अच्छे लोगों द्वारा निन्दित हो रहे हैं ॥४२२॥

त्वयि विनिवेश्य कुट्टम्बं परलोकहितार्जनैकविहितात्मा ।

स्थास्यामीति समीहितमनुदिवसं तद्विसंवदितम् ॥४२३॥

जो कि प्रतिदिन मैं चाहा करता था कि तुम पर परिवार को छोड़ कर परलोक के कल्याण का अर्जन करता गूँगा' सो उल्टा हो गया' ॥४२३॥

इत्यवगतलेखार्ये सुन्दरसेने विधेयपरिमूढे ।

आर्यामगायदन्यः स्वावसरे नीतिपरिकरिताम् ॥४२४॥

लेख का अभिप्राय यूक्त कर सुन्दरसेन जन मित्रतय्यमूढ हो गया तब किसी दूसरे ने गीति छन्द में अरने प्रसंग ने आर्या को गाकर पदा । ॥४२४॥

‘विपयतिमिरावृताक्ष्यामवटे पततामदृष्टमार्गाणाम् ।

पुंसां गुरुजनवचनद्रव्यालाकाजमं शरणम् ॥४२५॥

‘विपयों के अधनार से घिरी आँखों वाले गड्ढे में गिरते वार अमार्ग में पहुँचे लोगों की शरण वड़ों के वचन की शलाका का अजन है ॥४२५॥

उद्वेजयति तदात्वे सुखसर्वित्तं करोति परिणामे ।

कटुकोपघप्रयोगो गुरुनिगदितकार्यनिष्ठुरं च वच. ॥४२६॥

वड़े की बड़ी हुई निगदुर कार्य की बात वह कड़वी दवा का प्रयोग है जो आरम्भ में उद्विग्न कर डालता है और परिणाम में सुख पहुँचाता है ॥४२६॥

लब्ध्वा वचसोज्वसरं मित्रमवादीत्पुरंदरापत्यम् ।

पुनरपि नहि खिद्यन्ते प्रियजनहितभाषणे सन्तः ॥४२७॥

बात करने का अवसर देस कर साथी गुणपालित मुन्दरसेन से मोला, क्योंकि अच्छे लोग अपने प्रिय जनों के हित की बात बार-बार करने में मो क्लेश का अनुभव नहीं करते ॥४२७॥

अगणितसहचरवचसो दुर्व्यसनमहाविधमग्नवपुपस्ते ।

मन्युव्यथितस्य पितुर्यैदि परमवलम्बनं वचनम् ॥४२८॥

‘साथी की बात न मान कर तुम (वेश्यानुराग रूप) महासमुद्र में डूब रहे हो इस समय तुम्हारा कोई आलम्बन है तो वह है शोक में पीड़ित पिता का उपदेश ॥४२८॥

निजवंशदीपभूतः कृतचरितालंकृतो महासत्त्व ।

सुन्दर सम्प्रति तातः स्पृष्टो दुष्पुत्रदोषेण ॥४२९॥

सुन्दर, अपने वंश का दीप होकर, धर्माचरण में अलङ्कृत और महाप्राण तुम्हारे पिता को इस समय दुष्ट पुत्र वाला होने का दोष लग गया है ॥४२९॥

पुत्राभावः श्रेयान्दु सुतता पुत्रिणः कुलीनस्य ।

श्रंतस्तापयति मृशं सच्चरितकथाप्रसंगेषु ॥४३०॥

पुत्र का न होना अच्छा, न कि कुपुत्रवान् होना, क्योंकि कुलीन पुत्रवान के मन पर कुपुत्रता सत्युद्गरो के चरित्र के कथा-प्रसंग में अधिस्तम्भ करती है ॥४३०॥

सांव्यवहारिक एव प्रायो लोके गुणोन्नता नियताः ।

येन तु सुतेन जननी बन्ध्वात्वं श्लाघते स पापीयान् ॥४३१॥

दुनिया में गुण व्यवहार से ही माना जाता है । यह आवश्यक नहीं कि वह (गुण) पुत्र का भी कारण हो । जिस पुत्र से माता अपने बॉन्ड रहने की प्रशंसा करे वह पुत्र पापी है ॥४३१॥

विफल शास्त्रज्ञान गुरुगृहसेवापि नोपकाराय ।

विषयवशीकृतमनसो न्याय्यं पन्थानमुत्सृजतः ॥४३२॥

जिसने मन को विषयों के अधीन कर दिया और न्याय मार्ग को छोड़ डाला उसका शास्त्र ज्ञान विफल है और उसकी गुरुसेवा से कोई उपकार नहीं ॥४३२॥

जीवन्नेव मृतोऽसौ यस्य जनो वीक्ष्य वदनमन्योन्यम् ।

कृतमुखभङ्गो दूरात्करोति निर्देशमगुल्या ॥४३३॥

वह तो जीता हुआ ही मर गया जिसका मुँह देख कर लोग आपस में मुँह मटकाते दूर ही से उगली से इशारा करते हैं ॥४३३॥

नोपनिहन्तुं विषया. शक्या. सत्यं तथापि निपुणधियः ।

अभिधेयता न गच्छन्त्यपवादविशेषिताभिधानस्य ॥४३४॥

वह ठीक है कि विषयों को समाप्त नहीं किया जा सकता, तथापि कुशल बुद्धि वाले लोग कभी कभी अपवादमिश्रित अभिधान से अभिहित नहीं होते ॥४३४॥

गुरुपरिचर्या जाया गुणोन्नता स्निग्धबन्धुसंपर्कः ।

ब्राह्मे कर्मणि सत्तिलोकद्वयसाधनं सुधियाम् ॥४३५॥

गुणी पुरुषों के लिए गुरु की सेवा, बुलोन पत्नी, स्नेह करने वाले बन्धु-बनों का सम्पर्क, यज्ञमर्म में लगाव इह लोक और परलोक का साधन है ॥४३५॥

सुलभा तस्य विभूतिस्तस्य गुणा यान्ति जगति विस्तारम् ।

बहु मनुते त सुजनस्तस्यै स्पृहयति बान्धवा. सततम् ॥४३६॥

उसे सारा ऐश्वर्य मुलम है, उसके गुण सभार में फैल जाते हैं, अच्छे लोग उसे आदर करते हैं और हमेशा बान्धव बन उठे चाहते हैं ॥४३६॥

नासादयति स एकः सत्सेवितमार्गतः परिस्खलनम् ।

मण्डयति सोऽन्ववायं स निवासः शर्मणामशेषाणाम् ॥४३७॥

वह सज्जन-सेवित मार्ग से परिस्खलन प्राप्त नहीं करता, वह वंश को भूयित करता है, वह सारे सुखों का निवास है, ॥४३७॥

स भवति विनयाधारो युक्तायुक्ते विवेकिता तस्य ।

वृद्धोपदेशवाचः श्रवणोदर तर्पणं सदा यस्य ॥४३८॥

वह विनयी होता है उसे उचित-अनुचित का विवेक होता है, जिसके कानों में हमेशा वृद्ध जनों के उपदेश की बातें भरती रहती हैं ॥४३८॥

प्राक्तनकर्मविपाकः क्षुद्रासु शरीरिणां यदासक्तिः ।

श्रायतनं तु सुखानां संसारमुपां कुलोद्गाता दाराः ॥४३९॥

जो कि नीच स्त्रियों में आसक्ति होती है वह पहले किए कर्मों का विपाक है और संवारी के लिए कुलीन स्त्रियाँ तो सुखों का श्रायतन हैं ॥४३९॥

निर्विण्णे निर्विणा मुदिते मुदिता समाकुलाकुलिते ।

प्रतिविम्बसमा कान्ता संक्रुद्धे केवलं भोता ॥४४०॥

पति के खिन्न होने पर वह भी खिन्न हो जाती है, मुदित होने पर मुदित, श्राकुल होने पर श्राकुल हो जाती है केवल वृषित हो जाने पर डर जाती है ॥४४०॥

यावद्वाञ्छितसुरतव्यापामसहाऽविच्छदसंपर्का ।

चित्तानुवृत्तिकुशला पुण्यवतामेव जायते जाया ॥४४१॥

इच्छा मर सुरत के व्यापाम सहन करने वाली किसी प्रकार विरोध की बातचीत न करने वाली और पति के चित्त के अनुसरण में कुशल जाया पुण्यवानों को ही मिलती है ॥४४१॥

सद्भावप्रेमरसं बलयावलिशब्दशक्तिता निमृत्तम् ।

विदधानाङ्गसमर्पणमुन्मीलितकुसुमसायकाकृता ॥४४२॥

कण्डूयों की मंजार से शङ्कित हो चुपके से छद्माय और प्रेम के खोले और उन्मीलित कामदेव के अभिप्राय रूप झङ्ग उपपंश करती हुई ॥४४२॥

हा हा किमुद्धतत्वं श्रोष्यति किञ्चिद्गतत्रप स्वैरम् ।

१. निकटे परिवारजनो विस्मृत एव स्मरातुरस्य तव ॥४४३॥

हा हा, यह क्या बरजोरी, कोई सुन लेगा, निर्लज्ज धीरे धीरे, कामातुर हो तुम भूल गए कि पास ही परिवार के लोग हैं ॥४४३॥

इति - ह्युक्तिसंबलितैरायासतिवेदितायंपदवाक्यैः ।

१. द्विगुणीकरोति कुलजा, नायककर्मणि मोहनप्रसरे ॥४४४॥

इस प्रकार हुकारो से मिश्रित और आयास के द्वारा निवेदन करने वाले अर्थ पद और वाक्यों द्वारा कुलवन्ती नारी सुरतावेग में नायक के कार्यों को दुगुना कर देती है ॥४४४॥

इत्यमुदीरितवाचं सुहृदमवोचत्पुरंदरस्य सुतः ।

समुपस्थितजोवसमावियोगभयकपितो वचनम् ॥४४५॥

इस प्रकार उसने जब ये बातें कहीं, तब प्राणप्रिया के प्रयासप्र वियोग के कारण काफ़ता हुआ मुन्दरसेन मित्र से बोला ॥४४५॥

तातादेशेऽलक्ष्ये हारलताविरहंपावके तीव्रे ।

विधिवंशवतिनि मरणे नो विद्यः कार्यपरिणामम् ॥४४६॥

जब कि पिताजी की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता, हारलता की विरहाग्नि तीव्र है, तथा मर जाना भाग्य के अधीन है ऐसी स्थिति में किए का परिणाम क्या होगा, हम नहीं जानते ॥४४६॥

अनपेक्षितधनलाभा स्नेहैकनिवद्धमानसां दयिताम् ।

देवाकृष्टो मुचति घटितो वा लोह्वज्यकणिकाभिः ॥४४७॥

धनलाभ की अपेक्षा न रखने वाली, एक मात्र स्नेह से बंधे मानस वाली प्रिया को आदमी या तो दैव के द्वारा प्रेरित हो छोड़ता है या लोहे और हीरे की कनियों से गढ़ा हुआ होने के कारण छोड़ता है ॥४४७॥

अथ कृतगमनविनिश्चितिर्भिमतरामा चकार विदितायाम् ।

सापि तमनुवन्नाज प्रस्तुतयात्र शुचाकुलिता ॥४४८॥

अनन्तर हृत्तमपुर जाने का निश्चय करके उसने विपतमा को यथित कर

दिया । वह भी यात्रा पर जाते अपने प्रेमी के पंछे-पीछे शोभायुक्त हो चलने लगी ॥४४८॥

आसाद्य वटस्य तलं वाष्पपयःकणचिताक्षिपक्ष्माग्राम् ।

विमितचरणविहारो हारलतामभिदधाति स्म ॥४४९॥

बरगद के पेड़ की छाया में आकर अश्रुकों से सिक पक्ष्माग्र वाली हार-लता से स्वलित रूप से चलता हुआ (मुन्दरसेन) बोला ॥४४९॥

आ क्षीरवतो वृक्षादा सलिलाद्वा प्रिये प्रियं यान्तम् ।

अनुयायादिति वचनं तेन त्वमितो निवर्तंस्व ॥४५०॥

‘प्रिये, क्षीरवान् वृक्ष तरु अथवा जलाशय तरु जाते हुए प्रिय का अनुगमन करे, यह शान्त्र वचन है, अतः यहाँ से न लौट जा ॥४५०॥

किं कुर्मो दैवहताः प्रभवति यस्मिन्कृशोदरि प्रसभम् ।

प्रेमग्रन्थिच्छ्रेता गुरुशासनसायको निरावरणः ॥४५१॥

हे कृशोदरि, जहाँ प्रेम की ग्रन्थि को काट देने वाला, आचरणरहित, गुरुजन के शासन का कारण बलपूर्वक प्रवृत्त है यहाँ भाग्य के मारे हुए हम क्या करें ? ॥४५१॥

न द्विषणचयप्राप्तिर्नैकाश्रयपरिचयो न च द्विगुणः ।

न स्वामिसमादेशो नाकारविलोभनं न वा ख्यातिः ॥४५२॥

हममें तेरी प्रवृत्ति का कारण न दुःख धन का लालस है, न एक जगद रहने का परिचय है, न प्रिय वचन है, न मालिन की आशा है, न मुन्दरता की शुभान है और न कोई प्रतिदि है ॥४५२॥

हेतुस्तव प्रवृत्तेरस्मासु तथापि दैववशात् ।

ईदृक् कोऽप्यनुबन्धो यस्य विपाकोऽप्रतीकारः ॥४५३॥

तथापि तथापि दैवयोगवश यह कोई विरति आ पड़ी है, जिसके परिणाम का कोई प्रतीकार (चिकित्सा) नहीं ॥४५३॥

पश्यं यदभिहितासि प्रणयस्या शक्तिते न नमंणि वा ।

सुदति न तत्स्मरणीयं दुर्भाषिणरीतनोद्धाते ॥४५४॥

दे मुन्दर दातो वाली, प्रणययोग के कारण अथवा शक्ति होकर मैंने हँसी

मजाक में थथवा क्रोध भरी बात चीत में कुछ कड़ी बात कह दी हो तो उसे भूल जाना ॥४५४॥

तव हृदये हृदयमिदं विन्यस्तं न्यासपालनं कष्टम् ।

यत्नात्तथा विधेयं स्थानभ्रंशो यथा न स्यात् ॥४५५॥

यह मेरा हृदय तेरे हृदय में पड़ा है, न्यास (थाती) की रत्ना कष्ट से होती है । यत्नपूर्वक धैरा्य करना जिससे यह इधर से उधर (स्थान भ्रष्ट) न हो ॥४५५॥

अथ विरतवचोदयितं वाष्पभराक्लिष्टवर्णपदयोगात् ।

इति कथमपि हारलता संमूर्च्छितवर्णभारतीमूचे ॥४५६॥

अनन्तर प्रिय वचन बोलने वाले अधु गदगद सुन्दरसेन से हारलता किसी प्रकार मूर्च्छित आवाज में बोली ॥४५६॥—

अविशुद्धकुलोत्पन्ना देहार्पणजीविका शठाचरणा ।

क्वाहं रूपाजीवा क्व भवन्तः श्लाघनीयजन्मगुणाः ॥४५७॥

‘कहाँ अपवित्र कुल में पैदा हुई, शरीर अर्पित करके रोजी कमाने वाली, कष्ट चारिणी (विश्या) मैं और कहीं प्रशंसा के योग्य जन्म और गुणों वाले तुम ॥४५७॥

यत्तु विषयविलोकनकुतूहलाभ्यागतेन विश्रान्तम् ।

इयतो दिवसानस्मिंस्तन्मम परजन्म सुकृतफलम् ॥४५८॥

जो तुम देश-दर्शन के कुतूहल से आए और यहाँ इतने दिनों तक विश्राम किया पद मेरे पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों का फल रहा ॥४५८॥

गुप्तैवां बन्धुजनं स्वदेशव्रसति कलत्रमनुकूलम् ।

अनुपङ्गदृष्टिपरिचित आस्यां प्रविधाय कः परित्यजति ॥४५९॥

यह हीन होगा जो राह-चलते दिने आदमी पर विश्वास करके गुप्त-जनों की सेवा को, बन्धुजन को और अनुकूल पत्नी को छोड़ देगा ? ॥४५९॥

यौवनचापलमेतद्यन्माद्यसि भवति कौतुकं भवताम् ।

यत् सुखमनवगीतं तस्य स्थानं निजा दाराः ॥४६०॥

यह तो यौवन की चपलता है जो मुझ-जैसी में आप लोग रिक्त जाते हैं । जो मुझ अनिन्दित हैं उसका स्थान तो अपनी पत्नी होती है ॥४६०॥

ते मधुराः परिहासास्ता वक्रगिरः स वामतासमयः ।

नो हृदये कर्तव्यो रहसि क्षेमार्थिना भवता ॥४६१॥

यदि आप अगना कल्याण चाहें तो उन मधुर हँसी-मजाकों को, उन कंठे मरी बातों को और उस उलटी चाल चलने के समय को कभी अफेले में भी याद न करेंगे ॥४६१॥

लाघवतो यन्मनसः प्रणयाद्वा यत्तवाचरितम् ।

प्रतिकूलं तत्र मया नाथांजलारेप विरचितो मूर्ध्नि ॥४६२॥

नाथ, अपनी लज्जता से अथवा अधिक प्रणय के कारण तुम्हारा जो अप्रिय या प्रतिकूल मैं कर बैठी हूँ उसके लिए क्षम जोड़ती हूँ ॥४६२॥

दुःसंचारा मार्गा दूरे वसतिर्विसंष्टुलं हृदयम् ।

गुणपालित तव सूहृदा भवितव्यमतोऽप्रमत्तने ॥४६३॥

गुणपालित, मार्ग बड़े दुरगम हैं, घर बहुत दूर है और हृदय अश्वस्थित है । अतः तुम्हारे मित्र को सावधान रहना चाहिए ॥४६३॥

हृदयद्वय एकत्वं याते यूनोर्वियोगजं क्लेशम् ।

अनुभवतोरपरेण प्रसंगतः पद्यते पथ्या ॥४६४॥

जब युवक और युवती के दो हृदय एक हो जाते हैं तब अगने रियोग जनित क्लेश का उन्हें अनुभव होने लगता है, ऐसे प्रसंग में किसी ने इस पथ्या छन्द का पाठ किया ॥४६४॥

१—'शृङ्गकटिक' में आशुदत्त ने भी कहा है—

'गणिका मम मित्रमिति ।

अथवा यौवनमपराध्यति न पारित्यम् ॥



‘अन्योन्यगूढचेष्टितसद्भावस्नेहपारावद्धस्य ।

विच्छेदकरो मृत्युर्वोराणा वा परिच्छेदः’ ॥४६५॥

‘परस्पर मुट्ट कायों के कारण सद्भाव और स्नेह के पन्दे में बंधे हुए लोगों के लिए मरण हमेशा के लिए विच्छेद करने वाला होता है, परन्तु धीरे धीरे जना के लिए वही समागम होता है’ ॥४६५॥

अथ तच्छ्रवणानन्तरमास्व सुखं दयित्तिके व्रजामीति ।

अभिधाय याति मन्दं सुन्दरसेने विवर्तितग्रीवम् ॥४६६॥

तत्र उसे सुनकर सुन्दरसेन ‘प्रिये, सुरत से रहना, मैं जाता हूँ’ यह कर धीरे से गर्दन मोड़ लिया और चलने लगा ॥४६६॥

वटशाखालम्बिभुजां श्वसितोष्णसमीरशुष्यदधरदलाम् ।

पयंस्ता विभ्राणा तन्मागंवलोकनानिमेपदृशम् ॥४६७॥

कि (हारलता,) जो बरगद की शाखा थामे थी, श्वास की गर्म हवा से जिसका अधर-पुट सूखता जा रहा था, जो उसका मार्ग देखने के निमित्त अपलक और पैली दृष्टि धारण किए थी ॥४६७॥

दीलायमानवेणी तिर्यंगतकण्ठभूषणविशेषाम् ।

गलदश्रुवारिपूर्णा पतिताशुकभागनि.सहांगलताम् ॥४६८॥

अपने चंचल फेशपाश को और कण्ठ भूषण को जिसने टेढ़ा कर दिया, जो भरते आसू के जल से भरी, गिरी हुई थी, जिसकी अंगलता सूखी और अपना बोझ दोने में अममर्थ हो गई थी ॥४६८॥

रुग्धानामिव हृदयं स्फुटदितरकरेण कुचयुगाश्रयिणा

परिशोपितां विलासैस्तृप्तां जीवलोककर्तव्यैः ॥४६९॥

मानों जो दोनों स्तनों पर टिके हाथ से फूटते हुये हृदय को रोक रही थी, विलासों ने जिसे छोड़ डाला था और जो जीव लोक के कर्तव्यों से मुक्त थी ॥४६९॥

अंगीकृता विपत्त्या वशीकृता भ्रमघट्टनैविपमैः ।

हारलतामपरिस्फुटमत.परिकृप्यमाणभारत्या ॥४७०॥

जिसे विपत्ति ने अपना लिया था, निपम आम्बन्तर संघर्षों ने जिसे अधीन

कर लिया था, जो अस्मत् रूप से। भीतर से बाणों को लींचकर यह कह रही थी ॥४७०॥

मा मा तावद्यात् क्षणमेक प्रावदेप निष्कलम् ।

वनगुल्मैर्न तिरोहित इत्यभिदधती ज्रहु प्राणा ॥४७१॥

‘प्राणो, तब तक एक क्षण के लिए मत जाओ, जब तक यह निष्कल गण के झाड़ों में ओमल नही हो जाता’ ऐसी स्थित में प्राणों ने उस हारलता को छोड़ दिया ॥४७१॥

अथ पश्चात्समुपेतं पप्रच्छ पुरंदरात्मज पथिकम् ।

दृष्ट्वा शोकव्यथिता विवर्तमाना वराङ्गना भवता ॥४७२॥

तब पीछे से आए हुए पथिक स सुन्दरसेन ने पृच्छा—‘क्या आपने लौंती हुई, शोक से व्यथित स्त्री को देखा है’ ? ॥४७२॥

स उवाच वदतरोरध उर्ध्वाः पतिता विनिश्चलावयवा ।

तिष्ठति वनिता नान्या तयनावसर गतास्माकम् ॥४७३॥

यह बोला ‘रगद के पेड़ के नीचे जमीन पर गिरी निश्चल अगो वाली एक महिला पड़ी है और कोई दूसरी को तो हमने नही देखा’ ॥४७३॥

इति तद्वचनाश्महतो विह्वलमूर्तिर्पपात भूपृष्ठे ।

उत्थापितश्च सुहृदा सौमिदधे तेन शोकविकलेन ॥४७४॥

उसकी इस बात क पथर से घराहिल हो छत्रगते हुए सुन्दरसेन जमीन पर गिर पड़ा, तब मि ने उठे उठाया, फिर शोक से व्याकुल यह कहा लगा ॥४७४॥

भवतु कृतार्थस्तातस्त्वमेपि सुमित्रास्व सप्रति प्रीत ।

समकालमेव मुक्ता पापेन मयासुमिश्च हारलता ॥४७५॥

‘मित्रा जी कुतार्थ हो और प्यारे मित्र, तुम भी इस समूह प्रसन्न हो, हारलता का पापी मन और प्राणा न एक ही समय में छोड़ा है ॥४७५॥

हा हा हाव हतोसि ध्वस्ता लीला विलास कि कुरुषे ।

उच्छ्रिता विच्छ्रितिभ्रंम विभ्रम दश दिशो निराधारः ॥४७६॥

हाय, हाय, हाव,^१ तुम तो मारे गए, लीला^२ खल्ल हो गई, विलास^३ तुम क्या करोगे ? विच्छ्रिति^४ उजड़ गई, विभ्रम^५ निराधार होकर दश दिशाओं में घूमा करो ॥४७६॥

१—आलङ्कारिक आवायों ने स्त्रियों के यौवनकाल में उनके बीस सात्विक अर्थात् सत्त्वगुणोद्भूत अलङ्कारों की चर्चा की है। पहले उनके तीन भेद किए हैं—शरीरज, अत्यन्तज और स्वभावज। सत्त्व वह गुण है जिसके कारण विकार के हेतु के उपस्थित रहने पर भी कोई विकार नहीं होता, अर्थात् विकार का विरोधी तत्त्व। उस अविकार रूप सत्त्व से कुछ खास परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले सत्त्व 'सात्विक' कहलाते हैं। 'अलङ्कार से अलङ्करण होता है, अर्थात् शोभा होती है। यौवनमात्र से स्त्री में कोई सौन्दर्य या शोभा नहीं आती, बल्कि वह भी एक शरीर का प्रधान अलङ्करण है और वक्ष्यमाण बीस सात्विक अलङ्कार उसमें और भी शोभा का आवाज करते हैं। उक्त सात्विक शरीरज अङ्गकार तीन हैं—भाव, हाव और हेला। अत्यन्तज सात हैं—शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, प्रौढार्थ और धैर्य। स्वाभावज दस हैं—लीला, विलास, विच्छ्रिति, विभ्रम, किलकिञ्चित, योहायित, कुट्टमित, विम्बोक, ललित तथा विह्वत। इस प्रसंग में सुन्दरसेत ने हारलता के वियोग में प्रायः सात्विक अलङ्कारों की संशोधित किया है। आँसू, भौं आदि प्रीतिप्रियमें स्त्रियों में 'विकार' उत्पन्न करनेवाला शृंगार 'हाव' कहलाता है। हे। यह 'भाव' जो नायिका के हृद्देश में उद्भूत सम्भोगीच्छा का प्रकाशक चित्त-विकार है उसी भ्रूनेत्रादि अल्पसंख्य विकार का रूप अतिशय शृंगारचेष्टा है।

२—लीला—जब नायिका प्रिय के सम्मुख न रहने पर सखी के समक्ष प्रिय की याणी, वेप आदि शृंगार-चेष्टाओं का अनुकरण करती है तब उसके अनुकरण को 'लीला' कहते हैं।

३—विलास—प्रिय को देखने के अवसर पर जब नायिका अपने आंगों, क्रियाओं और वचनों में विशेष प्रवर्तन ला देती है वह स्थिति 'विलास' कहलाती है।

४—विच्छ्रिति—थोड़ी भी वेपरचना जब अधिकतर कमनीयता ला देती है तब वह 'विच्छ्रिति' कहलाती है।

५—विभ्रम—प्रिय के आगमनकाल में शीघ्रता के कारण गहनों को गलत जगह में पहन लेना 'विभ्रम' है। जैसे कंधे की पैर में, नूपुर की बाहु में, काशी की कंठ में, पुष्पमालाओं को जघन में आदि।

किलकिञ्चित् गच्छ वनं मोहायितमशरणत्वमुपयातम् ।

कुट्टमित प्रव्रज्या गृहाण विव्वोक विश भुवो विवरम् ॥४७७॥

किलकिञ्चित^१, जगल में चले जायो, मोहायित^२ तुन्दार कोई शरण न रहा, कुट्टमित^३, सम्पास ले लो, विव्वोक^४, घरती के विवर में चला जा ॥४७७॥

ललितमनाथीभूतं विहतस्य गतिनं विद्यते क्वापि ।

शश्वरविम्बद्युतिमुपि यातायामन्तकातिक तस्याम् ॥४७८॥

ललित^५ अनाथ हो गया, विहत^६ की यही भी गति नहीं, जन्मि वह चन्द्रनिम्ब की कान्ति हरण करने वाली (हारलता) मृत्यु (यम) के समीप चली गई ॥४७८॥

विनिवृत्य यामि दग्धुं मद्विरहात्पक्तवत्लभप्राणाम् ।

भवतु वराययास्तस्याः सप्तार्चिर्दानमात्रमुपकारः ॥४७९॥

मेरे निरह में जिसने अपने प्रिय प्राणों को छोड़ दिया है उसे लौट कर दाह करने जाता हूँ, उस बेचारी के अग्निस्कारमात्र तो उपकार हो ॥४७९॥

गत्वाय तमुद्देशं यस्मिन्सा पचभावमापन्ना ।

विललाप मुक्तकण्ठ विलुठन्भुवि सहचरेण धृतमूर्तिः ॥४८०॥

अनन्तर जहाँ हारलता मरी पड़ी थी, उस स्थान पर जानर सुन्दरसेन जमीन पर लोट-पोट करने लगा, साथी ने सभाला, निर वह मुक्त कण्ठ से विलाप करने लगा ॥४८०॥

१—किलकिञ्चित—यह क्रोध, अश्रु, हर्ष, भीति आदि का मिश्रित रूप है ।

२—मोहायित—प्रिय के निषय में आलोचना के समय लक्ष्मणमायिका नायिका अंगमङ्ग के सहित जमाई और कर्णभद्रयन आदि करती है, इस क्रिया को 'मोहायित' कहते हैं ।

३—कुट्टमित—नायिका नायक द्वारा केश, अघर आदि ग्रहण करने पर मन में आनन्दित हो कोप का प्रदर्शन करती है, उस स्थिति को 'कुट्टमित' कहते हैं ।

४—विव्वोक—गर्भ और अभिमान के कारण इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु के प्रति भी अनादर का कार्य विव्वोक कहलाता है ।

५—ललित—अश्रु और नेत्र आदि को क्रिया द्वारा सीसुमार्य विधान करके हस्त, पद आदि अंगविन्यास को 'ललित' कहते हैं ।

६—विहत—जिसे मरने का अवसर प्राप्त हो उसे लज्जा, मान अथवा ईर्ष्या के कारण न कहना 'विहत' है ।

एते वय निवृत्ता मुच रुषं देहि कोपने वाचम् ।

उत्तिष्ठ किमिति तिष्ठसि भूमितले रेणुरूपितशरीरा ॥४८१॥

‘हम लौट आए, रोने छोड़, हे कोपशीले, खड़ा कर, उठ, क्या जमीन पर धूल धूसरित पड़ी है ? ॥४८१॥

विनिमील्य दृशौ कस्मादप्रतिपत्त्या स्थितासि शुभवदने ।

त्वदवारितगमनविधेरपराधितया न मेऽस्ति संयोगः ॥४८२॥

हे शुभवदने, तू आँसू बंद करके किस कारण निश्चल भाव से पड़ी है ? तेरे द्वारा जिसका जाना निवारित नहीं किया गया ऐसे मुक्तसे संयोग होने का नहीं ॥४८२॥

नाकाधिपतिपुरस्त्रीरभिभवितुं त्वयि दिवं प्रयातायाम् । ✓

सत्स्वपि शरेषु पचसु निरायुधः साम्प्रतं मदनः ॥४८३॥

इन्द्रपुरी की रमणियों को पराजित करने के लिए तेरे स्वर्ग चले जाने पर इस समय पांचों बाणों के विद्यमान होने पर भी कामदेव आयुषहीन हो गया है ॥४८३॥

वचकवृत्ता वेश्या इत्यपवादो जनेषु यो रूढः ।

अपनीतोऽसौ निपुण त्वया प्रिये जीवमोक्षेण ॥४८४॥

जो यह अपवाद कि वेश्याएँ ठगवृत्ति किया करती हैं, लोगों में फैल गया है, प्रिये तुमने प्राणा की कुर्गनी करके ही उसे दूर कर दिया ॥४८४॥

वर्ष्यः सद्वत् एकस्त्रिपुरान्तकनन्दनो महासेनः ।

हृदयं यस्य स्पृष्टं न मनागपि वामलोचनाप्रेम्णा ॥४८५॥

भगवान् शङ्कर के पुत्र सयमी कार्तिकेय प्रशसा के योग्य हैं जिनके हृदय को सुन्दर नयनों वाली नारी के प्रेम ने जरा भी स्पर्श नहीं किया ॥४८५॥ ✓

मन्येऽभीष्टवियोगं निभेपमपि दुःसहं समवधार्यं ।

हरिणा वक्षसि लक्ष्मीर्विधूता गौरी हरेण देहार्थे ॥४८६॥

मानता हूँ कि पल भर भी प्रिय वियोग का दुःसह समझ कर विष्णु ने लक्ष्मी को वच पर और शिवजी ने पार्वती को अर्धांग में धारण किया है ॥४८६॥

अग्नि लोकपाल सा भुवि ललामभूता तथा विना शून्यम् ।

विश्वमिति किं न चितितमात्मस्यानं प्रियां नयता ॥४८७॥

हे लोकपाल, अपने स्थान पर मेरी प्रिया को ले जाते हुए तुमने 'वह पृथ्वी पर भूषण है, उसके बिना संसार सूना है' यह क्यों नहीं सोचा ? ॥४८७॥

भगवन्हुतवह मा मा लावण्यसमुद्रसारमृद्धृत्य ।

कथमपि विहितां घात्रा घक्ष्यस्येनां जगद्भूपाम् ॥४८८॥

भगवान् अग्नि, विधाता ने सौन्दर्य के समुद्र से सार वस्तु को निकाल कर किसी प्रकार इसे रचा है अतः संसार के इस अलङ्कार को मत जलाना, ॥४८८॥

इति विलपन्तं बहुविधमवधीयं सुहृत्पुरंदरस्य सुतम ।

काष्ठैर्विरचय्य चितां तामकरोदग्निसाद्गणिकाम् ॥४८९॥

इस प्रकार बहुविध विलाप करते हुए सुन्दरमेन को साथी गुणपालित ने हटा कर काष्ठों से चिता बनाई और उस गणिका को अग्नि के अर्पित कर दिया ॥४८९॥

तस्मिन्निद्धहुताशनविनिपतने कृतमतौ शुचा कलिते ।

मनसि स्फुरितामार्यां पपाठ कश्चित्प्रसंगेन ॥४९०॥

जिस समय कि शोक ने आकुल सुन्दरसेन दहकते हुए अग्नि में कूद पड़ने के लिए निश्चय कर बैठा तभी किसी ने प्रसंग वश मन में स्फुरित आर्या का पाठ किया ॥४९०॥

'अनुमरणे व्यवसायं स्त्रीधर्मे कः करोति सविवेकः ।

संसारमुक्तघुपायं दण्डग्रहणं व्रतं हित्वा' ॥४९१॥

'संसार से मुक्ति (छुटकारा) प्राप्त करने के उपाय दण्डग्रहण करने (गन्याम लेने) के नियम को छोड़कर कौन विचारशील होगा जो स्त्रियों के धर्म अनुमरण में प्रयत्न करेगा ?' ॥४९१॥

श्रुत्वा सुन्दरसेन सुहृदमवोचद्व्यपेतवैकव्यः ।

प्रतिवोधितं मनो मे धीरेणानेन युक्तमुपदिशता ॥४९२॥

गुनने के बाद सुन्दरमेन की व्याकुलता न रही, यह मिथ ने बोला—

‘इत्थं भलेमानुस ने उपदेश देते हुए अच्छा मेरे मन को प्रति बोध दिया है ॥४६२॥

क्षणदृष्टनष्टवृत्तभजन्मजराव्याधिमरणपरिमृते ।

परिवर्तिनि संसारे कः कुर्यादाग्रहं महिमान् ॥४६३॥

जहाँ प्रिय जन क्षणभर के लिए दिखते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं, जो जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण आदि से परिभूत रहता है ऐसे बदलते रहने वाले संसार के सम्बन्ध में कौन बुद्धिमान आग्रह करेगा ? ॥४६३॥

यातु भवान्कुसुमपुरं वयमप्यन्त्याश्रमे समाश्रयणम् ।

अंगीकुर्मोऽविद्याप्रहाणसंसिद्धये विहितम् ॥४६४॥

तुम कुसुमपुर चले जाओ, अविद्या के विनाश की सिद्धि के लिए हम भी अन्तिम आश्रम (सन्यास) में नियत रूप से रहना अङ्गीकार करते हैं ॥४६४॥

सोऽवददभिजातजनो बाल्यात्प्रमृति त्वया च न विमुक्तः ।

संन्यसतबुद्धिमधुना कथमुज्झति विषयनिस्पृहं सुहृदम् ॥४६५॥

वह कुलीन गुणपालित बोला—‘बचपन से लेकर तुमने मुझे नहीं छोड़ा, अब संन्यास लेने की बुद्धि हुई तो विषय की स्पृहा से रहित साधु को कैसे छोड़ रहे हो ? ॥४६५॥

एवमिति सोऽभिधाय स्थिरधृतिनियमैस्तपोधनैर्जुष्टम् ।

गुणपालितेन सहितः सुन्दरसेनो जगाम वनम् ॥४६६॥

तब सुन्दरसेन ‘अच्छा’ कह कर स्थिरमति और नियमों के आचरण वाले तपस्विजनों से अभिष्टित वन में गुणपालित के साथ चला गया” ॥४६६॥

एवं भवन्तु वेरयाः स्वार्थैकरता व्यपेतसद्भावाः ।

अभिलषितविषयसिद्धेः का हानिस्तदपि युष्माकम् ॥४६७॥

इस प्रकार, वेरयाएँ एकमात्र स्वार्थरत राग-रहित होती हैं, तथापि इन्द्रिय विषय की सिद्धि हो जाने से हम पुरुषों को कौनसी हानि दे ? ॥४६७॥

रमण हृदयानुवर्तनचतुरचतुःपष्टिकर्मकुशलानाम् ।

न स्पृशति तत्त्वचर्चा पण्यवधूनां विदग्धचेतांसि ॥४६८॥

अपने रमण के दिल बहलाने में निपुण और चाँसठ कलाओं^१ में चालाक याजारू औरों के विषय में तत्त्व की चर्चा (कि वह रागमती है अथवा नहीं आदि) विदग्धजनों के चित्त का स्पर्श नहीं करती ॥४६८॥

✓ वलितप्लुतचित्रगतिस्थितिवेगैश्चोदनानुवृत्त्या च ।

रागस्पर्शेन विना विशति मनः सादिनां तुरगः ॥४६९॥

घोड़ा बलित^२ प्लुत, चित्र आदि गतियों और स्थिति (ठहराव) के परिज्ञान से तथा प्रेरणा का अनुसरण करने से राग (प्रेम) के स्पर्श तक के न होने पर भी घुड़सवारों के मन में स्थान या लेता है ॥४६९॥

गन्धोऽपि कुतः प्रेम्णः परमृतहारोतगृहकपोतानाम् । ✓

उज्ज्वलयत्यसमेपुं विस्तविशेषेस्तथापि ते यूनाम् ॥५००॥

कोयल, हारिल, परेलू कबूतर आदि के प्रेम की गन्ध भी वहाँ ? तथापि वे अपनी विशेष प्रकार की आवाजों से युवकों के मन्मथ को भड़काते हैं ॥५००॥

आहितयुक्ताहार्यः सम्यक्सकलप्रयोगसम्पत्त्या ।

भावविहीनोऽपि नटः सामाजिकचित्तरंजनं कुच्छे ॥५०१॥ ✓

वेशभूषा धारण करके फिर उतार देने वाला^३ निचो प्रकार के भीतरी राग से रहित भी नट पूर्ण रूप से सारे अभिनयों की सिद्धि के द्वारा सामाजिकों (दर्शकों) के चित्त का अनुरजन करता है ॥५०१॥

१—आचार्य सेमेन्द्र ने अलग से अपने एक वैशिक ग्रन्थ में गणिकाओं की निजी १४ कलाओं का उल्लेख किया है ।

२—यदिगत, प्लुत और चित्र ये घोड़ों की खास चाल हैं । पैरों को ऊपर की ओर कंक कर चलना यदिगत है, कूदकूद पर या छुलांग मारकर चलना प्लुत है और मनोहर चाल से चलना चित्र है । सम्भवतः आज कल इन्हीं के लिए प्रमत्तः मरपट, दुलफी और यदम प्रभृति शब्द प्रचलित हैं ।

३—आहितयुक्ताहार्यं—आहार्यं अर्थात् नेपथ्यज विधि उसे जिनमें धारण करके छोड़ दिया है । यह नेपथ्यज विधान एक प्रकार की कला है ।

'जयमङ्गला' के अनुसार 'देशकालापेक्षया वस्त्रमाल्याभरणादिभिः शोभार्थं शरीरस्य मण्डनाकाराः ।'

जोकि अभिनय के अनुकूल साज-सामान या पोशाक धारण करते हैं उन्हे ही 'नेपथ्य विधि' कहते हैं, जिसे आजकल 'भेरुषय' कहते हैं ।

येऽपि धनक्षयदोषं परयति जडा विलासिनीश्लेषे ।

- प्रष्टव्यास्ते भवता किमकृतकशिपुव्यया दाराः ॥५०२॥

जो मूर्ख व्यक्ति वेश्या के आलिङ्गन में धन का सत्यानाश रूप दोष देखते हैं उनसे आप पूछिए कि क्या पत्नी बिना अन्न-वस्त्र रखे होती है ? ॥५०२॥

न च लाभ एक एव प्रवर्तते कारणं मनुष्येषु ।

✓ रागादयोऽपि मतिं वैशिकशास्त्रप्रणेतृभिः कथिताः ॥५०३॥

मनुष्यों में प्रवृत्त होने का कारण सिर्फ लाभ ही नहीं है बल्कि जैसा कि वैशिक शास्त्र के रचयिताओं^१ ने कहा है, राग आदि भी कारण हैं ॥५०३॥

का वा विभूतिराप्ता सुन्दरसेनात्तया तपस्विन्या ।

यद्विरहकुलिशभिन्ना मुमोच सा जीवितं क्षणार्धेन ॥५०४॥

उस बेचारी (हारलता) ने सुन्दरसेन से कौन-सा ऐश्वर्य पा लिया था कि जिसके विरह के वज्र से भिन्न वह आये क्षण में प्राण छोड़ बैठी ? ॥५०४॥

उत्तमतरुणप्रकृतिः पुलकादिकसूचितान्यतनुसक्तिः ।

स्फुटसंनिहितविभावो निवार्यते केन शृंगारः ॥५०५॥

जिसके कारण उत्तम तरुण और तरुणी हैं, रोमाञ्च आदि से जिसकी इतर विशेष शक्तियाँ भी सूचित होती हैं और जिसके विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) स्पष्ट और सन्निहित होते हैं ऐसे शृङ्गार रस को कौन निवारण करता है ? ॥५०५॥

अन्तःकरणविकारं गुरुपरिजनसंकटेऽपि कुलटानाम् ।

जानन्ति तदभियुक्ता भ्रूभंगापांगमधुरदृष्टेन ॥५०६॥

गुरुओं और परिजनों की भीड़-भाड़ में भी कुलटाओं के मन के विकार उसके जानकार लोग भाँद चढ़ाकर तिरछी नजरों से देखने से जान जाते हैं ॥५०६॥

१—दत्तरु, विशाखिल, वात्स्यायन प्रभृति आचार्य वैशिकशास्त्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। वैशिक पुरुष (वेश्यागामी) जो वेश्या के उपचार में कुशल होते हैं, उन पुरुषों के कर्तव्य-अकर्तव्य के विचार वाला शास्त्र 'वैशिकशास्त्र' कहलाता है।

अन्या विहाय पतिगृहमविचितितकुलकलङ्कजनगर्हा ।

रागोपरक्तहृदया यान्ति दिगन्त मनुष्य आसज्य ॥५०७॥

राग से रजित हृदय वाली कुछ स्त्रियाँ कुल के कलङ्क और लोगो में निन्दा की परवाह न करके पति का घर छोड़ कर आदमी पानर मुदूर चली जाती हैं ॥५०७॥

अप्रमान पतिविहितो गुरुपरिकरतीव्रता गृहे दो स्थ्यम् ।

शौलक्षतये यासा तासामतिरागतोऽन्यनरसक्तिः ॥५०८॥

पति के द्वारा किया हुआ अप्रमान, परिवार के बन्धों की कड़ाई और घर में हुए से रहना ये सब जिन स्त्रियों के शील (सदाचार) के नाश के कारण होते हैं, उनको आसक्ति दूसरे पुरुष में हो जाती है ॥५०८॥

या अप्यचलितवृत्ता भतुंश्चरणाब्जतत्परा. प्रमदाः ।

ता अपि रागविमुक्तास्तिष्ठन्त्यौचित्यमात्रेण ॥५०९॥

जिन अनुरागहीन भी प्रमदाओं का आचरण विचलित नहीं हुआ है और पति की सेवा में तत्पर रहती हैं वे सिर्फ औचित्य के सहारे रहती हैं ॥५०९॥

तस्मात्तास्वभिगमन विविधनिमित्तं निवार्यते केन ।

✓ निजपरपण्यस्त्रीणां रागाधीन तु हृदयनिर्वहणम् ॥५१०॥

अस्तु, इसलिए नाना प्रकार के निमित्तों से होने वाले व्यभिचार का निवारण कौन कर सक्ता है ? स्त्रीया, परकीया और सामान्या इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के हृदय का सम्मान राग के अधीन होता है ॥५१०॥

एवविवद्वृष्टान्तरूपपत्तियुतैस्तथेदृशैवकियै ।

अन्यैरपि चादुपदैरावर्जितमानसो गम्यः ॥५११॥

इस प्रकार के बुद्धियुक्त दृष्टान्तों तथा इस प्रकार के वाक्यों एवं अन्य त्रिषु यचनों से गम्य (वामुक) का मन जय आवर्जित हो जाय ॥५११॥

विहितस्वापविबोधं किञ्चित्प्रकटीकृतश्रमग्लान्या ।

उत्पादितजम्भिकया परिरभ्य घनं निशापगमे ॥५१२॥

तब नींद से जगे हुए उगकी कुछ यकान और विरक्तता जम्माई लेकर प्रसन्न करके कण कर आलिगन करना और रात बीन जाने पर ॥५१२॥

विघटितपुटमुद्रदृशा विलोक्य ककुभः सदोर्धनिःश्वासम् ।

वक्तव्यमिति भवत्या रजनि खले किं प्रभातासि ॥५१३॥

उन्मोलित आँखों से दिशाश्री को देखकर लम्बी साँस के साथ यह कहना 'दुष्टे रजनि, क्या प्रभात शेष हो गई ?' ॥५१३॥

अवला विपहेत कथं दृढशक्तिममुष्य रतिरसप्रसरम् ।

मदनजनितानुरागो न विदध्याद्यदि वलाधानम् ॥५१४॥

अगर कामजनित अनुराग ने उसमें शक्ति न भर दी होती तो ज्वरदस्त पुरुषों के रतापेन को अवला कैसे सहन कर सकती ? ॥५१४॥

धन्या चक्राह्लवधूः प्रियतमसंघट्टनसमयसम्प्राप्त्या ।

शशिना वियुज्यमाना कुमुदवति क्षोणपुण्यासि ॥५१५॥

प्रियतम से मिलन का समय जिसे प्राप्त है वह चकई धन्य है और चन्द्र से वियुक्त होती हुई हे कुमुदिनी, तू क्या क्षीण पुरयो वाली है ? ॥५१५॥

विकसितसुरभिमनोहरसंस्थानं सरसकुसुममप्राप्तम् ।

न करोति तथा पीडामास्वादितविच्युतं यथा मृग्याः ॥५१६॥

खिले, परागभरे, मनोहर एवं व्यवस्थित सरस पुष्प को भृङ्गी ने नहीं पाया यह कष्ट नहीं देता, बल्कि उसके द्वारा आस्वादित होने पर उस फूल का दूट जाना (कष्टप्रद) हो जाता है ॥५१६॥

विज्ञापयाम्यतस्त्वां रचितांजलिमौलिना विधाय नतिम् ।

परिचारकजनमध्ये गणनोयाहं प्रसादेन ॥५१७॥

इसलिए अञ्जलिबन्ध के साथ सिर झुका कर तुमसे निवेदन करती हूँ कि 'कृपा करके सेयक जनों के बीच मेरी गणना करना' ॥५१७॥

अथ दीपितरागांगैरपहस्तितला भदिक्रमोपचितैः ।

मृदुभिश्चित्तानुगतैरुपचारैः पातितस्य विश्वासे ॥५१८॥

अनन्तर हे शूरोदरी, राग के उपकारक तत्वों को उद्दीपित करने वाले, लाभ के भ्रम के दृष्टा देने से प्रवर्धित, १ मृदु एवं चित्तानुकूल उपचारों द्वारा जब वह विश्वास में पड़ जाय तब उठते कहना ॥५१८॥—

1—लाभविभ्रमोपचितैः—कामुक के हृदयाभ्रम में प्रवृत्त बेरया की समझे वही कुशलता तब निद्रा होता है जब वह अपने व्यवहारों से यह प्रकट नहीं होने देती कि वह किसी प्रकार धनलाभ के लिए स्वार्थ वरा प्रेम जना रही है। ऐसी स्थिति में कामुक का उसके प्रति आकर्षण और भी बढ़ता है।

अवलोकितोऽसि लम्पट किमिति वदन्कणंसनिधौ निमृतम् ।

संकटसेनाधात्र्या अद्य मया जालमार्गेण ॥५१६॥

‘चालराज’, शङ्करसेना श्री धाय के कान के समीप चुपके से कुछ कहते तुम्हें मीने आज सिट्नी से देर लिया ॥५१६॥

मालत्या सह केरिं विदधासि सखी ममेति न विरोधः ।

यत्तु चिर स्निग्धदृशा पश्यसि ता तत्र मे शका ॥५२०॥

मुझे इसका विरोध नहीं कि तुम मालती के साथ कुछ बातचीत करते हो, क्योंकि वह मेरी सहेली है, जो कि उसे स्नेहमयी दृष्टि से देर तक देखते हो इसमें मुझे शक होने लगा है ॥५२०॥

त्वामागता न वीक्षितुमनुवध्य न याचितः प्रयत्नेन ।

ग्राह्य वद किमर्थं ताम्बूलं ग्राहिता कमलदेवी ॥५२१॥

वह न तो तुम्हें देखने आइं और न तो उसने प्रयत्नपूर्वक जोर देकर माँगा ही तब भी तुमने कमल देवी को बुला कर बोलो, किसलिये ताम्बूल पकड़ाया ? ॥५२१॥

कंचुकमपकर्पन्त्याः प्रकटीभव दंसकक्षकुचपार्श्वम् ।

साभिनिवेशं दृष्टं भवता कि कुन्दमालायाः ॥५२२॥

जब कुन्दमाला अपना कञ्चुक उतार रही थी तब क्या तुमने उसके स्पष्ट होते हुए कञ्चु और स्तनों के पार्श्वभागों को इच्छा भरी दृष्टि से देखा ? ॥५२२॥

परिहासेन गृहीता यद्यंशुकपल्लवे त्वया रामा ।

आच्छाद्यापक्रान्ता कि मामवलोक्य पृष्ठतः सहसा ॥५२३॥

अगर हँसी-मजाज म तुमने रामा का आँचल पकड़ लिया तो पीछे से मुझे देख कर वह सहसा छुड़ा कर क्यों भाग गई ? ॥५२३॥

विज्ञानेन ख्यातां कुसुमलता त्वं तु वर्णयस्यनिग्रम् ।

नुत्यंती मृगदेवो विस्फारितलोचनः पश्यन् ॥५२४॥

वशीकरण आदि कार्यों में मशहूर कुसुमलता की हमेशा तुम तारीफ करते रहते हो और नाच करती हुई मृगदेवी को आँखें पाड़-पाड़ कर देखते हो ॥५२४॥

कारणमत्र न वेद्मामृजुपन्थानं प्रसिद्धमुत्सृज्य ।

वक्रेण यदेपि पथा माधवसेनागृहाग्रेण ॥५२५॥

जो कि तुम हमेशा मशहूर और आसान रास्ते को छोड़ कर माधवसेना के घर के आगे वाले टेढ़े रास्ते से आते हो इसका कारण मेरी समझ में नहीं आता ॥५२५॥

इति सेष्योपन्यासैरन्यैश्चाममवैविलघुकोपैः ।

प्रणयप्रभवैर्विदिते शातोदरि गूढरागत्वे ॥५२६॥

इस प्रकार ईर्ष्यायुक्त दूसरे भी मर्म को वेध न देने वाले प्रणयजनित लघु कोपों द्वारा कानुक के अधिक अनुरक्त हो जाने पर ॥५२६॥

श्रुतिविशयेऽन्तरिततनुर्जनितस्थितिरायताक्षि सह मात्रा ।

परुषगिरा त्वं कुर्या इत्थं मिथ्यावचःकलहम् ॥५२७॥

हे दीर्घ नेत्रों वाली, उससे श्रोभल होकर जिससे यह सुन सके इससे समीप ही खड़ी होकर माता के साथ तू इस प्रकार झूठमूठ का परुष वाणी से वाक्कलह करना ॥५२७॥

अकलेशोपनतधनः प्रेमप्रव्हो निरगलत्यागः ।

भट्टमहानन्दसुतो निधिमृतोऽभव्यया त्वया त्यक्तः ॥५२८॥

(विरयामाता की उक्ति—)

‘भट्ट आनन्द के लड़का, जिसे बिना प्रयास धन मिलता है, प्रेम से मुका हुआ, निर्वन्ध पैसा लुटाने वाला स्वयं सजाना बने उसे अभामिन तू ने छोड़ दिया ॥५२८॥

व्यसनोपहतविवेको दैवैकगतिः स्वदारविद्वेषी ।

मामविगणय्य मूढे निर्भर्त्सित एव केशवस्वामी ॥५२९॥

मूढे, शौक के मारे जिसका विवेक जाता रहा है, देने में ही जिसे प्रेम है और जो अपनी पत्नी से द्वेष रखता है ऐसे केशवस्वामी को, मेरी एक न सुनी और उकरा दिया ॥५२९॥

अगणितराजापायोऽविच्छिन्नायः स्वभावतस्त्यागी ।

किमुपेक्षितोऽनुरक्तो वामधिया शौलिककाध्यक्षः ॥५३०॥

जो राजा के दण्ड को परवाह नहीं करता, जिसे बराबर श्यामदनी होती

रहती है और जो स्वभाव हा मे त्यागी है ऐसे अनुराग करने वाले शौलिकका-
प्यथ १ को टेंदी जुद्ध गाली तू ने क्या उपेक्षा नग दी ? ॥५३०॥

पितुरेक एव पुनश्चतुर्यवयसो गदाभिभूतस्य ।

द्रविणवत. प्रभुरातो निराकृतो भूरिकामया सौर्जपि ॥५३१॥

अति बूढे, रोग से पीडित, धनी बाप के इकलौते बेटे उस प्रभुरात को भी ज्यादा
इच्छा रखने वाली तूने तिरस्कार कर दिया ॥५३१॥

स्वकरेण परित्यक्ता त्वया विभूति. करोमि किं पापा ।

सर्वभरेणोपनत वसुदेवमनादरेण पश्यन्त्या ॥५३२॥

अन प्रकार के अतिशय अन्नरस वाले वसुदेव को अनादर की दृष्टि से
देखती हुई तू ने अपने हाथ से ऐश्वर्य छोड़ दिया, मैं पापिन क्या
करूँ ? ॥५३२॥

पुरुषान्तरसंघर्षात्प्रोत्साहितचित्तवृत्ति निरपेक्षम् ।

वसु विसृजति यो रभसात्तस्य न वार्ता त्वया पृष्टा ॥५३३॥

दूसरे कामुक के साथ संघर्ष करके जिसकी चित्तवृत्ति प्रोत्साहित हो गई
और जो बिना किसी उपेक्षा के धन पेंगता है उससे महज तूने समाचार भी
नहीं पूछा ॥५३३॥

चित्रादिकलाकुशल. स्मरशास्त्रविचक्षणो वृषप्रकृति. ।

उपकुर्वन्नपि सर्वो विद्वेषिगणे त्वया क्षिप्त. ॥५३४॥

चित्र आदि कलाओं में कुशल, कामशास्त्र का परिष्ठत, वृष जातीय नायक
की प्रकृति वाले २ और उपकारी भी सर्व को तूने शत्रु की गणना में डाल
दिया ॥५३४॥

१—तु मी तहमील करने वालों का सरदार ।

२—वृषप्रकृति—वृषजातीय नायक विशेष । वास्यायन के अनुसार नवागुलगुह्य,
मुनरां अलघुदीर्घगुह्य होने के कारण कामिनियों का प्रिय । रतिरहस्य के अनुसार
वृषजातीय पुरुष शूर, समुचितभाषी, रतितन्त्रज्ञ, प्रियकार्यकारी, आरुह्यान्शिल्प-
कुशल, परिचायकाल, स्मरणशील और प्रेषण रसिक होता है ।

चन्द्रवतीमाभरणं दत्तं मधुसूदनस्य पुत्रेण ।

पश्यन्ती विभ्राणामपि रागिणि किं न जिह्वेपि ॥५३५॥

री रागिणी, १. मधुसूदन के लड़के के दिए आभरण को धारण किए चन्द्रावती को देखती हुई तू क्यों नहीं लज्जित हुई ? ॥५३५॥

श्रामोत्पत्तिरशेषा प्रविरांतो सिंहराज विनियोगात् ।

मन्मथसेनावासे लघयति ते रूपसौभाग्यम् ॥५३६॥

गाँव में पैदा हुई और सिंहराज के धन से मन्मथसेना के घर में प्रवेश पाती हुई अशेषा तेरे रूप के सौभाग्य को तुच्छ कर रही है ॥५३६॥

। आस्तामपरो लाभो नृपवल्लभनन्दिसेनतनयेन ।

शिवदेव्या उपचारः क्रियते यस्तेन पर्याप्तम् ॥५३७॥

दूसरा लाभ रहने दो, तब भी भद्राधिप नन्दिसेन का पुत्र शिवदेवी की वदलातिर करता है जो उतनी काफ़ी है ॥५३७॥

परयेदं धवलगृहं- पाशुपताचार्यभावशुद्धेन ।

कारितमनंग देव्या विभूषणं पत्तनस्य सकलस्य ॥५३८॥

सारे नगर के विभूषण इस धवलगृह २ को देखो, जिसे पाशुपताचार्य भावशुद्ध ने अनङ्गदेवी के लिये बनवाया है ॥५३८॥

श्रापणिकार्यस्य कुतो राजा लभते चतुर्थमपि भागम् ।

हृदपतिरामसेनप्रसादतो नर्मदा यमुपभुङ्क्ते ॥५३९॥

बाजार की विक्री के धन ३ के चौथे हिस्से को भी राजा नहीं पाता है, जिसे नर्मदा बाजार के ठेकेदार रामसेन के अनुग्रह से उपभोग करती है ॥५३९॥

पुंस्त्वाख्यापनकामो न स्त्री न पुमान्किल प्रभुस्वामो ।

अनुबध्नन्पुहसितस्त्विया जडः स्वार्थमनपेक्ष्य ॥५४०॥

अरी मूर्ख, अपने में पुंस्य जादिर करने की इच्छा बाला, न सुख न स्त्री, ऐसा

१—अर्थात् नायक के प्रति राजाभाषिक अनुराग करने वाली, जब कि स्वाभाविक अनुराग रागिका के लिंग सर्वथा निषिद्ध है ।

२—धवलगृह—हिन्दी धौराहर या धरहरा, अर्थात् राम महल ।

३—श्रापणिकार्य—यह धन जो बाजार की परीद-पेच के तुलक या बुंगी के रूप में इम्दा होता है जिसे ठेकेदार (हृदपति) राजा को अर्पित कर देता है ।

प्रमुन्नामी आग्रह करता हुआ स्वार्थ की अपेक्षा न करके तेरे द्वारा उपहासित हुआ ॥५४०॥

वाजीकरणैकमतिर्नरनाथानुग्रहेण विख्यात ।

प्रत्याख्यात स तथा रविदेव. किंकरत्वमाकाक्षन् ॥५४१॥

वाजीकरण^१ के प्रयोग का जानकार और राजा के अनुग्रह के कारण विख्यात, दाम बनना चाहते हुए उस रविदेव को भी उस प्रकार देने विरन्कार कर दिया ॥५४१॥

किं कन्दर्पकुटुम्बे जातोऽभावुत वशीकरणयोगम् ।

कमप्यवैति सिद्धं येनाकृष्टासि सर्वभावेन ॥५४२॥

क्या यह कामदेव के गान्दान में जन्मा है अथवा कोई सिद्ध वशीकरण का उपाय जानता है जिससे सन मनार से तु आहूट है ? ॥५४२॥

वाल्ये तावदयोग्या पश्चादपि वृद्धभावपरिमृता ।

तारुण्ये रागहृता यदि गणिका भ्रमतु तद्भिक्षाम् ॥५४३॥

उचपन में तो अयोग्य रहती है, बुढ़ापे से परिभूत हो जाने से भी अयोग्य ही हो जाती है और यदि तर्कणाई में किसी के अनुराग में फँस गईं तब तो गणिका भीख के लिए घूमा करे^२ ॥५४३॥

१—वाजीकरण—वह अवलोक जो सेवन करने पर घोड़े की तरह सुरत कार्य में अधिक सृष्टि पैदा करता है। जैसा कि चरक ने कहा है—

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः ।

येन चाभ्यधिकं धीर्जं वाजीकरणमेव तत् ॥

२—यहाँ गणिका 'उमराव जान' की ये पक्षियाँ उद्धाण्यीय हैं—“यों तो बुढ़ापा हर एक के लिये सुरा है; राम कर औरत के लिये। रदी के लिये तो धास का बुढ़ापा दोल्लय (नरक) का नमूना है। बुढ़िया पत्नीरनिया, जो लखनऊ के गलीबूचों में फही फिजती है, अगर गौर कोजियेगा तो उनमें अरुमर रंड़िया मिलेंगी। रंड़िया भी कौन-सी जो कमी जमीन पर पैर न रखती थीं, पयामत करपा कर रली थीं हजारों भरे-पुरे पर तयाह कर दिए, मैरुशो जवाना को धेगुनाह कल क्रिया, जहा जाती थीं लोग धारें पिदाते थे, अब कोई उनको तरफ भाग उटाकर भी नहीं देखा। पहले जहाँ पैठ जाती थीं, लोग याग-याग हो जात ते। अब कोई पड़े होने का भी खयादार नहीं। पहले बिन भांगे मोती मिलते थे, अब भांगे भीख नहीं मिलती।”

उपनय भाण्डकमेतद्यर्जितं मामकेन देहेन ।

विदभामि तीर्थयात्रामास्त्र सुखं प्रेयसा सार्धम् ॥५४४॥

जिसे मैंने अपने शरीर से उपार्जन किया है वह अर्थभारत मुझे ला दे, तीर्थयात्रा करूँगी, तू प्रियतम के साथ सुख से रह ॥५४४॥

(यहाँ तक वेश्यामाता की उक्ति हुई, विकराला बताती है कि फिर वेश्या को उससे क्या कहना चाहिए,)

आर्यजननिन्दितानां पापैकरसप्रकाशनारोगाम् ।

✓ एतावानेन गुणो यदभीष्टसमागमो निरावरणः ॥५४५॥

बिना किसी आवरण (पर्दा-सज्जा) के प्रिय को समागम यही आर्यजनों से निन्दित, पापरस प्रधान, नारियों का गुण है ॥५४५॥

नो धनलाभो लाभो लाभः खलु वल्लभेन संयोगः ।

अक्षिगतादर्थ्याप्तिर्न भवति मनसः प्रमोदाय ॥५४६॥

धन का लाभ कोई लाभ नहीं, लाभ तो प्रिय के साथ समागम है । जिसके प्रति मन में द्वेष हो (अथवा जो अँसों के सामने हो) उससे धन का लाभ मन को प्रसन्न नहीं करता ॥५४६॥

गाढानुरागभिन्नं तारुण्यरसा मृतेन संसिक्तम् ।

न भजति सहृदयहृदयं विभवार्जनसम्भवा चिन्ता ॥५४७॥

जिसमें गाढ़ अनुराग मिला हुआ है, जो तारुण्य के रस से सम्यक् प्रकार से सींचा गया है ऐसे सहृदय के हृदय पर धन कमाने की चिन्ता नहीं खरार होती ॥५४७॥

लाभः स एव परमः पर्याप्तं तेन तेन तृप्तास्मि ।

✓ विनिवेश्य यदुत्सङ्गे निक्षिपति मुखे मुखेन ताम्बूलम् ॥५४८॥

वही परम लाभ पर्याप्त है जिससे मैं तृप्त हो चुकी हूँ । जो कि गोंद में बँधा कर मुँह से मुँह में ताम्बूल अर्पित करता है ॥५४८॥

सुरतश्रमवारिकणान्परिमार्ष्टि निजांशुकेन गात्रेषु ।

✓ यदुरसि निघाय विहसंस्तस्य न मूल्यं वसुन्धरा सक्त्वा ॥५४९॥

जो कि गोंद में रत कर हमता हुआ अपने घस से अङ्गों में सुरत के पसीने को पोंछता है उसका मूल्य सारी पृथ्वी नहीं है ॥५४९॥

शियिलितनिजदाररतिमंथि सक्तमना अनन्यकर्तव्य ।

यदसौ जितनलरूपस्तिरस्कृत तेन गाणिक्याम् ॥५५०॥

जो कि नल के रूप को जीतने वाला वह अपनी भार्या में अनुराग शियिल करके सब काम छोड़ कर मुझमें मन लगा चुका है उससे मेरे आगे सारा गणिका-समुदाय तिरस्कृत है ॥५५०॥

बहुकुसुमरसास्वाद कुर्वाणा मधुकरी विधिनियोगात् ।

ईद्वप्रसवविशेषं लभते खलु येन भवति कृतकृत्या ॥५५१॥

बहुत से फूलों का रसा-स्वाद करती हुई मीठी विधि की प्रेरणा से कभी ऐसा भी फूल पा जाती है जिससे उसका जीवन सफल हो जाता है ॥५५१॥

अग्रि सरले तावदिमा उपदेशगिरो विशति कर्णोत् ।

यावन्नान्तर्भूत तच्चेतसि मामक चेतः ॥५५२॥

अरी सीधी-साधी, तेरी ये उपदेश की बातें तब तब मेरे कानों में पैठतीं जब तब मेरा मन उसके मन में अन्तर्भूत हुआ न होता ॥५५२॥

श्रीरस्तु दुर्गतिर्वा वैरमनि वासो महत्यरण्ये वा ।

स्वर्लोके नरके वा कि बहुता तेन मे साधम् ॥५५३॥

बहुत कहने से क्या ? उसके साथ मुझे धन हो अथवा दरिद्रता, घर में रहना पड़े अथवा जंगल में स्वर्ग जाना हो अथवा नरक में ॥५५३॥

इदमास्तेऽलकरणं दुर्जननि गृहाण कि ममैतेन ।

तेनैव भूपिताहं गुणनिधिना भट्टपुत्रेण ॥५५४॥

दुष्ट माता, यह है गहना, ले ले, मुझे इसकी क्या जरूरत ? मैं तो गुणों के निधि उसी भट्टपुत्र से भूपित हूँ ॥५५४॥

उचितस्थाननियुक्तान्यपनीय विभूषणानि सावेगम् ।

एवमभिधाय यास्यसि मातुः पुरतः समुत्सृज्य ॥५५५॥

यह कह कर शरीर के उचित स्थानों में लगे गहनों को झटके से निजाल माता के सामने रख कर चली जाना ॥५५५॥

इति रागात्स श्रुत्वा चेतसि कुक्षे वदाचिदेवमिदम् ।

स्नेहाधिष्ठितमनसामविधेयं नास्ति नारीणाम् ॥५५६॥

यद मुनकर प्रेमन्ध यद वदायित् अने मन में यह करे कि अनुराग से

न्यात मन वाली स्त्रियों के लिए कुछ भी अकार्य नहीं ॥५५६॥

जननी जन्मस्थानं बान्धवलोकं वसूनि जीवं च ।

पुरुषविशेषासक्ताः सीमन्तिन्यस्तृणाय मन्यन्ते ॥५५७॥

✓ किसी खास आदमी में आसक्त स्त्रियाँ जननी, जन्मस्थान, बन्धु-बान्धव, धन, प्राण सब कुछ तृण-समान समझने लगती हैं ॥५५७॥

रणशिरसि हते वज्रे वज्रोपमयंत्रनिर्गतप्रावृणा ।

प्राणान्मुमोच दयिता न मंत्रविधिना हृता रामा ॥५५८॥

युद्धक्षेत्र में वज्र के समान यंत्र से निकले पत्थर के द्वारा वज्र^१ के मारे जाने पर गणिका ने (शोक में) अपना प्राण त्याग दिया, वह किसी मंत्र के प्रयोग से आकृष्ट न थी ॥५५८॥

कालवशेनायासीत्पंचत्वं दाक्षिणात्यमणिकंठः ।

प्रेमोपगता वेश्या तेनैव समं जगाम भस्मत्वम् ॥५५९॥ ✓

✓ दक्षिण देश का वासी मणिमण्डल कालवश पञ्चत्व को प्राप्त हुआ और उसके प्रेम के वशीभूत वेश्या उसी के साथ चिता में जल कर राख हुई ॥५५९॥

भास्करवर्मणि याते सुरवसति वारितापि भूपतिना ।

तददुःखमसहमाना प्रविवेश विलासिनी दहनम् ॥५६०॥

भास्कर-वर्मा के स्वर्ग सिंभारने पर राजा से रोके जाने पर भी उद्यम विरहदुःख न सह पाती हुई वेश्या ने अग्नि में प्रवेश कर लिया ॥५६०॥

ज्वालाकरालहुतभुजि नग्नाचार्यः पपात नरसिंहः ।

तस्मिन्नेव शरीरं निजमजुहोच्छ्रोत्रोऽपिडिता वेश्या ॥५६१॥

✓ नग्नाचार्य^२ नरसिंह अग्नि की कराल ज्वाला में गिर गया और शोक-पीडित वेश्या ने उसी अग्नि में अपना शरीर स्वाहा कर दिया ॥५६१॥

१—यग टीकाकार श्री त्रिदिवनाथ राय के अनुसार यह 'यज्ञ' सम्भवतः जयापीड के श्यालक 'जज्ज' की गह्वरना करके उल्लिखित है (राजतरंगिणी) ।

२—निर्ग्रन्थ या दिगम्बर जैनाचार्य । दिगम्बर जैनों के अनुसार भग्न (पर्य-रहित) रहना लोक में सहज है, वस्त्रधारण कृत्रिम है ।

प्रोतिभराक्रान्तमतिस्त्रिदशालयजीविका क्रमोपगताम् ।

अङ्गीचकार मुक्त्वा जीहल्ला मिश्रपुनमा मृत्यो ॥५६२॥

✓ प्रीति के भार से आक्रान्त बुद्धि वाली कदम्बा ने स्वर्गतुल्य, वश परम्परा-गत जीविका छोड़ कर भद्र विष्णु (एक अल्प धन) ब्राह्मण जीहल्ला मिश्र के पुत्र) को मृत्यु-पर्यन्त अङ्गीकार कर लिया ॥५६२॥

देशान्तरादुपेता प्रसादमानेण वीक्षिता वनिता ।

तत्याज न पादयुगं समरे निहतस्य वामदेवस्य ॥५६३॥

दूसरे देश से आई और सिर्फ अनुग्रह की दृष्टि से देखी गई वनिता ने युद्ध में मारे गए वामदेव के पैरों को न छोड़ा ॥५६३॥

भट्टकदम्बकतनये याते वर्सात् परेतनाथस्य ।

चक्रे देहत्याग रणदेवी वारयोपिता मुख्या ॥५६४॥

✓ भद्र कदम्बक का लड़का जन यमपुरी को सिधारा तन वेश्याओं में प्रमुख रणदेवी ने प्राण त्याग दिया ॥५६४॥

अस्यामेव नगर्यां द्रविणमदात्कालसंचितमशेषम् ।

प्रेम्णाकृष्टा गणिका मिश्रात्मजनीलकण्ठाय ॥५६५॥

✓ इसी (वाराणसी) नगरी में प्रेम से आकृष्ट गणिका ने बहुत समय से सज्जि अपना सारा धन मिश्र के लड़के नीलकण्ठ के लिए अर्पित कर दिया ॥५६५॥

इयमपि मयि विहितास्था मातृवच श्रवणकलुपिता क्व गता ।

त्यक्त्वाभरणं सर्वं प्रविजृम्भितमन्युसवेगा ॥५६६॥

मुझमें विश्वास करने वाली यह भी माता का वात से विगड़ कर सारे गहने उतार कर प्रोध के सवेग के बढ़ जाने ने यहीं चली गई ॥५६६॥

उत्सृष्टालकरणा परिशेषितमातृमुत्तपरिवाराम् ।

संतपयामि संप्रति सर्वस्येनापि हरिणाशोम् ॥५६७॥

जिस मालती ने मेरे लिए अपने गहने छोड़ दिए, माता भी जिसका परिवार छोड़ कर चली गई, अब मैं उस हरिण के समान नयनों वाली को संतप्त देकर सन्तुष्ट करूँगा ॥५६७॥

गेहेन किं प्रयोजनमन्यैरपि बन्धुदारपरिवारै ।

ससारग्रहकारणमेका खलु मालती मम हि ॥५६८॥

घर से और दूसरे बन्धु-बान्धव, स्त्री तथा परिवार से क्या मतलब ? क्योंकि एक मालती ही मेरे ससार में रहने का कारण है ॥५६८॥

अमृतकरावयवैरिव घटिता सा दृढतर परिष्वज्य ।

चेतो नयति समत्वं ब्रह्मण आनन्दरूपस्य ॥५६९॥

मानों चन्द्र के राखणों से गढ़ी हुई जो (मालती) कस कर आलिङ्गन करने पर चित्त को आनन्दमय ब्रह्म की समता में पहुँचा देती है ॥५६९॥

आविर्भवदात्मभवक्षोभक्षतधीरता धन रभसात् ।

विगलितकुचयुगलावृतिरालिगति मालती धन्यम् ॥५७०॥

प्रकट होते हुए कामदेव के द्वारा किए गए क्षोभ से धैर्य के नष्ट हो जाने पर की स्थिति में जिसके दोनों स्तनों का आवरण ढल पड़ता है ऐसी मालती धन्य पुरुष को आलिङ्गन करती है ॥५७०॥

निर्दयतरोष्ठखण्डनसव्यथहुंकारमूर्च्छितं सुरते ।

अहहेति वचस्तस्या अपुण्यभाजो न शृण्वति ॥५७१॥

जिन्होंने पुण्य नहीं कमाया है वे सुरत के समय दया-रहित होकर ओठ के फटने की व्यथा से सुन्न, हुंकार के कारण मूर्च्छित उसकी 'अहह' इस आवाज को नहीं सुनते ॥५७१॥

स्मृतिजन्मजनितविकृतिव्रततिच्छन्नं करोति ससारम ।

आवद्धसुरतसगरविमर्दसक्षोभिता दयिता ॥५७२॥

हमेशा चलते रहने वाले रतियुद्ध के विमर्द के कारण व्याकुल प्रिया (मालती) ससार को कामजनित विकृतियों की लताओं से ढक लेती है ॥५७२॥

गाढतरारिलष्टवपुर्भजते कान्ता प्रमोदसमोहम् ।

शिथिलीकृता तु किञ्चिद्विषविकार समुच्छसिति ॥५७३॥

प्रिया जब गाढ आलिङ्गन से जफड़ दी जाती है तब आनन्द में विभोर हो जाती है और थोड़ा भी शिथिल कर देने पर नाना प्रकार के विकार प्रकट करने लगती है ॥५७३॥

सन्त्यन्या अपि सत्यं पुरुषोचितकर्मपण्डिताः प्रमदाः ।

सृष्टा तथा तु नियतं विपरोतरतक्रियागोष्ठी ॥५७४॥

सत्य है कि पुरुषादित के कार्य में बहुत-सी और भी प्रमदाएँ हैं तथापि इस मालती ने निश्चय ही विपरीत मुरत के कार्यों का निर्माण किया है ॥५७४॥

तत्रीवाद्यविशेषानुद्दामानन्यजन्मनस्तस्याः ।

कुहरितरेचितकम्पितसम्पादननैपुणं करोति जडान् ॥५७५॥

उग्राम कामवेग वाली उस मालती के रति-कालोचित कुहरित (रतिकाल का वृजन, वीणा पद में 'विकारी'), रेचित (रतिकालीन निश्चित, पद में मीठ), कम्पित (रतिकालीन सिहरन, पद में झट्टार) प्रभृति के सम्पादन का त्रीशख तनीवाद्य प्रभृति वाद्य यंत्रों को जड़ या बेमुरा बना डालता है ॥५७५॥

ललितागहारजृम्भितवलितस्मितवेपनानि मालत्याः ।

पर्यञ्जहाति कामो रतिमोहनचेष्टितेषु बहुमानम् ॥५७६॥

मालती के शोभन अङ्गविक्षेप, जर्माई, चाल, मुखान और कम्पन की देखता हुआ काम अपनी भाया रति की मोह उल्लस करने वाली चेष्टाओं में श्राद्ध छोड़ देता है ॥५७६॥

न ग्राम्यं परिहसित् नाविभ्रमतरलितोऽक्षिविक्षेपः ।

सुरतोद्योगनिरोधो दोहददानं न पुष्पव्राणस्य ॥५७७॥

पैदरथ्य की जन्मभूमि और भारी जघन के भार से मन्द चाल से चलने वाली उस मालती के परिहास (हसी-भजाव) में कोई गद्गारन नहीं है, चंचल आंगों का विक्षेप विलासहीन नहीं है, उसके मुरत में प्रवृत्त होने पर कामदेव को दोहददान * (अर्थात् पूर्ण वृत्ति) नहीं होता ॥५७७॥

नार्यंपरो लपनरसो न पराशयवेदने विचक्षणता ।

नासीष्ठवं प्रसंगे नीत्वणगुणकीर्तनेषु भारत्याः ॥५७८॥

उसके नेत्रों का अनुराग धनपरव नहीं दे, दूरियों के अभिप्राय वद जान

*—गभिणी रती की खाने, पीने या देने की स्वाभाविक अभिरुचि को 'दोहद' कहते हैं। उस रति के पुर्यंभे उसके अभिलषित कार्य का सम्पादन, 'दोहददान' कहलाता है। यह मरुत-गादिष्य में वृषों को अशालकुम्भिन करने के लिए

लेने में चतुर नहीं है, ^१ कार्य करने के प्रसंग में कोई अचाकता नहीं करती और दूसरों के गुणगान में वाणी की अचाकता नहीं होने देती ॥५७८॥

नापरपुरुषश्लाघा न त्यागः कालदेशवेशस्य ।

वैदग्ध्यजन्मभूमेर्गुरुजघनभरेण मन्दयाताया ॥५७९॥

मुझे छोड़ दूसरे पुरुष की तारीफ नहीं करती, समय और देश के अनुसार वैप का त्याग भी नहीं करती ^२ ॥५७९॥

। कविसमय के रूप में 'दोहददान' प्रसिद्ध है, जो दस वृत्तों के कारण दस भेदों से कहा जाता है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति, वकुलः सीधुगरद्वृपसेनात्,

पादाघातादशोकस्तिलककुरुवकी वीक्षणांलिङ्गनाम्याम् ।

मंदारो नर्मवाक्यात्, पट्टमृदुहसनाचम्पको यत्रवाताच्युतो,

गीतान्जमेरुर्विकसति च, पुरो नर्तनात् कणिकारः ॥

प्रस्तुत आर्या के उत्तरार्ध का भाव यह है कि पुष्पवाण रूप वृत्त का दोहददान तब नहीं होता जब मालती सुरन में उद्योगरहित होती है। उपर्युक्त श्लोक में उक्त स्पर्शादि दशविध दोहददान को कवि ने एक ही 'सुरत' शब्द से मङ्गलित कर लिया है। तात्पर्य यह है कि मालती के स्पर्श, गुरुद्वेषेण, पादाघात, वीक्षण, आलिङ्गन, नर्मवाक्य, पट्टमृद् हसन, मुष्यात, गीत और मामने नर्तन से कामदेव रूपी वृत्त का 'दोहददान' होता है और इनके अभाव में उसका 'दोहददान' नहीं होता ।

१—यह इतनी सरला या सुगंधा है कि यह नहीं जान पाती कि कौन किस तात्पर्य से उसके साथ व्यवहार करता है, अर्थात् गणितसमुत्तम धूर्तता उसमें रक्षमात्र भी नहीं ।

२—देश और काल के अनुसार पेशभूषा एक प्रकार की कला है, जो 'नेपथ्य-प्रयोग' कहलाती है—

'देशकालापेक्षया वस्त्रमाल्याभरणादिभिः शोभार्थं शरीरस्य गण्डनाकारम्' ।

चक्राह्वपरिष्वजन हससमार्लेशनकुलपरिरम्भम् ।

पारावतावगूहनमाचरति सुमध्यमा यथावसरम् ॥५८०॥

शोभन मध्यभाग वाली वह उपयुक्त समय से कमी चक्रवाग-आलिङ्गन,^१ कमी हस-समाश्लेषन,^२ कमी नकुल-परिरम्भ^३ और कमी कपोतावगूहन^४ का प्रयोग करती है ॥५८०॥

तद्वक्रवचन हास्यव्यवहृतिहृतमानसस्य जायते ।

अनुकूलसुन्दरा अपि भरणीया. केवलं दाराः ॥५८१॥

उसके वक्रोक्तपूर्ण हँसी-मजाक के व्यवहारों से हृत मन वाले व्यक्ति के लिए परिणीता भाया अनुकूल और सुन्दर होने पर भी केवल भरण-वोषण के योग्य रह जाती है^५ ॥५८१॥

सूचयति पृथक्करण भ्रातृणा वक्ति विपमशीलत्वम् ।

विवृणोति गृहविसस्यामभिनन्दति पितृकुलस्य गुणवत्ताम् ॥५८२॥

माइयों को आपस में अलग-अलग कर देती है, दरस्पर-दररात्र स्वभाव पैदा कर देती है, घर की स्थिति गट्टरबा देती है, अपने पिता के घर की प्रशंसा करती है ॥५८२॥

१-४—यहाँ विविध आलिङ्गनों की चर्चा है। वास्वायन कामसूत्र में इनका निर्देश नहीं, इसका यह अर्थ नहीं कि आलिङ्गन अशास्त्राय है। स्वयंगम्य होने के कारण आचार्यों ने इन्हें नहीं कहा है। चक्रवाग-आलिङ्गन—घनवा पत्नी जैसे चक्रई का आलिङ्गन करता है, अर्थात् देह में देह सघटन करके स्त्री के कंधे पर माया रखना। हंसालिङ्गन—हस की तरह बार बार मिलना और अलग होना। नकुलालिङ्गन—नखले की तरह दूर तक एक दूसरे के शरीर में चिपक जाना। मयोग से इसका उल्लेख 'योगसिद्धि' में प्राप्त है—

✓ गलदन्त घनस्नेह मुञ्चद्वाप्य स्फुरत्स्त्रुहम् ।

आलिलिङ्ग चिरं कान्ता नकुलो नकुर्तामिव (५।१०६।१३-१४)

पारावतावगूहन—कपूतर के सामान आमने लामने केवल मुह से मुह का मिलाना।

५—तापयं यह कि शास्त्रीशुदा आइयी जय इमने हसी मजाक के पर में पढ़ जाना है तो विनाह करने लाई हुई पत्नी को विर्ष अन्न पत्र देपर कर्ताम्पालन माप करने लगता है, उमे तन्था छोड़कर इमी न रमण करने लगता है।

अन्यसुतपक्षापातं कथयति मातुस्तिरस्करोति पतिम् ।

पार्वनिमग्ना जाया मा यातु विमुच्य कामुंकं मदनः ॥५८३॥

कहती है कि सास दूसरे लड़के का पक्षपात करती हैं, पति को तिरस्कार करती हैं । इस प्रकार कामदेव अपना धनुष छोड़ कर भी बगल में पड़ी पत्नी की पूजा करवाता है ॥५८३॥

एवं कृतेऽपि सुन्दरि यदि तिष्ठति नायकः प्रकृत्यैव ।

इत्थं पथि परिमोपहृत्वसख्या नैपुणेन वक्तव्यः ॥५८४॥

सुन्दरि, ऐसा करने पर भी यदि नायक प्रकृतिस्य ही रहे तो तुम्हारी दूती को उसके निकट निपुणता के साथ रास्ते में चोर के द्वारा (आभूषण) आदि के अपहरण की बात इस भाव से करनी चाहिए^१ ॥५८४॥

गृहकार्यव्यग्रतया चित्तग्रहणाय वा कुलस्त्रीणाम् ।

नायाते भवति सखी प्रावृद्धनकल्पिते दिशां चक्रे ॥५८५॥

‘घर के काम-काज में फंस जाने के कारण अथवा कुलवन्ती स्त्रियों के मन रखने के निमित्त आपके नहीं आने पर सखी, जब दिशाएं बरसने वाले मेघों से संकीर्ण हो गईं ॥५८५॥

प्रभ्रीवकशयनगता स्फारीभवदात्मसम्भवविकारा ।

त्वद्वर्त्मनिहितनेत्रा गीतामन्येन गीतिकामशृणोत् ॥५८६॥

कोठे की शय्या पर आकर लेट गई, उसका काम-विकार बिलकुल बंदने लगा^२ और उसकी आँखें तुम्हारी राह में विद्यमान हुईं तभी उसने किसी के द्वारा गाँड़े हुई यह गीतिका सुनी ॥५८६॥

‘यदि जीवितेन कृत्यं सम्भावय विरहिणि प्रियं तूर्णम् ।

घनरसितस्य हि पुरतः कदलीदलकोमलः कुलिशपातः ॥५८७॥

‘विरहिणि’ यदि तुम्हें अपने जीवन से कुछ काम है तो तुरंत ही प्रिय का अभिसरण कर, क्योंकि मेघों की गड़गड़ाहट के सामने वज्रपात भी फले के पत्ते के समान कोमल हो जाता है’ ॥५८७॥

१—विकाराला ने मातुली को समझाया कि यदि मातृकलह आदि उपाय निष्फल हो जाय तब तुम अन्य उपाय आरम्भ करना । कामशास्त्र के वैशिक अधि-करण में ‘अलंकारपरिमोष’ का यह उपाय निर्दिष्ट एवं उचित है ।

२—‘मेघदर्शन से काम-विकार होना प्रसिद्ध है । कालिदास लिखते हैं—

श्राकष्यं मामवादीद्वन्यास्ता युवतयः सखि कठोराः ।

या विपहन्ते दीर्घप्रियतमविरहानलासारम् ॥५८८॥

मुन कर वह मुझसे बोली कि सखि, वे कठोर-प्रकृति युवतियाँ धन्य हैं जो प्रियतम के विरह-अग्नि की कर्पाँ देर कर सह लेती हैं ॥५८८॥

मम तु दिनातरितेऽपि प्रेयसि लब्ध्वा सहायसामग्रीम् ।

विदधाति मकर केतनउत्कलिकाविधुरितम् हृदयम् ॥५८९॥

मेरे लिए तो एक दिनका भी प्यारे के व्यवधान कर देने पर मेरी सहायक सामग्री न पाकर कामदेव मेरे हृदय को उत्कण्ठा-विभुर करने लग जाता है ॥५८९॥

उत्कण्ठयति 'भृशं मा समीरणो वकुलकुसुम गन्वाट्यः ।

प्रच्यावयति घैर्यान्मधुरध्वनिमि. कलापमृत. ॥५९०॥

मौलमिरी के फूलों का पारकर रावे समीर अत्यधिक उत्तुङ्गता उत्पन्न करता है और मधुर अपनी मधुर ध्वनियों से घोरतः व्युत् करने लगे हैं ॥५९०॥

सतडिन्मिलद्वलाकामसिताम्बुधरावली समुद्यन्तीम् ।

उत्सहते सा वीक्षितुमविरलमार्लिगितो यया कान्त. ॥५९१॥

चिन्तली और उत्पत्ति के साथ आनाश में उठान लेती हुई बाले-बाले बादलों की पगत वही देगने का उल्लास कर सफती है जिनके पूर्णरूप में प्रिय का आलिङ्गन कर लिया है ॥५९१॥

स्वेच्छागमनलघुत्व बहुलापाय निशासु पन्यानमू । ✓

न विचारयति महिला श्रमीष्टजनसगाताबुल्काः ॥५९२॥

प्रिय जन के मिलन की उत्तुङ्गता में मेरी महिलाएँ स्वेच्छा में चल पड़ने की लज्जा की और रातों में बहुत उन्नत विद्या वाले मार्ग की परवह नहीं करती ॥५९२॥

'मेघालोकं भवति सुरिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ।

वृष्टाऽल्लेपप्रणयिनि जने किम्पुनदूरसस्थ ॥'

वाक्षरामायण वा यह पद्यार्थ दर्शनीय है—

'निरहमपिरह वा नानुमंथन्ति मेघाः ।

सुरिनमसुरिन वा गर्भमुत्पद्यन्ति ।'

क्रियता भूषणशोभा त्वरयति मे मानस मनोजन्मा ।

रंजयति मनो नितरा कलघोतनिवेशित रत्नम् ॥५६३॥

अतः गहने पहना, मेरे मन को कामदेव त्वरित कर रहा है सोने में जड़ा हुआ रत्न मन को ज्यादा नाता है ॥५६३॥

घनजलदावृतककुभि प्रदोषसमये प्रदोषगमनाय ।

विदधानया कुबुद्धि रागान्वे किमिदमारब्धम् ॥५६४॥

उसे गमनोत्त देव उसकी माता ने पुरुष वचन का प्रयोग करते हुए कहा—जब कि घने मेघ दिशाओं में चारों ओर आच्छन्न हैं ऐसे प्रदोष काल में (अर्थात् गिरने पड़ने, काटे गड़ने आदि दोषों से युक्त अथवा दोषा अर्थात् रात्रि का आरम्भ) गमन के लिए कुबुद्धि पैदा करके अरी प्रेम की अथी, तू ने क्या आरम्भ किया है ? ॥५६४॥

वचनप्रपञ्चार जायाश्रितमन्यदेशसम्बन्धम् ।

पुरुषमभिगन्तुकामा नवेयमभिसारिका इष्टा ॥५६५॥

ऐसे पुरुष के प्रति जो सिर्फ बातें उनाता है, अपनी पत्नी में अटका रहता और दूर स्थान पर रहता है, गमन की इच्छा वालो वह एक नये ढंग की अभिसारिका देख पटी है (अथवा ऐसी अभिसारिका तो देखी नहीं) ॥५६५॥

जलघौततिलकरचना गलदम्भोविन्दुलुलितकेशाताम् ।

तिम्यतनुलीनावृत्तिचण्डानिलसलिलपातकटकिताम् ॥५६६॥

वर्षा के जल से तेरे माथे का तिलक धुल जायगा, पड़ते हुए जल से तेरे बाल अस्त-व्यस्त हो जायेंगे, शरीर भीग जाने से कपड़ा सट कर दिखाई नहीं देगा, प्रचण्ड हवा और पानी के लगने से रोमाञ्च होंगे ॥५६६॥

श्रविभावितरामविषमप्रस्खलदधिं सहायकरलम्नाम् ।

पुरतोऽध्वनः प्रमाण मुहुर्मुहुः साध्यसेन प्रच्छतीम् ॥५६७॥

ऊँची-नीची जमीन मालूम न पड़ेगी, पैर लड़खलाने लगेंगे, राधी के हाथ का सहारा लेगी, आग रास्त की दूरी को बार-बार टर के मारे पृथ्वी ॥५६७॥

अन्यस्त्रीषु च पत्यो व्यग्रे कुच्छ्रेण कथमपि प्राप्ताम् ।

तत्कालयोग्यपरिजननिवेदितामिति विकल्प्य सह सचिवैः ॥५६८॥

बहुत घष्ट से निखी प्रकार पढ़ें भी गई तो उस समय घर के द्वार पर

रहने वाले परिजन भी एतर देंगे तब घर की दूसरी स्त्रियाँ और पति यह शका करके व्यग्र हो उठेंगे कि ॥५६८॥

कि प्रेम्णोऽयं महिमा किमुतानंत्य धनप्रलोभस्य ।

कि वाऽन्यतः प्रवृत्ता प्रवेशिता वातवर्षेण ॥५६९॥

यह क्या प्रेम की महिमा है अथवा धन के अधिन लोभ की सीमा है या जिमी दूसरे काम से दगा-पानी में वापती हुई पहुँची है ॥५६९॥

संनिहितकलत्राणामनुचितमिति बाह्यलोकसवदनात् ।

अन्यस्मिन्नुदवसिते विसर्जितामिष्टमालतीकेन ॥६००॥

बाहरी लोग जब आपस में बात करेंगे कि 'जिनके पास स्त्री है उनके लिये यह (वेश्या समागम) अनुचित है' तब जिसे मालती प्रिय है वह व्यक्ति तुम्हें दूसरे घर में भिजना छोड़ेगा ॥६००॥

लोकेन हास्यमाना विभ्राणा वाससी जलक्लिन्ने ।

रूपमदमुत्सृजन्ती वैलक्ष्याद्विहसितेन नतवदनाम् ॥६०१॥

लोग तुम्हें पर हँसें, उस समय तेरे कपड़े भीगे होंगे, तू अपने रूप का गर्व छोड़ती रहेगी तथा लज्जा के मारे लोगों की खिल्ली से तेरा मुँह मुक जायगा ॥६०१॥

पश्चात्तापगृहीता कण्ठकदर्भाग्रभिन्नपादतलाम् ।

अस्मद्वच्च स्मरन्ती द्रक्ष्यत्यभिसारिका सुकर्माणः ॥६०२॥

तू पछताएगी, काटे और कुशा के मोनों से तेरे तलवे छलनी हो जायेंगे, तब मेरी बात तुम्हें याद आयगी, ऐसी दशा में पड़ी तुम्हें अभिसारिका को वे पुण्यवान लोग देखेंगे ॥६०२॥

इति पक्षमभिदधाना मातरमवधीर्यं युष्मदभ्याशम् ।

चौरहस्तका व्रजन्ती विद्रावितरक्षिण सखी मुमुषुः ॥६०३॥

यह कहती हुई माता को छोड़कर तुम्हारे पास चल पड़ी हुई सखी को मुझे गुटों ने पक्षियों की भगा कर लूट लिया ॥६०३॥

एषा प्रपचरचना यदि भवति वृथा पुनः पुरस्तस्य ।

वणिगिदभुपेत्य वक्ष्यति सहायसंचोदितो भवतीम् ॥६०४॥

यदि यह छलना उसके सामने नाकामयाव हो जाय तो तुम्हारे किसी

सद्योगी के द्वारा भेजा हुआ बनिया आकर तुमसे यह बोलेगा ॥६०४॥

पूर्वं दत्तस्योपरि मुक्ताहारस्य केदरास्त्रिंशत् ।

परिचारिकया नीता अन्यानपि मृगयते व्ययस्य कृते ॥६०५॥

‘पहले जो मुक्ताहार मेरे पास बंधक रक्खा था उस पर तुम्हारी दासी तीस केदर (उस काल के तीस रुपये) ले गई और अब तुम्हारे प्रिय के लिए और भी रुपये खोजती है ॥६०५॥

यत्तु घनसारकुंकुमचन्दनधूपादिमुक्तकं दत्तम् ।

तत्सम्पुटके लिखितं शृणु पिण्डलिकां करोमि ते पुरतः ॥६०६॥

जो कि कपूर, कुंकुम, चन्दन, धूप-बगैरह मैंने उधार में दिया है वह सब रत्ताते में लिख रखा है, सुन, तेरे सामने दिखाव (पिण्डलिका) करता हूँ ॥६०६॥

एतावन्तं कालं नावष्टभ्यार्थिता मया त्वमसि ।

रिक्तं भाण्डस्थानं साम्प्रतमिति याचना क्रियते ॥६०७॥

अब तक मैंने तुम्हने इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा है, किन्तु अभी तो अपना ही भांडा खाली है, इसलिए माग कर रहा हूँ ॥६०७॥

एवंवादिनि तस्मिन्नकिञ्चिल्लज्जानता क्षणं स्थित्वा ।

प्रियपूर्वं प्रश्रितया वाचा वाच्यः सवैलक्ष्यम् ॥६०८॥

जब वह इस प्रकार कहे तब उसे कुछ शर्म के कारण मुझी गर्ती से देखकर शर्मिन्दा आवाज में प्रिय और निनय पूर्वक कहना ॥६०८॥

हारस्तवैव तिष्ठतु मध्यस्थस्यापितेन मूल्येन ।

शेषं ततो यदन्यत्तद्विषयैः पूरयिष्यामि ॥६०९॥

‘जिन्ही मध्यस्थ से दाम तब कराके हार को तुम्हो रग लो और जो शेष बचेगा मैं आये दिन पूरा चुका दूँगी’ ॥६०९॥

इयमपि कपटग्रथना पूर्वसमा चेतदेदमभिधेयम् ।

आशंकन्तेऽनिष्टं कातरहृदया हि योपित्तः प्रायः ॥६१०॥

यह छलना भी अगर पहले-जैसी व्यर्थ हो जाय तब यह कहना—‘घातर हृदय वाली हिनर्या स्वामी के अस्यस्थ हो जाने पर प्रायः अनिष्ट ही आशङ्का करने लगती है ॥६१०॥

अपटुशरीरे स्वामिनि विज्ञप्ता भगवती मया गत्वा ।

भवतु निरामयदेही जीवितनायस्तव प्रसादेन ॥६११॥

मने देवी के मन्दिर में जाकर मनौती की कि मेरे प्राणनय तेरी कृपा से स्वस्थ हो जाय ॥६११॥

सम्पन्नवाच्छिन्नार्था वल्युपहारेण पूजयिष्यामि ।

सामग्रीविरहेण तु न वित्तीर्णस्तत्र मे मनसि शका ॥६१२॥

इच्छा पूरी होने पर पूजा के उपहार तुझे चढाऊँगी और सामग्री के अभाव के कारण (देवी के) उपहार नहीं चढाया इस कारण मेरे मन में शङ्का नहीं रहती है' ॥६१२॥

अस्मिन्व्यर्थीभूते रिक्तीकृतशीर्णवैरमनो दाहम् ।

उत्पाद्य मन्दगामिनि सर्वविनाशः प्रकाशमुपनेय. ॥६१३॥

यह बात भी जब काम न कर सके तो हे मन्दगामिनि, कोई घर खाली करके उसमें आग लगवा देना और घर के सामने फैलाना कि तेरा सब कुछ नष्ट हो गया ॥६१३॥

स्निग्धत्वमलं बुद्धा सहभोजनशयनवसनलिङ्गेन ।

एभिष्यायद्वारैर्वान्त विरिक्थस्त्वया कार्यः ॥६१४॥

साथ भोजन, साथ शयन और साथ ही रहने के बिना से यह मालूम करके कि कामुक ज्यादा स्नेह करने लगा है, तू इन (निर्दिष्ट) उपायों^१ द्वारा उसका सारा धन छँट लेना ॥६१४॥

वाधुंपिककदर्थनया भोगव्वसात्सहायवचनैर्वा ।

अवधारितेऽपि निपुणं वरगात्रि विलुप्तसारत्वे ॥६१५॥

ऐ प्रशस्त अगो वाली, वचन देने वाले युद्ध-धोरा की मर्त्यना से, ठाढ़-बाद के लक्ष्य हो जाने से श्रमवा उसके साधियों की पत्नी से उसके उत्तररहित होने का पूरा पता लग जाने पर भी ॥६१५॥

१—माता के साथ पुत्री का मिथ्याकलह, मिथ्याकलह के समय अलंकार प्रदान मार्ग में धोरों द्वारा अलंकारों का अपहरण, यत्रिया का कर्ण, देयता की सुष्ठ करने के लिए मनौती, गृहदाद ।

परुषवचोनिर्घारणमा यत्यामीहितोपघातीति ।

यत्नादमी विधेया गम्यस्य विमोक्षणोपाया. ॥६१६॥

(उसके निष्कासनार्थ) कड़वी बातों का प्रयोग आगे आने वाले समय में अपने अभीष्ट की सिद्धि का बाधक होगा' ॥६१६॥

पृथगामननिर्देश प्रत्युत्थानादिकेऽपि शैथिल्यम् ।

सासूयसोपहासा आलापा ममंवेधि परिहसितम् ॥६१७॥

(उसके आने पर) अलग आसन की ओर बैठने के लिए इशारा, प्रत्युत्थान आदि में भी शिथिलता, बातें ईर्ष्या और उपहास से भरी, मर्म को वेध देने वाला मजाक ॥६१७॥

तत्प्रतिपक्षश्लाघा तदधिकगुणरागकीर्तनावृत्तिः ।

वदति प्रिय आभीक्ष्ण्य बहुप्रलापित्वदूषणाख्यानम् ॥६१८॥

उसके विरोधी की प्रशंसा, उसके विरोधी के गुणों में अपना अनुराग का बार-बार कीर्तन, वह हमेशा प्रिय बोले तब 'बहुत बक-बक करने वाला' यह दोष लगाना ॥६१८॥

वचनान्तरोपघातैस्तत्प्रस्तुतसकथासमाक्षेपः ।

तदव्यवहारजुगुप्सा सव्यपदेशस्तदतिकत्याग. ॥६१९॥

दूसरी बातों को बीच में डालकर उसकी चला रही बातचीत को उड़ा देना, उसके व्यवहारों से घृणा, बहाना कर उसके समीप से हटना ॥६१९॥

व्याजेन कालहरण स्वापावसरे विवर्तनं शयने ।

↓ निद्राभिभव ख्यापनमुद्देग समुखी करणे ॥६२०॥

छल से समय बिता देना, सोने के समय पलंग पर मुँह फेर कर सोना, नींद का जोर प्रकट करना, अपने सम्भुर करे तो उद्विग्न होना ॥६२०॥

↓ गुह्यस्पर्शनिरोध. स्वभावसस्था रताभियोगेषु ।

चुम्बति वदनविकम्पनमालिगति कठिनगात्रसंकोच. ॥६२१॥

गुह्य अंग के स्पर्श पर रोक, कुछ प्रश्न करे तो प्रकृतिस्थ हो रहना, चुम्बन की कोशिश करे तो मुग्न की ओर से कम्पित करना, आलिङ्गन करे तो कठिन हो जाना और अंगों की सिकोड़ लेना ॥६२१॥,

असहिष्णुत्व महणनकररुहदशनक्षतिप्रसंगेषु ।

दोषंरते निर्वेद स्वपिहीति रताभियोजके भूय ॥६२२॥

प्रहार, नखों और दन्तों के चर्ता के प्रसंगों में असहिष्णुता, देर तक रति में खिन्नता, रति के लिए बार बार प्ररणा करे तो 'सोत्रा' कहना ॥६२२॥

तदशक्तावनुबन्धो वैदग्ध्यविकासने तथा हास ।

रानधवसानस्पृहया पुन पुनर्यामिक प्रश्न ॥६२३॥

अपनी निद्रावृत्ता जाहिर करे तो हस पड़ना, रात नीत जाने की इच्छा से बार-बार पृहवे से प्रश्न ॥६२३॥,

नि सरणं वासगृहाद्दुपसि समुत्थाय तल्पतस्त्वरया ।

सरभसमुदीरयत्या निशा प्रभाता प्रभातेति ॥६२४॥

रात रात गह, नीत गई, यह कहते हुए भोर होने पर जल्दी से सेज छोड़ कर कोठरी से निकल जाना १ ॥६२४॥

उभयेच्छया प्रवृत्त निरुपाधि प्रेम भवति रमणीयम् ।

अन्योन्यसमासक्तौ सस्यानमिधाभिजातमणिहेम्नो ॥६२५॥

'नो प्रेम (नायक और नायिका) दोनों को थोर स, छल-नपट छोड़ कर किया जाता है वही मजा देता है, जैसे पान से पीदा हुए मणि और सोने का परस्पर सयोग होने पर ही बना हुआ अलंकार अच्छा लगता है ॥६२५॥

यस्त्वेकाश्रयराग परिभवदौर्वल्यदैत्यनाशानाम् ।

स निदानमसन्दिरघ सीता प्रति दशमुखस्येव ॥६२६॥

और जो कि एकतरफा प्रेम है वह पत्नी, कमजोरी, दीनता और नाश का निःसदेह रूप से आदि कारख है जैसे सीता के प्रति रावण का एकतरफा प्रेम ॥६२६॥

यानि हरन्ति मनासि स्मितवीक्षितजल्पितानि रक्तानाम् ।

तानीव विरक्ताना प्रतिभाति विवर्तनानीव ॥६२७॥

अनुराग करने वाला दिन १ की चो मुन्वान, कर्त और निगाह उन को

१—आचार्य धर्मद ने 'समयमानुषा' में धन-रहित कामुक के अन्धकामनायें उपायों को उल्लेख करते हुए उन्हें 'परलोपचार' कहा है (५।३१) ।

हर लिया करती हैं, अनुराग न करने वाली स्त्रियों के वे ही विलकुल विरह प्रतीत होती हैं ॥६२७॥

विदधातु किमपि कथमपि निगृह्यमाणा मुहूर्तमासिष्ये ।

इति यत्र वचः स्त्रीणा तत्रापि रमंत एव पशुतुल्याः ॥६२८॥

‘बह कुछ भी करे, बहुत धर-पकड़ रखेगा तो किसी तरह क्षण भर के लिये ठहर जाऊँगी’ ऐसा जहाँ स्त्रियों का मन हो जाय वहाँ पशु जैसे लोग ही स्नेह करते हैं ॥६२८॥

यत्र न मदनविकाराः सद्भावसमर्पणं न गात्राणाम् ।

तस्मिन्मुद्रितभावे पशुकर्मणि पशव एव रज्यते ॥६२९॥

जो न कामजनित विकार हैं, न अंगों का प्रेमपूर्वक समर्पण है उस भाव-शून्य पशुकर्म में पशु ही राग करते हैं ॥६२९॥

अवधीरणयोपहतः प्रतिदिवसं हीयमानसद्भावः ।

अभिमानवान्मनुष्यो योपितमूढामपि त्यजति ॥६३०॥

तिरस्कार का मारा, प्रतिदिन जिसका प्रेम कम पड़ता जाता है ऐसा अभिमानो पुरुष अपनी ब्याहता पत्नी को भी छोड़ देता है ॥६३०॥

साक्षिनिकोचं सख्याः पाणितर्ल पाणिना समाहृत्य ।

यन्नरमुपहसति स्त्री ददातु तस्मै मही रन्ध्रम् ॥६३१॥

आँखें सिकोड़ कर, सखी के हाथ को हाथ में टोक कर स्त्री जिस पुरुष की रित्तली उड़ाती है उसे धरती अपने में शरण दे ॥६३१॥

पुरुषान्तरगुणकीर्तनमन्योद्देशेन चात्मनो निन्दाम् ।

शृण्वन्नपि यः स्वस्थः स्वस्थोऽस्तौ कालभाशवद्धोऽपि ॥६३२॥

सामान्य जन के बहाने दूसरे पुरुष के गुणों का गान और अपनी निन्दा सुनता हुआ भी जो स्वस्थ रहता है वह यम के पाश से बँधा होकर भी स्वस्थ है ॥६३२॥

अवगम्याभिप्रायं स्वामिन्याः परिजनोऽपि यं पुरुषम् ।

अवहसति तिरस्कार्यं तस्य न मूल्यं वराटिकाः पंच ॥६३३॥

मालकिन का मतलब समझ कर नौकर-चाकर भी जिस तिरस्कार के योग्य पुरुष को ईंसी उड़ाते हैं उसकी कीमत पाँच कौड़ी भी नहीं है ॥६३३॥

तत्त्वातत्त्वसमुत्थव्यवहृत्यग्नेर्योतरं न जानाति ।

स्थानं भवति स पशुपतिरपसंशयमर्धचन्द्रलाभस्य ॥६३४॥

जो पुरुष तत्त्व और अतत्त्व के व्यवहारों में भेद नहीं जानता वह पशुपति (गुर्गराज, श्लेष व्यङ्ग्य से शिव) निःसन्देह अर्धचन्द्र (गलगाहा, पक्ष में चन्द्रार्ध) के लाभ का पात्र है ॥६३४॥

क्रमकृशितगौरवाशो रिक्ततया लाघवं परापतितः ।

अप्राप्तपरिच्छेदः प्लवतेऽसौ युवतिसरिति कुमनुष्यः ॥६३५॥

धीरे धीरे जिसका गौरव (भारोपन) जाता रहता है और खाली हो जाने से जिसमें लाघव (हल्कापन) आ जाता है, ऐसा याह न पाया हुआ निन्दनीय पुरुष वरुणी रूपी नदी में तैरता रहता है ॥६३५॥

यत्नेन कपटघटितान् शृंगारोद्दीपार्थमनुभावान् ।

रतिशिल्पजीविकाभिर्मूढास्तत्त्वेन गृह्णन्ति ॥६३६॥

रतिबला से जीवन निर्वाह करने वाली घेरुयाश्रों द्वारा यत्नपूर्वक शृंगार की उद्दीप्त करने के लिए छल से प्रदर्शित कटाक्ष-विशेष आदि अनुभावों को मूढ़ बुद्धि के पुरुष तत्त्वतः समझने लगते हैं ॥६३६॥

या घनहार्या नार्यो निर्मर्यादाः स्वकार्यंतात्पर्याः ।

सह ताभिरपीहृत्ते वत मन्दाः संगतमजर्यम् ॥६३७॥

जो स्त्रियाँ धन खरब कर मिलती हैं और मर्यादाओं से रहित एव अपने मतलब साध लेने भर की होती हैं उनके साथ भी मन्द लोग कभी पुरानी न पढ़ने वाली मैत्री चाहते हैं ॥६३७॥

अपरोक्षघनो गम्यः श्रीमानपि नान्ययेति निर्दिष्टम् ।

कन्दर्पशास्त्रकारैः कुतः कथा सुप्तविभवस्य ॥६३८॥

जिस आदमी की धन दौलत जाहिर है, कामशास्त्र के रचयिताओं ने उसे गमन के योग्य कहा है और जो कि धनी होता हुआ भी देने वाला नहीं है उसे गमन के योग्य नहीं बताया है, फिर जिसके पास पूँजी ही नहीं उसकी बात ही क्या । ॥६३८॥

व्यासमुनिनापि गीतं द्वावेव नराधर्मा मनो दहतः ।

योजनादयः कामयते कुप्यति यश्चाप्रभुत्वयुक्तोऽपि ॥६३९॥

व्यासमुनि के ने भी सखार में दो प्रकार के अधम पुरुष बताए हैं एक वह

जो दरिद्र होकर भी इच्छा करता है, दूसरा वह जो असमर्थ होकर भी कोप करता है ॥६३६॥

क्षीणद्रव्ये देहिनि दारा अपि नादरेण वर्तन्ते ।

किमुतादानैकरसाः शरीरपणवृत्तयो दास्यः ॥६४०॥

जिसके पास द्रव्य नहीं उस पुरुष में पत्नी भी आदर नहीं रखती, फिर जो केवल लेने में ही रसिक और शरीर का विक्रय किया करती हैं उन दासियों की बात क्या ? ॥६४०॥

अविदितहेयादेयास्तिर्यचोऽपि त्यजन्ति पीतरसम् ।

कुसुम किमु कार्यविदो वेश्या नरमात्तसर्वस्वम् ॥६४१॥

जो पंखी त्याग्य और ग्राह्य की बात नहीं जानते वे भी चुसे रस वाले फूल को छोड़ देते हैं, फिर मतलब को यार वेश्याएँ लुटे धन वाले आदमी को तो छोड़ देती हैं ही ॥६४१॥

उत्पादयति सदानो रागं रागात्मको यथाभ्यधिकम् ।

निर्देहं निर्दानोऽपि सदा नो निःसन्देहं तथैव मनुजन्मा ॥६४२॥

जिस प्रकार देने वाला प्रेमी निश्चित रूप से प्रेम उत्पन्न करता है उस प्रकार निःसन्देह नहीं देने वाला आदमी सदा प्रेम उत्पन्न नहीं कर पाता ॥६४२॥

यदतीतं तदतीतं भाविनि लाभेऽपि नातिबहुमानः ।

तत्कालहस्तनिपतितमनियतपुंसां मुदे वित्तम् ॥६४३॥

जो चला गया वह तो चला गया, अब होने वाले लाभ में भी कोई आदर नहीं, जिनके पुरुष नियत नहीं ऐसी वेश्याओं को वही धन गुश करना है जो तत्काल हाथ में आ जाय ॥६४३॥

पीडितमधु मधुजालं तुच्छीभूतं च मन्मयग्रस्तम् ।

मुञ्चन्ति मदनरोषं क्षुद्राश्च प्रकटरामाश्च ॥६४४॥

मधुमंत्रितया जिस प्रकार जिस छत्ते ने मधु गिराकर डाला गया है और जो मधुच्छिष्ट मात्र अग्रच्छिष्ट रह गया है उसे परित्याग कर देती है उगी प्रकार शयिकाएँ मदन मात्र अग्रच्छिष्ट फामी को परित्याग कर देती हैं ॥६४४॥

एकः क्रीणात्यद्य प्रातर्भविता तथापरः क्रेता ।

अन्यवशे क्षणमेकं न विक्रयः शाश्वतोऽस्ति वेश्यानाम् ॥६४५॥

एक आदमी आज खरीदता है तो मल सबेरे दूसरा आदमी खरीदार होगा, उनका एक क्षण भी दूसरे के अधीन होता है, वेश्याओं का विक्रय हमेशा-हमेशा के लिए नहीं हो जाता ॥६४५॥

• सन्दर्शितपरमार्थं भ्रूक्षेपकटाक्षदृष्टिहसितादि ।

शृण्वन्ति ये सकर्णास्तत्कृतमन्यत्र संक्रान्तम् ॥६४६॥

दूसरे कामुक के प्रति सम्मान, चरम श्रय को स्पष्ट कर देने वाले भ्रू-मिलास, कटाक्षदृष्टि और हँसी को कानवाले सुन ही लेते हैं अर्थात् बुद्धिमान लोग आशय को समझ ही लेते हैं ॥६४६॥

यदि नाम निराकरणे न समर्थाच्छिन्नकार्यवन्धेषुपि ।

काचिन्महानुभावा बोद्धव्यं तदपि चेतनावद्भिः ॥६४७॥

यदि कोई महानुभावा वेश्या लेन-देन के सम्बन्ध टूट जाने पर भी पुरुष को निराकरण करने में नहीं समर्थ होती तो अमलमन्दों को खुद समझ लेना चाहिए ॥६४७॥

तेनार्येनोपकृत तथापि तस्य स्वदेहदानेन ।

तच्चातीत सम्प्रति निरर्यकं शुष्कशृंगारः ॥६४८॥

पुरुष ने धन से उपकार किया तो उसने भी अपना शरीर अर्पित करके उसका उपकार किया, अब तो वह उपकार अतीत हो गया फिर खरा शृंगार किस काम का ? ॥६४८॥

अवधीरणा रसायनमवमानो भवति यस्य परितुष्ट्यै ।

योग्योऽसौ पुरुषखरः खरतरनिर्भर्त्सितोक्तिकुलटानाम् ॥६४९॥

जो वेश्या के निरस्कार को रसायन मानता है और उसके द्वारा अवमान से मनुष्ट होता है वह गदहा आदमी कड़े-से कड़े दुःख के, लगुट-प्रहार के योग्य है ॥६४९॥

दीपज्वालाललने व्रजत. तसु निवृत्ति तयोस्त्विद्यान्भेदः ।

प्रथमा स्नेहेन विना तथापरा स्नेहयोगेन ॥६५०॥

दीप की ज्वाला और वेश्या दोनों शुरू जाती हैं किन्तु दोनों में इतना भेद

है कि पहली स्नेह (तेल) के बिना बुझ जाती है और दूसरी स्नेह (राग) के योग से बुझ जाती है ॥६५०॥

धर्मः कामनमभिनवगुणवन्निःस्वस्य मदनयोगवतः ।

अर्थोऽर्थवतोऽभिगमात्कामः समरतिनरोपभोगेन ॥६५१॥

(वेरयाएँ) कामातुरे दरिद्र प्राणी को रतिदान करके 'धर्म' लाभ करती हैं, धनवान् व्यक्ति के साथ सगम करके 'अर्थ' लाभ करती हैं और 'समरत' ३ व्यक्ति के साथ उपभोग करके तीसरे पुरुषार्थ 'काम' का लाभ करती हैं ॥६५१॥

यस्तु न धर्मप्राप्तये नार्थाय न कामसाधनोपायः ।

स पुमान्सच्चरितनरैः पर्यनुयुक्तः किमाचष्टे ॥६५२॥

जो पुरुष न धर्म की प्राप्ति के लिए, न अर्थ के लिए और न काम के लिए उपयोगी है वह आचारवान् लोगों से पूछे जाने पर क्या करेगा ? ॥६५२॥

कामोद्वेगगृहीतं धूर्तैरुपहस्यमानशृंगारम् ।

दारिद्र्यहतं यौवनमबुधाना केवलं विपदे ॥६५३॥

ना समझ लोगों का जीवन, जो नमजनित्र उद्वेग से ग्रस्त है, धूर्तों द्वारा जिसके शृङ्गार की रिल्ली उड़ाई जाती है और गरीबी से बुरी तरह पिट गया है, केवल विपत्ति का कारण है ॥६५३॥

व्यपगतकोपे रागिणि याति लयं पानमात्रलाभकृते ।

क्षुद्रा मधुकरिकांजे न तु गणिका चिंतितस्वार्था ॥६५४॥

उस कमल में, जिसका कोप (कुड़मल) समाप्त हो चुका है, अर्थात् विषयित हो चुका है तथा जो रागयुक्त है, केवल मधुमान के लिए छुमाई क्षुद्रा मधुमरी लीन हो जाती है, मित्र स्वार्थ साधन में व्यापृत चित्त वाली गणिका ऐसा नहीं करती ॥६५४॥

यासां कायपिक्षा सक्टाक्षनिरीक्षणेऽपि वेरयानाम् ।

दर्शनमात्रक्षुभितैर्वच्यन्ते ताः कथं पुरुषैः ॥६५५॥

जिन वेरयाश्यों का कटाक्षभरी दृष्टि से देखने में भी कुछ न कुछ प्रयोजन

१-समप्रमाण गुह्यशाली स्त्री-पुरुष का रतिप्रसंग । पुरुष में आधिभय होने पर 'उच्यन्ते' एवं स्त्री में आधिभय होने पर 'नीचरत' होता है ।

होता है वे उन पुरुषों से जो केवल देराने मात्र से विचलित हो जाते हैं, कैसे ठगी जा सकती है ? ॥६५५॥

क्लेशाय दुर्भंगाना नाना स्थिति गात्रभगविन्यासः ।

गणिकाभिनयचतुष्टयमाकृष्टये स्वापतेयपुष्टा नाम् ॥६५६॥

मान, स्तुति, गात्र-भङ्ग और विन्यास ये गणिकाओं के चार अभिनय दृष्टिों को कष्ट देते हैं और धनवानों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं ॥६५६॥

किं घक्षयति भौमोऽपि ज्वलन् खालु तादृशं कुलागारम् ।

यो दहतेऽविराम विरक्तदासोतिरस्कारैः ॥६५७॥

जो आदमी रागशून्य वेश्या के कर्णकटु तिरस्कारों से नहीं दग्ध होता, क्या कैसे कुलाङ्गार को पर्यथ्य अग्नि जला पायेगी ? ॥६५७॥

गृहमेतदीश्वराणां कांतारं दुष्प्रवेशमन्येषाम् ।

प्लूकृतमिदमुदभुजया न मालती कामसनदानपरा ॥६५८॥

यह घर कैसे वालों के लिए है, दूसरों के लिए शरत्थ की भाँति दुष्प्रवेश है, सुन्दर भुजाओं वाली मालती ने फुफ्फुकार कर कह रखा है कि मालती काम (म-मथ) का सदावर्त नहीं चलाती । ॥६५८॥

इति चोदितनिजचेटीनिगदितकटुकाक्षरान्यकृतलक्ष्याः ।

आकर्णयतो वाचो देवोपहतस्य तस्य ममंरुजः ॥६५९॥

प्रेरित हुई दूती लक्ष्य का विचार न करके इस प्रकार कहे अक्षर कहेगी जबकि वह भिदे मर्म वाला भाग्य का माय सुनता रहेगा ॥६५९॥

एवमभिधेयमानो बुध्यति यदि नो पशुर्नराकारः ।

तदिदं सुन्दरि वाच्यः प्रथितवचसा त्वया कामी ॥६६०॥

इस प्रकार कहे जाने पर भी यदि वह आदमी के आकार वाला पशु नहीं

१—'उमराय जान' में वामुद से वेश्यामाता की इस प्रकार पर्योक्ति है—

'प्रेर मिथा, इस लायक तो आप नहीं रहे कि एक अदमा सी पमांपरा पूरी करें । फिर लौंडी के मनान पर आना क्या पत्रं था । हुशर को मालूम नहीं घेरयायं धार पने की मीत होती है । क्या आपने यह मसल नहीं सुनी कि रंडी कियकी पोरु । हम लोग नुरागत करें तो प्रायें क्या ? यों आप आइए, आपका धर है, मना नहीं करती । मगर आपकी अपनी इज्जन का सुद इत्पाल होना चाहिये' ।

समझे तो हे सुन्दरि, तू विनीत बचन होकर उस कामी से यह कहना ॥६६०॥

प्रीयत एव तवोपरि हृदयं मे किन्तु गुरुजनाधीना ।

मातृवचोऽतिक्रमणं न समर्था संविधानुमहम् ॥६६१॥

‘तुम पर मेरा दिल दुना ग ही हे, किन्तु मैं बड़ों के अधीन हूँ, माता की यात का उल्लङ्घन करने का सामर्थ्य मुझमें नहीं ॥६६१॥

अहंसि तावदस्तस्त्वं गंतुमितः कतिपयान्यपि दिनानि ।

पुनरपि भवतैव समं भोक्तव्यं जीवलोकसुखम् ॥६६२॥

इसलिए तुम यहाँ से कुछ ही दिनों के लिए चले जाओ, फिर तो तुम्हारे ही साथ दुनियाँ के मजे लेंगे ॥६६२॥

निर्वासितेऽथ तस्मिन्यः कामी पूर्वमुज्झितो भुक्तवा ।

तस्य प्राप्तविभूतेषुं कतिरियं भिन्नसन्धाने ॥६६३॥

उसके निकाल बाहर किए जाने पर जो कामी पहले भोग करके छोड़ दिया गया था उसके पास धन इकट्ठा हो जाने पर उस छूटे हुए के साथ मिलान करने में यह युक्ति है ॥६६३॥

उपवनलीलाविहरणहावोज्ज्वलमंजुलस्य सह तेन ।

वर्षानमितिवृतस्य स्मरजविकाराश्च वीक्षिते तस्मिन् ॥६६४॥

जय यह मिले तो पहले जो उसके साथ हाव-पूर्वक मनोहर उपवन लीला (पुष्पावचय आदि) और विहार (जलकेलि आदि) आदि किए थे उन सारी घटनाओं का (उसे सुनाते हुए) वर्णन करना और कामजनित विकार प्रकट करना ॥६६४॥

१—कामसूत्र है—

‘वर्तमानं निर्घाडितार्थशुत्सृजन्ती विशीर्षेण सह सन्दध्यात्’ ८

अर्थात् जय भौजूदा कामुक का सारा धन निचोड़ लिया जाय तब उसे छोड़ती हुई वेश्या पुनः पहले के छूटे हुए कामुक के साथ सन्धि करे । इसको यहाँ ‘भिन्न-सन्धान’ कहा है । अथ इसके अनुसार कुट्टनी चिरराता मालती को ‘भिन्नसन्धान’ की युक्तियों समझाना आरम्भ करती है ।

इदमुपवनमतिवन्य निर्भरमालिङ्गितं सुरभिलक्ष्म्या ।

मत्सकन्धार्पितपाणित्रंभ्राम स यत्र जीवितावीशः ॥६६५॥

शौरभममत्ति से पृथ्वा आलिङ्गित यह उपवन अतिवन्य है जहाँ मेरा प्राणेश्वर मेरे गले में हाथ डाल कर घूमा करता था ॥६६५॥

सख्य इतो भ्रमरकुलनासितया प्रियतमो मया सहसा ।

वक्रोभवत्पयोधरमुपगूढोऽघोरसीत्कारम् ✓ ॥६६६॥

मणियों, यहाँ भौरों से डरी हुईं मैंने प्रियतम को धीरे धीरे सीत्कार करते हुए इस प्रकार सहसा आलिङ्गन में कस कर बाध लिया कि मेरे स्तन दब कर रचं हो गए ॥६६६॥

रणदिन्दिन्दिरवृन्दे कूजत्कलकण्ठवाररमणीये ।

अत्रातिमुक्तकगृहे मरुदोरणविवृतकुसुमसच्छन्ने ॥६६७॥

बाकुन्ती लता के इस कुञ्ज में, जहाँ भौरि गुगार करते रहते हैं, कोयल की चूक से रमणीयता बनी रहती है और जो कुञ्ज हवा से हिलते हुए फूलों से संछादित है ॥६६७॥

मयि जाताधिकरागो बलवति मदने सहायसामग्रभा ।

कान्त. पल्लवशयने नो तृप्तिमगाद्विविक्तकायैषु ॥६६८॥

मुझमें उत्पन्न राग वाला प्रिय सहायक सामग्री के कारण मदन के जोर मारने पर पल्लव के बने सेज पर पकान्त में होने वाले कायों में तुम नहीं हुआ ॥६६८॥

प्रेसोलनस्य युक्त्या विध्यन्पार्श्वद्वयं नदीवृत्तं ।

चक्रे मा मदनमयी प्रवतिप्रेशामिमा सभास्वदाम ॥६६९॥

जब मैं लता के बने भूने पर बँधी थी तब उस धूर्त ने पँग मारने के बहाने मेरे दोनों पार्श्वों को नगों में रारोचिते हुए मेरे वाम को जगा डाला ॥६६९॥

स्पृहणीयोऽयमशोकः स्पृष्टो यद्वल्लभेन हस्तेन ।

अस्मद्वचत्सपार्थं नूतनदलपल्लवान्विचारयता ॥६७०॥

यह अशोक का दृश गृहणीय है जिसे प्रिय ने मेरे कानों के अन्वय

दनाने के लिए नये पल्लवों को तोड़ते हुए दर्श किया था ॥६७०॥

अस्मिन्सहकारतले तस्योत्सगे सलीलामासीना ।

अशृणवमहमिति वाचः पश्यती विलसितानि तरुणानाम ॥६७१॥

इस आम के पेड़ के तले उत्तकी गोद में पड़ी, तरुणों की विलास लीला देखती हुई मैंने यह बातें सुनी ॥६७१॥

उत्थापय मानरस दयितं चरणाम्ननिपतितं तूर्णम् ।

अत्याकृष्टं त्रुटयति सुदृढमपि प्रेमबन्धनं मूढे ॥६७२॥

(मानिनी नायिका को खली का उपदेश) 'शरी मानिनी, पैरों में गिरे प्रिय को शीघ्र उठा, मूढ़े, सुदृढ़ प्रेम का बन्धन भी ज्यादा खींचने पर टूट जाता है' ॥६७२॥

तिष्ठन्नपि यातसमः किं तेन निवारितेन सखि पशुना ।

यामीति निष्प्रकम्पा विनिःसृता यस्य साधरे वाणी ॥६७३॥

(नायक की अरसिकता से रुष्ट नायिका की सखी के प्रति उक्ति) 'सखि, उदर्य हुआ भी, तो बह चले गए ही के समान है, उस पशु को रोकने से क्या ! जिसके मुख से 'जाता हूँ' यह वाणी बिना रुकावट के अधर पर आ गई ॥६७३॥

आयुःसारं यौवनमृतुसारः कुसुमसायकवयस्यः । ~

सुन्दरि जीवितसारो रतिभोगरसामृतस्वादः ॥६७४॥

(ज्ञातयौवना मुग्धा ग्रथना मानिनी नायिका के प्रति किसी रसिक व्यक्ति की उक्ति) 'सुन्दरि, आयु का सार यौवन है, मृतुओं का सार कामदेव का सखा बसन्त है और जीवन का सार रतिभोग के रसामृत का स्वाद लेना है, ॥६७४॥

रम्यं कुसुमस्तवकं कुरु मे प्रिय कैकिरातमवतंसम् ।

तिष्ठतु वा किमनेन प्रत्यग्रमशोककिसलयं चाह ॥६७५॥

(स्वाधीनरतिका प्रगल्भा नायिका प्रणयी से आदर के साथ बनदूल बनवाने के लिए निर्देश करती है) 'प्रिय, सुन्दर अशोक के फूलों के गुच्छे को मेरे कान का श्रवतंस बना दो श्रवणवा रहने दो इससे क्या ! नया सुन्दर अशोक का किसलय ही लगा दो ॥६७५॥

अस्तामास्तामेतत्प्राप्य मां सिद्धुवारमभिरामम् ।

नहि नहि राजति सुतरां चूतद्रुममंजरी कर्णे ॥६७६॥

इसे भी जाने दो, मुझे सिद्धुवार दो । नहीं नहीं, कान में श्राम की बीर ही बहुत अच्छी पڑती है' ॥६७६॥

विकृत्तारुप्यमकान्तं विकृत्तान्तं यौवनेन रहितं च ।

विकृत्तद्वयमपि भन्मथसामर्थ्यविकासितं विना सुरतम् ॥६७७॥

(विलासिनिधं को सुरत के लिए प्रवर्तायिनी किसी नायिका को आत्मे-पोषि) उस जवानी को धिक् है जो प्रिय के बिना गुजरती हो और उस प्रिय को धिक् है जिसमें जवानी नहीं है और उन दोनों को भी धिक् है जो कामशास्त्र के प्रयोग वाले सुरत से रहित हैं ॥६७७॥

जनितोऽप्यपराधशतैवमि तस्मिंश्चिरप्रसृद्धोऽपि ।

अवगतमधुना सख्या न वसन्तमतीत्य वर्तते मानः ॥६७८॥

(गुरुमानवाती 'नायिका के बहुत दिनों के मान को सहसा मंग देर कर आश्चर्य करके सखी उससे कहती है), 'उस प्रतिदूल प्रिय के विषय में सैफ़ों अपराधों के कारण उत्पन्न और बहुत दिनों से बढ़ा हुआ भी सखी का मान अभी पहुँचे हुए वसन्त को पार नहीं कर सका' । ॥६७८॥

वर्षशतस्य हि सारः काललवः प्रथममेलकस्थानम् ।

सचकित्तमागच्छन्तो सोत्कलिकैर्यत्र दृश्यते रमणी ॥६७९॥

(सखी के द्वारा प्रिय के समागम के लिए नायिका को प्रलोभन) 'बह समय का लेशमात्र भी तर्पों का गार है, जब उत्कलिकाओं ने भरी रमणी प्रथम मिलन के सकेन्द्र-भल पर आश्चर्य भाव से आती हुई दिखाई देती है' ॥६७९॥

किं निर्मितोऽसि धात्रा नवोऽपरः किमु वसन्तगुण एषः ।

कुसुमशरपूर्णतूण किमुताभवदन्य एष वंदर्पः ॥६८०॥

(प्रिय के प्रति नायिका का चन्द्रगर्भ मनन) 'क्या तुम विषादा का अर्घ्य निर्माण हो, अथवा क्या एक अन्य मूर्ति वसन्त हो, अथवा क्या पुष्प के पारो से मरे तरंग को परण्डा करने वाला दूसरा कन्देव ही हो' ? ॥६८०॥

नो पश्यसि यदि ककुभः प्रचुरोज्ज्वलकुसुमसुरभिरमणीयः ।
परमृतकूलनमिश्रं न . शृणोपि यदि द्विरेफभंकारम् ॥६८१॥

गन्धं यदि च न लभसे वासितदिग्ब्योम सुमनसां हृद्यम् ।
अनुभवसि यदि स्पर्शं नो शीतलदाक्षिणात्यपवनस्य ॥६८२॥

रसनेन्द्रियैकशेषः परसंचार्याजनेन परिभूतः ।
नार्हसि तदिति त्यक्तो निजाश्रमं गन्तुमन्यतो निरतः ॥६८३॥

(मिस्री नायिका के प्रणयी को कोई दूसरी नायिका मिठाई का निमन्त्रण देकर अपहरण करने की चेष्टा वाली थी कि उसी समय नायिका ने प्रणयी को उपालम्भ दिया) 'यहुत से विकसित फूलों की सुरभि से रमणीय दिशाओं को यदि नहीं देखते हो, जोयल की बूझ से मिले भौरों की झुझार को यदि नहीं सुनते हो, दिशाओं और आकाश को बसा देने वाली फूलों की मनोहर गन्ध यदि नहीं सूँघते हो, शीतल दक्षिण पवन के स्पर्श का यदि अनुभव नहीं करते हो तो जिसकी एक रसनेन्द्रिय ही शेष रह गई है ऐसे तुम अन्य नारों के साथ घूमने के कारण लोगों द्वारा परिभव प्राप्त कर चुके हो तब भी अपना आश्रय छोड़ कर कहीं दूसरी जगह बिलबुल नहीं जा सकते हो' ॥६८१-६८३॥

अस्मिन्सरसि सलीलं करयंत्रविनियंदंबुधाराभिः ।

दयितेन ताडिताहं मयाप्यसावाहतो मृणालिकया ॥६८४॥

इस सरोवर में प्रिय ने हाथ की पिचकारी से निकलती हुई जलधाराओं से लीला पूर्वक मुझे ताड़न किया था और तब मैंने भी उसे मृणाल से आहत किया ॥६८४॥

पुनरन्तर्जलमग्नो मामुपगम्याविभावितः सहसा ।

उच्चिक्षेप सहस्रं हासितसन्निहितपरिवारः ॥६८५॥

फिर वह पानी के भीतर पैठ गया और मेरे पास अनजाने में आकर मुझे सहसा हँसते हुए ऊपर उछाल दिया इस दृश्य को देख कर पान की सतिर्पा हँस पड़ी ॥६८५॥

नसक्ताद्राविरण जघन न पश्यतस्तदा तस्य ।

प्रथमाकाक्षाकृत भेजे सम्भोगशृंगार ॥६८६॥

✓ जन्म उरुने भेरे जघन को, जितमें भींगा हुआ कपडा चिपक गया था देखा तब उसे देखकर उसने (भेरे) पहली इच्छा के आशय ने सम्भोग शृंगार का आनन्द पाया ॥६८६॥

कालप्रदेशवेपव्यापारस्थितिविशेषघटनाभि ।

चिररूढोऽपि हि यूना नवत्वमुपनीयते राग ॥६८७॥

समय, स्थान, धप, व्यापार और स्थिति विशेष की घटनाओं के कारण युवता का बहुत दिनों का भी राग नया हो जाता है ॥६८७॥

सादरमर्पयतोऽङ्ग गोत्रस्खलनापराधिनस्तस्य ।

सख्य स्मरामि सहसा विलक्षता क्लिष्टहसितस्य ॥६८८॥

सगिया मुझे याद आता है, जब कि वह मुझे आदर पूर्वक कमल देने लगा उसी समय वह दूसरी का नाम कह देने का अपराध कर बैठा, तब सहसा वह लज्जा के कारण बहुत क्लेश की दृष्टी हँसने लगा ॥६८८॥

प्रत्यग्रनखव्रणितस्तनान्तरे क्षिपति लोचने स्पृहया ।

प्रेयसि ह्रीताच्छ्रादनमकरवमहमब्जिनीपनम् ॥६८९॥

जब उस प्रियतम ने नखा के नये छतों से घायल भेरे स्तन पर ललचाइ आँसु डाली तब भेरे कमलिनी के पत्र से उसे ढक लिया ॥६८९॥

क्षिप्वातकितमम्भोगभितनलिनीपलाशपुटमारात् ।

ग्राहतया यद्विहत स्वस्थविया तन्न शक्यते कर्तुम् ॥६९०॥

पद्मत्र या समुद्र (दोना) बना कर उसमें जल भर कर उसने जब सहसा भेरे शृंगार पर दूर हो सँगा तब मैं जा चीकार कर उठे उसे कोई साधारण श्रमस्या की स्त्री नहीं कर सकती थी ॥६९०॥

सुरिलप्टो हावविधिर्मदनालसगाश्रजुम्भितं स्वलितम् ।

गूडस्थानप्रघटनमंगुलिविस्फोटन स्मित सुभगम् ॥६९१॥

अनंतर मधुक् प्रसार में दाकभाव का प्रयोग, मदनान्वित आलस्य के

कारण सुन्दर जंभाई, गोपनीय अङ्गों का प्रकटन, उँगलियों का चटकाना, सुभग मुस्कान ॥६६१॥

नोवीवन्धविमोक्षो मुहुर्मुहुः केशपाशविश्लेषः ।

स्वाधरदशनग्रहणं बालकपरिचुम्बनं रतोत्सुकता ॥६६२॥

नीवी की गाँठ खोलना, बार-बार बंधे केशपाश को शिथिल करना, अपने अंगर को दातों से पकड़ना, बच्चे को चूम लेना, खीर मुरत की उत्सुकता ॥६६२॥

साकांक्षितं क्षिपत्या तरलायतलोचनं मुहुः कान्ते ।

उद्दिश्य तद्वयस्यकमिति शोकग्रस्त वस्तुगिरः ॥६६३॥

प्रिय के प्रति बार बार आकांक्षापूर्ण ढंग से अपनी तरल और आयत आँखें करती हुई उसके साथी को उद्देश्य करके इस प्रकार शोक-भरी बाणी बोली ॥६६३॥

एकीभावं गतयोजलपयसोर्मिध्रचेतसोश्चैव ।

व्यतिरेककृतौ शक्तिहंसानां दुर्जनानां च ॥६६४॥

पानी और दूध तथा दो मिश्रों के हृदय जब मिल कर एक हो जाते हैं तब उन्हें अलग-अलग करने की शक्ति हंसों की तथा दुर्जनों की होती है ॥६६४॥

येन तदा मामूचे परिजनमुत्सार्य विधृतनटमन्युः ।

दर्शितहितस्वरूपः परपीडाकरणपण्डितः प्रखलः ॥६६५॥

(जब तुमसे मेरा विच्छेद हुआ) उस समय दूसरे को पीड़ित करने में पण्डित (तिरा वयस्य) परिजन को पाल से हटा कर अपना बनावटी शोक प्रकट करके मेरे हितकारी का रूप धारण कर मुझसे बोला ॥६६५॥

अविदितगुणान्तराणां को दोषः प्रान्तदेशवासानाम् ।

स्वाधोनकुंकुमा अपि यद्विदधति बहुमतिं नीले ॥६६६॥

जिन्हें दूसरे गुणों का परिचय प्राप्त नहीं और जो देशान्तर में रहा करते हैं उनका कोई दोष नहीं, क्योंकि फेसर के देश कश्मीर में रहने वाले लोग 'नीले' या ही ज्यादा आदर करते हैं ॥६६६॥

क्व महीतलरम्भा त्वं न्यक्वृत्तचन्द्रप्रभा स्वदेहस्था ।

चित्रलता क्व वराकी नोचैरुपसेवितारोहा ॥६६७॥

अपने शरीर की कान्ति से चन्द्र की प्रभा को तिरस्कृत करने वाली पृथ्वील की रम्भा सी तुम कहां और कहां बेचारी चित्रलता, जिसके नितम्बों को नीच पुरुष सेते रहते हैं ? ॥६६७॥

यस्य न खलु विगणिताः प्रह्लात्मानो महाघनाः कुलजाः ।

सोऽञ्च हृदयेन तस्यां त्वयि तिष्ठति बाह्यवृत्तेन ॥६६८॥

विश्वके चलते कुमने बड़े घनमानों और कुलीनों को भी डुकरा दिया वह आज तेरे प्रति ऊरवी व्यवहार प्रकट करके रहता है ॥६६८॥

तामेव समाचरणां सद्भावेन प्रवर्तितानि निपुणैः ।

विन्दन्ति तत्र कुशलाः स्नेहविरूक्षप्रभेदेन ॥६६९॥

उदमाय से किए गए जिस आचार-व्यवहार को निपुण जन जानते हैं, उसे ही स्नेह के निपरीत होने पर कुशल लोग भिन्न प्रकार से जान लेते हैं ॥६६९॥

तव तु विरुद्धप्रेम्णास्तत्कर्मविचेतनं मनोवृत्तिम् ।

नारोहति तु मयैवं निवेदितं पारिचित्येन ॥७००॥

अस्तु, जिसका प्रेम बढ़ चुका है उसकी मनोवृत्ति सत्कार्य के निर्णय करने में प्रवृत्त नहीं होती, उसे ही मैंने जान पहचान के कारण निवेदन किया ॥७००॥

इति दुर्जनाभिनिःसृतवाग्विपदूषितसमस्तवपुपो मे ।

ईर्ष्याद्यः प्रवृद्धाश्चिररूढप्रणयखण्डनप्रभवाः ॥७०१॥

इस प्रकार दुर्जन रूपी सर्प के मुल से निकले बचन रूपी विष के कारण मेरा समग्र शरीर दूषित हो उठा और अधिक दिनों के बढ़े प्रणय के सखटन हो जाने से उत्पन्न ईर्ष्या के कारण अनिश्चय उद्दीप्त हो गया ॥७०१॥

सपुहृदयतया तस्माद्दुर्भाषितवज्रपातविहतानाम् ।

वक्तृविरोपवितर्को न स्पृशति प्रायसो मनः स्त्रीणाम् ॥७०२॥

स्त्रियों का हृदय छोटा या हल्का होता है, इस लिए दृष्टियों के वज्र में प्रादुर्भाव होने पर उनके मन में यह विचार करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती कि करने वाला कौन है ? ॥७०२॥

प्रियमपि वदन्दुरात्मा क्षिपति विपत्सागरे दुस्तारे ।

आसाद्य प्राणमृतो मृतये परिलेढि जिह्वया खड्गः ॥७०३॥

दुरात्मा पुरुष मधुर वचन बोलता हुआ भी विपत्ति के दुस्तर समुद्र में फँक देता है, खड्ग मृत्यु के लिए प्राणी को पाकर उसे जीम से बाँधने लगता है ॥७०३॥

अतिकोमलमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।

परमार्थतः स हृदयं दहति पुनः कालकूटघटित इव ॥७०४॥

‘शठ व्यक्ति बहुत कोमल, बड़े नपे-तुले शब्दों से सुन्दर ढंग से बोलता है, वस्तुतः विष का बना हुआ जैसा वह हृदय को दग्ध करता है ॥७०४॥

हितमधुराक्षरवाणीव्यवहारमनुप्रविश्य तल्लीनम् ।

सरला दुराशयानामुपघातं फलत एव विन्दन्ति ॥७०५॥

दुष्ट अभिप्राय वाले जनों की वाणी को, जो व्यवहार में घुस कर उधी में घुल-मिल कर एकाकार हो जाती है, सरल प्रवृत्ति के लोग विनाश के परिणाम या फल को भुगत कर जान पाते हैं ॥७०५॥

परसंतापविनोदो यत्राहनि न प्रयाति निष्पत्तिम् ।

अंतर्भेना असाधुनं गणयति तदायुषो मध्ये ॥७०६॥

जिस दिन दूसरे को संताप देने का विनोद पूरा नहीं हो जाता उस दिन को रिक्त अशाधु पुरुष अपने जीवन की आयु के बीच गणना नहीं करता (अदृष्टकार्य हो जाने के कारण यह सोचता नहीं कि उस दिन भी वह जीवित रहा है) ॥७०६॥

दिवसांस्तानभिनन्दति बहु मनुते तेषु जन्मनो लाभम् ।

ये यान्ति दुष्टबुद्धेः परोपतापाभियोगेन ॥७०७॥

उन दिनों का बहुत स्वागत करना है और अपने जन्म लाभ का बहुतान करता है, जो उस दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष के दूसरे को दुष्ट पहुँचाने के कार्य में पूर्ण अभिनिवेश के साथ यानित होते हैं ॥७०७॥

विकसितवदनः पिरानुः प्रोत्फुल्लविलोचनो यया भ्रमति ।

मन्ये तथा न जातः सदहितकरणश्रमो वन्द्यः ॥७०८॥

गिला गुन मश्ल काला गन पुरुष आगे हरींफुल्ल करके जो भ्रमता है

उससे जान पड़ता है कि सज्जना के ग्रहित करने का उसका प्रयत्न असफल नहीं हुआ है ॥७०८॥

शठमृगयुः कुसृतिशरैरज्ञातप्रतिविधीन्साधुमृगान् ।

अभ्यस्तलक्ष्यवेधो निम्नपरिश्रमं व्रजति ॥७०९॥

जिसका निशाना सध गया है ऐसा शठ पुरुष स्त्री बहेलिया तिरस्कार के कारणों से उन साधु जन स्त्री मृगों को, जिनमें प्रतिक्रिया की भावना विलकुल नहीं, मारता हुआ नहीं थकता ॥७०९॥

अनुकूलवरपुरंध्रिपु पुरुषाणा वद्धमूलरागाणाम् ।

नयति मनो दुःशीलः कुसुमास्त्रो हीनपात्रेषु ॥७१०॥

अनुकूल और श्रेष्ठ नारियों में जिन पुरुषों का राग बद्धमूल है ऐसे पुरुषों के मन को दुःशील कामदेव हीन पात्रों से पहुँचा देता है ॥७१०॥

सावरणं व्रजतोऽन्यां कौतुकदृष्ट्या प्रसङ्गतो दयिताम् ।

बुद्ध्वापि विदग्धवियो वर्तन्ते नाट्यधर्मेण ॥७११॥

सुन-छिप कर कौतुक के लिए प्रसंगतः पराई के पास जाते हुए प्रिय जनो को जान कर भी चालाक स्त्रियों नाटकीय व्यवहार करने लगती हैं ॥७११॥

सत्यं प्रेमणि वृद्धे व्यययति हृदय मनागपि स्वलितम् ।

अवधृतनिजमाहात्म्यास्तथापि धीरा न मुह्यति ॥७१२॥

यह ठीक है कि प्रेम के अधिक हो जाने पर धोडा भी विचलन हृदय को कष्ट पहुँचाने लगता है तब भी अपनी महत्ता पर अवलम्बित रहने वाले धीर जन विमोह नहीं प्राप्त करते ॥७१२॥

स्वच्छन्दं पिवतु रसं भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा वनानि कुसुमेषु ।

अनुभूतगुणविशेषः पुनरेष्यति मालती मधुपः ॥७१३॥

भौरा स्वच्छन्द होकर नाना वनों में घूमता हुआ फूलों का रसपान करे फिर तो गुण की विशेषता का अनुभव करके मालती के पास आयेगा ही ॥७१३॥

मालत्या गुणवत्तां नो सम्यग्वेत्ति मधुकरस्तावत् ।

अनुभवमेति न यावत् सुमनोन्तरसङ्गमास्वादे ॥७१४॥

भौरा तब तक मालती के गुणों की बात को सम्यक् प्रकार से नहीं

जानता जब तक दूसरे फूल के समग वा आस्वाद अनुभव नहीं कर
लेता ॥७१४॥

कोमलमानकदर्थो भजमानो भजति दीप्ततामधिकाम् ।

सञ्चाल्यमानदाहः पावक इव सुप्रभस्नेहः ॥७१५॥

अग्नि जिस प्रकार काष्ठ के संचालन करने से अधिकतर दीप्तता लाभ
करता है सुपम स्नेह उसी प्रकार लघु मान को उपभोग करके और भी उद्दीप्त
हो उठता है ॥७१५॥

यः पुनरतिकोपानलसन्तापवशेन दूरमाकृष्टः ।

काचमणिः खलु स यथा परिणामे खण्डखण्डमुपयाति ॥७१६॥

जिस प्रकार काचमणि देर तक अग्नि में सन्नत होने के फलस्वरूप खण्ड-
खण्ड हो जाता है उसी प्रकार स्नेह कोपजनित सन्ताप के कारण अन्त में
द्विज-भिन्न हो जाता है ॥७१६॥

✓ वेतनलाभाद्बहवः सेव्यन्ते सौष्ठवेन पंचजनाः ।

विश्राम्यति यत्र मनः स तु दुष्प्रापः सहस्रेषु ॥७१७॥

पारिश्रमिक पाने के लिए बहुत पुरुषों की वेश्याएँ पूर्ण रूप से सेवा करती
हैं लेकिन जहाँ मन को विश्राम मिलता है वह हजारों में कठिनाई से मिल
पाता है ॥७१७॥

मन्वादिमुनिवरैरपि कालत्रयवेदिभिः सुदुर्जयम् ।

तत्सुकृतं यस्य फलं रभसागतवल्लभाश्लेषः ॥७१८॥

यह पुण्य, जिसका फल खुश होकर आई प्रियतमा वा आलिङ्गन है, भूल,
भविष्य और वर्तमान को जानने वाले मनु आदि श्रेष्ठ मुनियों द्वारा भी
कठिनता से जना जा सकता है ॥७१८॥

यातेऽपि तयनमार्गं प्रेयसि यस्याः स्मृतिर्व्यलीकेषु ।

मन्ये तां प्रति नियतं कुण्ठितशरपंचको मदनः ॥७१९॥

प्रियतम के दिल जाने पर भी जिस स्त्री को उसके अपराधों की याद
रानी रहती है, मैं मानती हूँ कि निश्चय ही उसके प्रति कामदेव के पाँचों
बाण कुण्ठित हैं ॥७१९॥

जोव्यत एव कथंचिद्विग्वृत्तिमिमां महद्भिरवगीताम् ।

विजहाति यन्न गणिका तद्वाद्यितरमणलाभलोभेन ॥७२०॥

जिस किसी प्रकार जीना पड़ेगा ही, ऐसी स्थिति में गणिका श्रेष्ठ जनों से निन्दित इस मुत्सित वृत्ति को जो नहीं परित्याग करती उसका कारण उसे अभिलषित कामुक के लाभ का लोभ है ॥७२०॥

कण्टकिनः कटुकरसान्करीर सविरादिविपतरुगुल्मान् ।

उपभुंजाना करभी दैवादाप्नोति मधुरमधुजालम् ॥७२१॥¹

कटनी काटेदार एव कड़वे रस वाले करीर, वैर आदि वृक्ष और गुल्मी को चनाती हुई भाग्य से मीठे मधु के छत्ते को भी पा लेती है ॥७२१॥

का स्त्री न प्रणयिवशा का विलसितयो मनोभवविहीनाः ।

को धर्मो निरुपशमः किं सौख्यं वल्लभेन रहितानाम् ॥७२२॥

प्रेमी के वश में न रहने वाली स्त्री कोई स्त्री है ? काम भावना से रहित विलास कोई विलास है ? शमभाव से रहित धर्म कोई धर्म है ? और प्रिय से दूर रहने वालियों को कोई आनन्द है ? ॥७२२॥

स्वाच्छन्दफलं बाल्यं तारुण्यं वचिरसुरतभोगफलम् ।

स्थविरत्वमुपशमफल परहितसम्पादनं च जन्मफलम् ॥७२३॥

बचपन का फल स्वच्छन्दता है, सुन्दर सुरत यौवन का फल है शान्ति उदापे का फल है और दूसरे का भला करना जन्म का फल है ॥७२३॥

अभिदधतोमिदमालीमवगम्य गृहीतयेव भूतेन ।

यौवनसुप्तेन सार्धं मयैव यूयं परिच्छिन्नाः ॥७२४॥

यह कहती हुई सखी को बात सुन कर पिशाच से प्रसन्न श्री भक्ति मीने ही यौवनसुप्त के साथ तुम्हें भी विच्छेद कर डाला ॥७२४॥

अधुनानुतापपावकमध्यगता पच्यमानसर्वाङ्गी ।

निष्फलजन्मप्राप्तिर्जीवाम्युच्छ्वासमात्रेण ॥७२५॥

इस समय परचात्तार की आग में पड़ गई हैं, मेरे अग-अग पक रहे हैं, मेरा जन्म लेना निष्फल हो रहा है, मैं उच्छ्वास मात्र में जीवित हूँ ॥७२५॥

स्थानेषु येषु युष्मत्संगतया क्रीडितं चिरं धृत्या ।

तानि खलु वीक्षमाणा भवामि कण्ठस्थितप्राणा ॥७२६॥

जिन स्थानों में तुम्हारे साथ घेर्यपूर्वक देर तक खेती थी उन्हें देखती हूँ तो मेरे प्राण कठ तक आ जाते हैं ॥७२६॥

अन्यवशेन विसंज्ञा कृतभूषा यंत्रसूत्रसंचारा ।

दारुमयीव प्रतिमा विदधामि विडम्बना बह्वीः ॥७२७॥

दूसरे द्वारा सजाई-सजाई गई, यत्र-सूत्र के अनुसार संचार करने वाली अचेतन कठपुतली की भाँति बहुत-बहुत विडम्बनार्थ करती हूँ ॥७२७॥

यदि नामोदरभरणप्राप्त्यै कुस्तेऽन्यपुष्पसंश्लेषम् ।

उत्तदपि न पुष्टिर्मुग्धा अपिबन्त्या अरविन्दमकरन्दम् ॥७२८॥

यद्यपि भौरी पेट भरने के निमित्त दूसरे फूलों का आलिङ्गन करती है तथापि जब तक वह कमल के रस का पान नहीं करती तब तक उसे तृप्ति नहीं होती ॥७२८॥

आस्तामपरो लोकः क्रीडापेक्षी परापदि प्रीतः ।

व्यसनान्तरे पतन्ती न वारिता परिजनेनास्मि ॥७२९॥

क्रीड़ा की अपेक्षा रखने वाले, दूसरों के कष्ट से प्रसन्न होने वाले आदमी की बात जाने दीजिए, यहाँ तो अपने किसी परिजन ने भी दुःख के समुद्र में गिरती मुझे नहीं निवारण किया ॥७२९॥

किं वा बहुभिः कथितैः सम्प्रति हि मयापि नियमिता बुद्धिः ।

स्थास्यामि सनियुक्ता भवद्गृहे प्रेष्यभावेन ॥७३०॥

बहुत कहने से क्या ! अब मैंने भी अपनी बुद्धि रोक ली है ! आपके घर में नियुक्त होकर दासी के रूप में रहूँगी ॥७३०॥

इति नेत्रादिविकारैर्वंशमुपनीतं प्रलीनधैर्याङ्गम् ।

मारग्रहाभिभूतं परिमृष्टप्राङ्गिन्नाकृतिस्मरणम् ॥७३१॥

हे मुझ, इस प्रकार वह जब तुम्हारे नेत्रों के विकारों से दश में आ जायगा, उसकी धीरता जाती रहेगी, काम के ग्रह से अभिभूत हो जायगा, अपने पहले के निष्कासन की घटना की याद मिट जायगी ॥७३१॥

प्रादुर्भूतरिरसे क्षणे क्षणे जघनदेशगतदृष्टिम् ।

✓ पक्वाम्रमिव विमोक्ष्यसि पूर्ववदाचूष्य नि शेषम् ॥७३२॥

उसकी रमणेश्या पुन उत्पन्न हो उठेगी, क्षण क्षण में तेरे जघन की ओर दृष्टिपात करेगा, तब पहले की भाँति पके आम की तरह उसे पूर्ण रूप से चूस कर छोड़ देना ॥७३२॥

स्वशरीरामिपदिग्व वक्स्मितदृष्टिपातवाग्वडिशम् ।

प्रक्षिप्याकृष्य जड स्फुरणेन विवर्जित सुपरिपुष्टम् ॥७३३॥

देवी मुस्मान, देवी निगाह और देवी गत के बसी (मछली पकाने वाली) को फेंक कर अपने ही शरीर के मांस से युक्त, विवेकहीन, पड़पड़ाहट से रहित, मोटे ताजे (कामुफ रूपी) मत्स्य को खींच कर ॥७३३॥

हस्तद्वयान्तरागतमुपचारय परिव्ययेन सस्कृत्य ।

भुक्त्वा यावन्मासं त्यक्ष्यसि चर्मास्थिशेषित मत्स्यम् ॥७३४॥

हाथों में आए हुए उसे मिर्च-मसाला से तल कर मास के पूरे अंश को खाकर चमड़ी और हड्डी को शेष करके छोड़ देना ॥७३४॥

शृणु सुश्रोणि यथास्मिन्कमलेश्वरपादमूलमजर्या ।

प्रवराचार्यंदुहिना राजसुतश्चवितश्च मुक्तश्च ॥७३५॥

हे सुन्दर मध्यभाग वाली, सुन, जैसा कि यहाँ (चाराणसी में) प्रवराचार्य की लड़की और कमलेश्वर पाद स्वामी से पैदा हुई मञ्जरी ने राजपुत्र को चरा करके छोड़ दिया ॥७३५॥

आसोच्छ्रीसिंहभटो नाम्ना नृपतिमंहीयसा श्रेष्ठः ।

तस्यात्मजोऽधितस्यौ निवेशनं देवराष्ट्रसम्बद्धम् ॥७३६॥

मञ्जरी का आख्यान

‘इहे राजाश्रो में अश्री श्री सिंह भट नाथ का राजा का, उसका पुत्र (समरम) देवराष्ट्र (प्राचीन महाराष्ट्र) के अन्तर्गत निवास करता था ॥७३६॥

स कदाचिद्वृषभध्वजदिदक्षया परिमिताप्तपरिवारः ।

अनुवर्तमान आगात्तारुप्योदीर्णवेशचरितानि ॥७३७॥

यौवन के उचित वेष और आचरण का अनुवर्तन करता हुआ वह किसी

समय काशी विश्वनाथ के दर्शन की इच्छा से थोड़े से परिजनों के साथ यहाँ आया ॥७३७॥

मूर्धन्निभागसंस्थितवृहदम्बरचौरकेशसंयमनः ।

अल्पाच्छगात्ररागो घनकुंकुमलिप्तकर्णकेशाग्रः ॥७३८॥

वह अपने माथे पर तीन भागों में कटाबदार बधी हुई पगड़ी धारण किए था। उसके शरीर की लाली हल्की और अच्छी थी। उसने कान के समीप केश के अग्रभाग को गाढ़े कुंकुम राग से रंग लिया था ॥७३८॥

सिद्धार्थबीजदन्तुरललाटतिलकोपयुक्तताम्बूलः ।

श्रवणनिवेशितकुण्डलटिट्टिभकप्रायकन्धराभरणः ॥७३९॥

उसके ललाट पर सफेद सरसों चिपके हुए थे जो तिलक का काम देते थे। वह पान खाए था। उसके कानों में कुण्डल और गले में, 'टिट्टिभक' नाम का अलंकार था ॥७३९॥

केयूरस्थानगत सुवर्णमृतमन्त्रगर्भजतुगुडकः ।

मणिबन्धनविन्यस्तप्रबलांकुरजातरूप मणिमालः ॥७४०॥

केयूर के स्थान में उसने सोने के पत्र से यंत्र डाल कर मढ़े लाह की गुटिका पहन रखी थी और हाथ की कलाइयों में चर्मक करती हुई सोने की माला डाल रखी थी ॥७४०॥

धृतवेत्रदण्डकूर्चकपरिवेष्टितसासिधेनु खड्गश्च ।

मृदुतरपटिकावरणः शब्दोल्वणलुच्चुवाकचरणत्रः ॥७४१॥

उसके हाथ में बेंत का माघेदार डंडा था, कटि बंध में हुरी और तलवार थी। शरीर का बल बढ़ा हल्का था और जूते जोर से चरमराने की आवाज करते थे ॥७४१॥

गम्भीरेश्वरदास्यां लग्नः किल तव वयस्यको धीर ।

प्राप्स्यति सापि दुराशा वर्षत्रितयेन यन्मया प्राप्तम् ॥७४२॥

मेरा निपुण परिजन मार्ग से भीड़ हटा रहे थे। वहाँ बिट और चेटियाँ मरी थी। उनके बीच से जाते हुए समरमट ने उनसे ये शर्तें सुनी—

(किसी गणिका की बिट के प्रति उक्ति) 'तैरा माथी नीर गम्भीरेश्वर

दासी^१ में ग्रासक्त है, दुराशा वह भी तीन वषों में जो मने पाया है वही पायेगी' ॥७४२॥

दर्शयति दिशः फलिता अमृतगर्भास्त करेऽवतारयति ।

सुरदेवि चन्द्रवर्मा निर्वस्तुकवाक्प्रपंचेन ॥७४३॥

(मिसी विट की वाचालता के सम्बन्ध में गणिना की उक्ति) 'सुरदेवि, चन्द्रवर्मा नाम मा विट अपनी व्यर्थ के वाक्प्रपंच से दिशाओं को लामों से भरी बनाता है और अमृत की निरखों वाले चन्द्र को हाथ में उतारता है' ॥७४३॥

त्वामनुयान्तं सम्प्रति पश्यामि कुरंगिकेऽत्र वसुशेषम् ।

सुनिरूपिता भविष्यसि विपमा गुडजिह्विका तस्य ॥७४४॥

(मिसी गणिना भी विट का अनुगमन करती हुई मिसी गणिका के प्रति उक्ति) 'कुरङ्ग, इन दिनों तुम्हें वसुशेष के पीछे चलती देख रही हूँ । बाद में उसकी मिठासमरी टेढ़ी जीभ का तुम्हें पता चलेगा ॥७४४॥

चर्चयति जलं योऽसौ हरिणि हतो धूर्तताभिमानेन ।

लिखति शत दशवृद्ध्या स निमज्जति तरलिकावर्ते ॥७४५॥

(गणिना के फेर में पड़े वज्रक के सम्बन्ध में शरी के प्रति गणिना की उक्ति) 'हरिणि, अपने धूर्त होने के अभिमान से जो यह प्रत्येक को ठगता रहता है—एक सौ वर्ज दे कर (अग्ने स्वाते में) उसका दसगुना करके दर्ज करता है, वह अत्र (मायाविनी) तरलिका के चपेट में पड़ गया है' ॥७४५॥

गृह्णासि यत्पटान्ते मम पश्यत एव नन्द मदिराक्षीम् ।

अत आवयोरवश्य मा वदयसि नोक्तमंतर भवति ॥७४६॥

(कोई विट अपने साथी की असावधानी को लेकर उसका तिरस्कार

१—काशी स्थित गम्भीरेश्वर के मन्दिर की देवदासी । सम्भवतः यह मन्दिर आज भी काशी में सिधिया घाट के उपर विद्यमान है । प्रार्थनाशाल में देवमन्दिरों में नृत्य गाने के लिए युवति शिष्यों वंश पर नियुक्त की जाती थीं और 'देवदासी' कहलाने थीं । यह प्रथा आगे चलकर एक सामाजिक कुत्सा बन जाने के कारण पन्द कर दी गई । दक्षिण के मन्दिरों में कुछ भरा में यह प्रथा अब भी प्रचलित है ।

करता है) 'मूर्ख, मेरे देखते ही जो तू मदिराची का आचल खींचता है तो हम दोनों को न कहना । हृदय (का भाव) कहा नहीं जाता ॥७४६॥

योज्यं गृहीतवृषिकः कुशकणीं विधृतदण्डकापाय ।

लोकस्पर्शाशिकी कृतापसारो विलोकयन्पाश्वरौ ॥७४७॥

(कोई गणिका किसी साधु के आचारों से उसके घनावटी होने का अनुमान करके अपने मनोरथ की सिद्धि का निर्धारण करते हुए कहती है) हे कुमुदिनि, यह जो बगल में ग्रासन लिए, कानों में कुश लगाए, दण्ड और कापाय बसन धारण किए, लोगों के छू जाने के डर से उन्हें हटाता, बगल में इधर-उधर देखता ॥७४७॥

कुर्वाणो मौनव्रतमुत्पादितसकलवैष्णवश्रद्धः । -

हरिशासनं प्रपन्नस्त्रिपुरान्तकदर्शनापदेशेन ॥७४८॥

मौन व्रत धारण करता, विष्णुभक्तों के मन में श्रद्धा की भावना उत्पन्न करता, (नारद पञ्चरान आदि) वैष्णव शास्त्रों की शरण में प्रपन्न, शिवजी के दर्शन के बहाने ॥७४८॥

स्त्रैणं पश्यति युक्त्या साकांक्षं वजितान्यजनदृष्टिः ।

कुमुदिनि मम हृदयगतं भवितव्यं व्याजलिगिनानेन ॥७४९॥

युक्ति से दूसरे लोगों की आँखें बचा कर औरतों को हसरत भरी निगाह से देखता है, इस हेतु मेरा हृदय कहता है यह दोगी साधु होगा' ॥७४९॥

पश्यत्यदृश्यमानो निरीक्षितो वीक्षते परा ककुभम् ।

ब्रूते किञ्चित्सस्पृहमभियुक्तो भवति कोलितध्वानः ॥७५०॥

(वेश्वा द्वारा जड कामुक का वर्णन) 'इस तरह (हमें) देखता है कि जब उसे कोई (देखते) न देख ले । लोगों की आँखें जब उस पर रहती हैं तब वह अन्य दिशा को देखने लगता है, कुछ भी सस्पृह होकर बोलता है और पूछने पर उसकी आवाज रुंध जाती है ॥७५०॥

न जहाति समासन्नं नोत्सहते पार्श्वगोचरे स्थातुम् ।

एष मनुष्यो मन्ये निष्प्रतिभः सामिलापश्च ॥७५१॥

नजदीक स्थान छोड़ता नहीं और पास में रहने का साहस नहीं करता, मुझे लगता है यह आदमी बोदा और चाहने वाला है' ॥७५१॥

तेऽस्तीताः खलु दिवसा क्रियते नमं त्वया समं येषु ।

अधुनाचार्याणो त्वं पाशुपताचार्यसम्बन्धात् ॥७५२॥

(कोई अपनी गणिका द्वारा धनान् प्रेमी के मिल जाने के बाद उपेक्षित हुआ उसके प्रति ईर्ष्या-वश कहता है) 'यि दिन अथ नहीं रहे जब तेरे साथ हंसी-मजाक करते थे । अथ तो पाशुपताचार्य की सद्गति से तू भी 'आचारिन' बन गई है' ॥७५२॥

भ्रमसि यथेष्टं तावत्कुर्वाणो युवतिपल्लवग्रहणम् ।

लोलिकदास न यावन्नरदेवीपाशिकां विशसि ॥७५३॥

(शठ सेवक के प्रति गणिका की उक्ति) 'लोलिकदास, जब तक नरदेवी के पास मैं नहीं फँस जाता तब तक जबान औरतों का पल्ला पकड़ते हुए अपने मन से तू घूमता रहता है' ॥७५३॥

एवंप्रकारवाक्यप्रसक्तविटचेटिकासमाकीर्णम् ।

सेवाचतुरपुरःसरं विजनीकृतवत्संदेवकुलम् ॥७५४॥

(सेवा निपुण परिजनों द्वारा आगे-आगे मार्ग में भीड़ हटायी जाने पर विटो और चेटिकाओं से भरे मन्दिर की ओर जाते हुए उसने इस प्रकार उन लोगों की बातचीत सुनी) ॥७५४॥

जत्पादितहरपूजो निष्ठुरयाष्टीकनियमिते लोके ।

त्वरितनियोगिस्त्यापितमासनमध्यास्त समरभटः ॥७५५॥

विश्वनाथ जी की पूजा करके, फड़े दिल वाले लठैतों द्वारा लोगों के रोऊ दिए जाने पर समरभट भृत्यों द्वारा शीघ्र ही रणे हुए आसन पर बैठ गया ॥७५५॥

अग्रोपविष्टनतंकवांशिकगातृप्रकाशयुवतिगणः ।

श्रेष्ठिप्रमुखवणिग्जनडीवितताम्बूलकुमुदपट्टवासः ॥७५६॥

उसके आगे नानने वाली, यशो यशाने वाली, गाने वाली तथा बेरत औरतों (प्रकाशयुगलियों, पेश्याओं) का गनूद बैठा । फिर गेटों और मद्दजनों ने उगे पान, फूल और परनाथ (दन्दी और चायन का सुगन्धित नून) उतरार में धारित किया ॥७५६॥

विविधविलेपनखरटितचक्रकवरखङ्गधारिणाशून्यः ।

पृष्ठत आत्तकृपाणैः शिरोभिरक्षैश्च विश्वस्तैः ॥७५७॥

उसके पास नाना प्रकार की चित्रकारी किए चक्रक धारी (चक्राकार ढाल धारण करने वाले) और तलवारधारी पुरुष विद्यमान थे। पीछे की ओर कृपाण लिए विश्वस्त अंगरक्षक खड़े थे ॥७५७॥

ताम्बूलकरंकमृता सन्दंशगृहीतवीटिकाग्रहणे ।

ईपत्स्पृष्टं कुर्वन्मन्दं खटकामुखेन वामेन ॥७५८॥

जब ताम्बूलकरङ्कवाहक पुरुष ने संदश के प्रकार से पान के बीड़े को पकड़ा तब उसने उसने अपने बायें हाथ के खटकामुख के प्रकार से थोड़ा सर्श करते हुए ताम्बूल ग्रहण किया ॥७५८॥

पार्श्वविस्थितनमंप्रियसचिवन्यस्तपूर्वतनुभागः ।

पप्रच्छ कुशलवार्तां स वणिग्जननर्तकप्रमृतीन् ॥७५९॥

उसने अपने बगल में बैठे परिहास-प्रेमी मित्र की ओर शरीर का ऊपरी अर्ध भाग झुका लिया और बनिये तथा नर्तक प्रभृति से कुशल-समाचार पूछने लगा ॥७५९॥

अथ वैतालिक उच्चैरुपसंहृतलोककलकले धीरम् ।

अभितुष्टाव तमित्यं प्रसन्नगम्भीरया वाचा ॥७६०॥

अनन्तर वैतालिक^२ ने, जब लोगों का कोलाहल खत्म हो गया तब उसे

१—हाथ से किसी वस्तु को पकड़ने की नृत्यशालीन मुद्राओं में 'संदश' और 'खटकामुख' का उल्लेख अभिनयशास्त्र के ग्रंथों में आता है। प्रस्तुत में ताम्बूल-करंक वाहक पुरुष ने 'संदश' हस्त से ताम्बूल अर्पित किया और 'खटकामुख' हस्त से राजा ने उसे ग्रहण किया। योग टीकाकार ने इसके विपरीत अर्थ किया है, जो यथावस्थित आयां में संगत नहीं बैठता। 'संदश' हस्त (अर्थात् सदमीनुमा हाथ की मुद्रा) जब तर्जनी और अङ्गुष्ठ के अग्रभाग का संयोग होता है तब नीचे वाला और बीच वाला हिस्सा टेढ़ा नहीं होता ऐसी स्थिति में यह मुद्रा 'संदशहस्त' कहलाती है। खटकामुख—जब तर्जनी और मध्यमा का योग किसी वस्तु को पकड़ने के लिए होता है और उसमें अनामिका का योग होता है ऐसी स्थिति में यह मुद्रा 'खटकामुख' कहलाती है।

२—वैतालिक—स्तुतिपाठक, स्नायक पुरुष। जो समय समय पर राजाओं का गुण-गान करते हैं। उनका लक्षण शारदानयन लिएते हैं—

तत्पत्प्रहरकयोग्यै रागैस्तत्कालवाचिभिः रलोकैः ।

सरभसमेव वितालं गायन् वैतालिको भवति ॥ (भाष्यप्रकाश)

मिलकुल साफ, गम्भीर तथा ऊँची आवाज में धीर स्वभाव वाले उस राजपुत्र की इस प्रकार स्तुति की ॥७६०॥

जय देव परवलान्तक गुरुवरणाराधनैक कृतचित्त ।

वरवनिताजघनासन दारिद्र्यघतम.प्रचण्डकर ज्वाल ॥७६१॥

देव आपकी जय हो, आप शत्रु सेना को नष्ट कर देने वाले हैं, गुरुजनों की सेवा में आपका चित्त लगा रहता है, श्रेष्ठ वनिताजन को आप मोहित करने वाले हैं, दारिद्र्यरुपी ग्रन्थकार के निवारण करने वाले आप सूर्य हैं ॥७६१॥

रणवीरवंशभूषण गुरुवसुधादेवपूजनप्रह्व ।

शरणागताभयप्रद हितवान्धवबन्धुजीवमध्याह्न ॥७६२॥

रणवीर नायक अपने कुलपुरुष के वंश के आप भूषण हैं, गुरुजनों और ब्राह्मणों की पूजा में नम्रभाव के युक्त हैं, शरण में आए जनों के आप अभय प्रदान करने वाले हैं, दित्तजनों, बन्धु-बान्धवों और बन्धुजीव पुण्या के आप मध्याह्न और पोषणकर्ता हैं ॥७६२॥

ईदृक्प्रतापदहनो भावत्को व्याप्तगगनदिक्चक्रः ।

दृष्टो जलायमानो रिपुवनितातिलकशोभासु ॥७६३॥

उस प्रकार आकाश और दिक्चक्रमाल में व्याप्त आपकी प्रतापग्नि शत्रु-वनिताओं के तिलक की शोभा में जल हो जाती है (क्योंकि जल के द्वारा ही शत्रु वनिताएँ अपने पति के मारे जाने पर अपने माथे के तिलक धो देती हैं) ॥७६३॥

एष विशेष स्पष्टो बल्लेश्च त्वत्प्रतापबल्लेश्च ।

अकुरति तेन दग्ध दग्धस्यानेन नोद्भ्रवी भूय ॥७६४॥

अग्नि और गुम्हारी प्रतापग्नि इन दोनों में यह स्पष्ट भेद दिखाई देता है कि अग्नि से जला हुआ फिर अकुरित हो जाता है और गुम्हारी प्रतापग्नि से जले हुए का उद्भव फिर नहीं होता ॥७६४॥

श्रीफलभुक्पन्नवृतो विग्रहरसिको विमुक्तगस्त्ररतिः ।

राजस्थिति न मुंचति हृतलक्ष्मोकोऽपि तव विपक्षगण ॥७६५॥

गुम्हारे शत्रु राग्यलक्ष्मी के हर लिए जाने पर भी भी के फल का भोग

करते हैं (श्लेष—वन में जाकर शीपल अर्थात् बिल्वफल का भोजन करते हैं), पत्र अर्थात् वाहनों से धिरे रहते हैं (श्लेष—पत्र अर्थात् पत्तों से अपने शरीर को ढके रहते हैं), विग्रह अर्थात् युद्ध के रसिक हैं (श्लेष—विग्रह अर्थात् शरीर के रसिक हैं, शरीर को निरन्तर भ्रम से दृढ़ बनाते हैं), शस्त्र का अनुराग छोड़ बैठे हैं (अब शस्त्र उनके लिए व्यर्थ हैं) इस प्रकार अब वे राज्य की मर्यादा नहीं छोड़ रहे हैं ॥७६५॥

ददतो वाञ्छितमर्थं सदानुरक्तस्य तव गृहं त्यक्त्वा ।

स्त्रीचापलेन कीर्तिर्नगनासक्ता गता ककुभः ॥७६६॥

जबकि तुम मनचाहो चीजें देते हो और अनुराग करते हो तब भी स्त्री जाति की स्वामाविक चपलता के कारण कीर्ति नग्न (नग, श्लेष से बंदी जन) पुरुषों में आसक्त होकर दिशाओं में चली गई^१ ॥७६६॥

भवतो भवतो धैर्यं तेन हि भिन्नोऽन्धको रिपुः प्रणतः ।

मुक्तास्त्वया हि बहवो रिपवस्तु प्रेक्षकाः समरे ॥७६७॥

आपका धैर्य शिवजी से भी अधिक है, क्योंकि उन्होंने नम्रीभूत अन्धका-गुरु को गारा और आपने युद्ध में देखने वाले बहुत से शत्रुओं को भी मुक्त (मुक्ति को प्राप्त) कर दिया ॥७६७॥

अटता धात्रीमखिलामिदमाश्रयं मया परं दृष्टम् ।

घनदोऽपि नयननन्दन परिहरसि यदुग्रसम्पर्कम् ॥७६८॥

मैंने सारी धरती पर भ्रमण करते हुए एक आश्चर्य देता कि हे आखी को आनन्द देने वाले, तुम 'घनद' (कुंभेर) होकर भी 'उग्र' (शिवजी) का सम्पर्क त्याग करते हो (परिहार यह कि घन देने वाले होकर भी उग्र या अभिमानी जनों का सम्पर्क त्याग करते हो) ॥७६८॥

इदमपरमदभुतम युवतिसहस्रैर्विलुप्यमानस्य ।

वृद्धिर्भवति न हानिर्यत्तव सौभाग्यकोपस्य ॥७६९॥

दूसरा परम आश्चर्य यह है कि हजारों युवतियाँ तुम्हारे सौभाग्य के रजाने को लूटा करती हैं तथापि उसकी वृद्धि ही होती है हानि नहीं ॥७६९॥

१—कीर्ति का नग्न दरिद्र पुरुषों में आसक्त होकर दिशाओं में बला जाना व्याजस्तुति है, अर्थात् तुम्हारी कीर्ति को बंदीजन या स्तुति पाठ करने वाले लोग दिग्गन्त में जा-जाकर प्रसारित करते हैं ।

अपरं विस्मयजननं धवलत्वं नापयाति यद्भवतः ।

ललनालोचनकुवलयदलत्विपा शवलितस्यापि ॥७७०॥

✓ आश्चर्य यह भी होता है कि ललनाग्रों के कुवलय दलों की कान्ति से मिश्रित होने पर भी आपकी धवलिमा (सफेदी) नहीं जाती ॥७७०॥

हृदयेषु कामिनीनामेकोऽनेकेषु वससि येन त्वम् ।

जनक कुसुमास्त्रपाणे. पुहपोत्तम तेन विश्वरूपोऽसि ॥७७१॥

जिस कारण एक हीतर भी अनेक कामिनियों के हृदयों में रहते हो उसी कारण हे पुहपोत्तम, फूल के चाण धारण करने वाले कामदेव की उत्पन्न करने वाले तुम विश्वरूप (नारायण) हो ॥७७१॥

किं वहसि वृथा गर्वं प्रियोऽहमिति योपितां नराधीश ।

कांक्षन्ति स्म मुरारि पौड्रगोपीसहस्राणि ॥७७२॥

हे नराधीश, स्त्रियों का मैं प्रिय हूँ यह धर्य गर्व धारण करते हो, मुर के शत्रु धीरुश को सोलह हजार गोपियाँ चाहती थीं ॥७७२॥

कार्पण्येन ययाचे मखसमये यो बालि हृपीकेशः ।

न स भवति समो भवता दानैकनिपणहृदयेन ॥७७३॥ ✓

जिस हृपीकेश अर्थात् विष्णु ने दीन भाव प्रकट करके यज्ञमाल में राजा बलि से याचना की, वह एक मात्र दान करने में जिसका हृदय स्थिर है ऐसे आपके समान नहीं हैं ॥७७३॥

भूमिमृतामुपरिस्थित उन्नतये सकलजीवलोफस्य ।

तृष्णासंतापहरो मेघ इव कदा न दक्षस्त्वम् ॥७७४॥

उपमत्त जीवलोफ की उन्नति के लिये भूमिमृत् अर्थात् राजाश्री (श्लेष से

१—कामदेव के उत्पन्न करने वाले, नारायण, पृथ में जनक का पिता और रामपुत्र के पृथ में कामोदीपक। अर्थात् पुहपोत्तम धीरुश प्रद्युम्न के जनक पृथ पृथके हृदय में रहने के कारण 'विरवरूप' बन्दे जाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति ।

गीता

अथवा ममस्त गोपियों के हृदय में ममत्त रूप में निवास करते हैं। यह राम-पुत्र पृथों में उत्तम है और कामिनियों के मदन से उदीपित करने वाला है पृथ ममस्त कामिनियों के मन में अधिकार कर लेने के कारण 'विरवरूप' बन्दा गया।

पर्वतों) के ऊपर स्थित रहने वाले, सन्ताप को शमन करने वाले एवं वर्षण करने में निपुण आप मेह के समान देखे जाते हैं ॥७७४॥

बहुमार्गो भङ्गयुतः कुसृतिपरो गोत्रभेदकरणपटुः ।

गंगाजल प्रवाहः पूज्यदिशा केवलं तव समानः ॥७७५॥

पुण्य के कारण ही गङ्गाजल का प्रवाह तुम्हारे समान है, क्योंकि तुम बहुमार्ग (बहुत प्रकार के मार्ग या व्यवहार-रीतियों वाले) हो और वह अनेक मार्गों से चलता है, तुम भद्रयुत (सुवर्ण से युक्त) हो और वह भद्र अर्थात् कल्याण से युक्त है, तुम कुसृतिपर हो अर्थात् धोखा भड़ी करने वाले कुटिल लोगों के प्रति शठता की नीति अपनाते हो और वह टेढ़े-मेढ़े मार्ग में प्रवाहित है, तुम गोत्रभेद अर्थात् अपने को कुछ अन्य कुलों से विशिष्ट करने में निपुण हो और वह गोत्रभेद अर्थात् पर्वतों को भेदन के कार्य में समर्थ है ॥७७५॥

दुर्व्यवहारोत्पत्तिमैगिध्यप्रसरो येन विवेकितावसतिः ।

एकस्त्वं दीपज्ञः कृतीकृतो येन कलिकालः ॥७७६॥

दोषों को जान कर उनके निवारण करने वाले अकेले आपने कलिकाल को, जिसमें दुर्व्यवहारों की उत्पत्ति होती है, मूढ़ता से जो भरा रहता है और जो अविवेक वाला है, कृतयुग (सत्ययुग) बना दिया है जिसमें दुःख से (राजस) व्यवहारों की उत्पत्ति होती है, जिसमें निष्फण्ट भाव होता है और जो विवेक से युक्त होता है ॥७७६॥

सुगतोऽपि नाजिविमुखो वृषध्वजोऽपि न विपादितायुक्तः ।

उद्यतशस्त्रोऽपि रिपौ कथमसि सन्नासिको जातः ॥७७७॥

आप कैसे सुगत (बुद्ध) होकर भी सुद्ध से विमुख नहीं हैं और वृषध्वज (शिव) होकर भी कैसे विपादिता (विषभक्षण की प्रवृत्ति) से युक्त नहीं हैं, शत्रु के प्रति उद्यतशस्त्र होकर भी कैसे सन्नासिक (इसे हनु-शसि अर्थात् क्षण्य वाले) हैं ? ॥७७७॥

सन्मणिरनेकभोगो गुरुभारसहः स्थिरात्मतास्थानम् ।

नरदेव चित्रमेतच्चदशोपगुणैस्त्वमारिलष्टः ॥७७८॥

हे नरदेव, सन्मणि (सन्जनों में भेष्ट ; फलों पर मणि धारण करने वाले) अनेक भोग (बहुविध सुख भोगने वाले ; हजार फलों वाले) गुरुभारसह

(पृथ्वी के पालन या धारण रूप कार्य करने वाले) धैर्य (या स्थैर्य) के पात्र तुम, आश्चर्य तो यह होता है कि इस प्रकार शेष अर्थात् सर्पराज, के गुणों से युक्त होकर भी अशेष गुणों से युक्त हो (अर्थात् शेष या सर्पराज के गुण तुममें नहीं हैं, परिहार यह कि सारे गुण तुममें विद्यमान हैं) ॥७७८॥

प्रकृतिलघोर्येन कृता जघन्यवर्णस्य गौरवापत्तिः ।।

जघनचपला यदार्या स पिङ्गलस्ते कयं तुल्यः ॥७७९॥

छन्दःशास्त्र के रचयिता यह पिङ्गलाचार्य कैसे तुम्हारे सदृश हैं ? जिन्होंने प्रकृतिलघु (स्वभाव से ही छोटे, हीन जाति वाले) जघन्य (अन्तिम, निम्न) वर्ण (अक्षर, माहाद्य आदि वर्णों में शब्द) को गौरव (गुरुता, उत्कर्ष) प्राप्त कराया है तथा जघन-चपला (इस नाम का एक आर्या छन्द, व्यभिचारिणी स्त्री, जो अपने जघन से चपल है) को जो आर्या (छन्द, सच्चरिता नारी) माना है ॥७७९॥

यस्य न जातिर्नात्मा नार्यंज्ञानं न मानसे प्रशमः ।

भवसि भवसागररत्नं तेनाद्वयवादिना सदृशः ॥७८०॥ -

जिसकी तुम जाति या बान्धव नहीं हो ? जिसकी आत्मा (अर्थात् अपने आदमी) नहीं हो ? धन के लिए किसके तुम ज्ञान के विषय नहीं ? और शक्ति-मान तुम किसके हृदय में निवास नहीं करते हो ? इस प्रकार तुम ससार के शरभूत रत्न होकर अद्वयवादी अर्थात् त्रिशानामेद (त्रिशान के अतिरिक्त सबको मिथ्या) कहने वाले बुद्ध के द्वारा उपमेय नहीं हो ॥७८०॥

तत्रापि वृद्धियोगस्तस्मिन्नपि पुरुषगुणगणस्यातिः ।

परिभाषा तत्रापि व्याकरणान्नातिरिच्यसे तेन ॥७८१॥

उस व्याकरणशास्त्र में भी वृद्धि का योग है, वहाँ भी पुरुष के गुणगणों की रूपाति है, परिभाषा वहाँ भी है, इस लिए तुम व्याकरण शास्त्र से अतिरिक्त नहीं हो ॥७८१॥

निर्व्याजस्तवनोऽपि त्यक्ताक्षेपोऽपि निरुपमानोऽपि ।

सद्रूपकजतिगुणैर्नाय त्वं गामलंकुर्ये ॥७८२॥

भ्यागपूर्व्यं स्याति से रदित होकर भी आक्षेप (अर्थात् मिथ्यानिन्दा) को

छोड़ कर भी, उपमान शून्य होकर भी हे नाथ तुम अपने सद्वृत्त (अर्थात् रोमन रूप) और जाति के गुणों से पृथ्वी को अलङ्कृत करते हो १ ॥७८२॥

अन्यैव वर्णनैषा भवत्सु लोकान्तरास्थिता कापि ।

वामो यथैव शत्रुषु मित्रेषु तथैव वामोऽसि ॥७८३॥

यह तुम्हारा गुण वर्णन कुछ और ही लोकोत्तर है जैसा कि तुम जिस प्रकार शत्रुओं के सम्बन्ध में वाम (प्रतिकूल) हो उसी प्रकार मित्रों के सम्बन्ध में वाम (सुन्दर) हो ॥७८३॥

पूजयसि येन गुरुजनमभिनन्दसि येन साधुचरितानि ।

प्रीणयसि येन विप्रानृपनन्दन तेन तेन वृषलस्त्वम् ॥७८४॥

जिस कारण अपने गुरुजन की सेवा करते हो, जिस कारण सत्कार्यों का अभिनन्दन करते हो और जिस कारण ब्राह्मणों को प्रसन्न करते हो, हे नृप-नन्दन, उस कारण वृषभ (धर्म अथवा श्रेष्ठ) हो ॥७८४॥

दैन्यमिदं यच्छ्लाघा क्रियते ते रक्षसापि न समस्य ।

न सबलमकरोद्योपिति भवांस्तु भुंक्ते प्रसह्यरिपुलक्ष्मीम् ॥७८५॥

यह दयनीयता की बात है कि तुम जो कि राक्षस के भी समान नहीं हो, फिर भी तुम्हारी प्रशंसा की जा रही है, क्योंकि उस राक्षस ने नारी सीता पर अपना बलाचरण नहीं किया और तुम शत्रु की लक्ष्मी का हठपूर्वक उपभोग करते हो ॥७८५॥

लावणिकाचाटुवचस्तवनं यत्लाभहेतुरस्माकम् ।

तत्पतति ते स्वरूपे यामि नमः संतु सौख्यानि ॥७८६॥

हे रमणीय चाटुपूर्ण वचनों द्वारा स्तुति करना जोकि हम लोगों के लिए प्राप्ति या लाभ का हेतु होता है यह तो तुम्हारे स्वरूप के साथ संगत हो जाता है, अतः जाता हूँ, तुम्हें प्रणाम, तुम्हारे सुख हों ॥७८६॥

१—यहाँ श्लेष के प्रकार से कवि ने व्याजस्तुति, आक्षेप, रूपक आदि अलङ्कारों का उल्लेख किया है।

श्रुत्वानन्तरमवदद्वन्द्विनमभिनन्द्य साधुवादेन ।

आस्त्व किमाकुलता ते यास्यसि तुष्टो मया प्रहितः ॥७८७॥

तब मुन कर उसने चैतालिक को 'साधु' 'साधु' कह कर अभिनन्दन किया और कहा—ठहरो, इतनी तुम्हें इड़इड़ी क्या है ? मेरे द्वारा सन्तुष्ट करके भेजे जाने पर जाना ॥७८७॥

पुनरपि पठ तद्युगलं गीतिकयोयंत्युरा पठितम् ।

कक्षांतरितेन मम स्थितस्य कुलपुत्रिकावासे ॥७८८॥

जब मैं कुल पुत्रिकावास में कक्ष के भीतर बैठा था उस समय जिन दो गीतिकार्यों को तुमने पढ़ा था उन्हें फिर पढ़ दो ॥७८८॥

त्वयि वदति साधुवादं वागियमुन्मुद्रिता बुधसमाजे ।

अभिधायेति पपाठ त्रिस्त्रायनविशुद्धनादेन ॥७८९॥

'तुम्हारे द्वारा साधुवाद किए जाने पर मेरी यह वाणी बिलकुल उल्लसित हो उठी है' यह कह कर उसने उर, कण्ठ और सिर के स्थान से निशुद्ध आवाज में पाठ किया ॥७८९॥

एका खण्डनकुपिता विरसान्या प्रणयभंगवैलक्ष्यात् ।

काचिन्निकटतरासनमप्राप्य विभर्ति निर्वेदम् ॥७९०॥

'एक सुन्दरी अपने तिरस्कार (खण्डन) से कुपित हो गई है, वृषी प्रणय के भङ्ग हो जाने के कारण लज्जा से छट है, कोई बिलकुल अपने समीप आसन न पाकर जेद अनुभव करती है ॥७९०॥

अन्या कलहान्तरिता नवपरिणयलज्जयापरा सहिता ।

रमणीगणमध्यगतः स्मरातुरः किं करोतु बहुजानिः ॥७९१॥

कोई पति को अपमानित करके पीछे पछता रही है, कोई नई शारी से लज्जाई हुई है, रमणियों के बीच पड़ा बहुत पत्नियों वाला कामातुर क्या करे ? ॥७९१॥

अभ्युपत्यवधोद्यकमस्तकचलनं विधाय विकृतभ्रूः ।

नृत्याचार्यमवादीदेतस्मिन्किं सुमंगीतम् ॥७९२॥

अनुभव का प्यक शिष्टचालन कर, भौं उठाने यह नृत्याचार्य से बोला, 'अब क्या संगीत होगा ? ॥७९२॥

स उवाच ततो वणिजो नेतारो यत्र यत्र पान्नाणि ।
शाठ्यातन दास्यस्तत्र कुतः सौष्ठव नाट्ये ॥७६३॥

तब उसने कहा, 'जहाँ वनिये नेता हों, जहाँ शठता के निवास-स्थान दासिया पान हों वहाँ नाट्य में कहा से अच्छाई होगी ? ॥७६३॥

काचिद्वलिनाक्रान्ता काचिन्न जहाति कामिनं रुचिरम् ।
अन्या पानकगोष्ठ्या नयति दिन प्रीतकैः सार्धम् ॥७६४॥

किसी पर बलशाली पुरुष उवार है, कोई मगभाये कागुरु को नहीं छोड़ती तो कोई प्रेमियों के साथ पान-गोठों में दिन बिताती है ॥७६४॥

नोत्सृजति सततमेका पुरुपागमनाशया गृहद्वारम् ।
शूलापालः कथयति लब्धोत्कोचो रजस्वलामपराम् ॥७६५॥

कोई हमेशा पुरुष के आने की आशा से घर का दरवाजा नहीं छोड़ती ।
वेश्याध्यक्ष^१ घूस पाकर दूसरी को रजस्वला कह देता है ॥७६५॥

रगगतापि क्षुद्रा शृणोति यदि परिचित गृहायातम् ।
उद्दिश्य चापि कार्यं व्रजति ततः प्रकृतमुत्सृज्य ॥७६६॥

रङ्गभूमि में पहुँची हुई भी क्षुद्रा वेश्या जब यह सुनती है कि उसके घर कोई परिचित आदमी पहुँचा है तब कार्य का उद्देश्य करके प्रस्तुत कार्य छोड़ कर चल देती है ॥७६६॥

आतारुण्योद्भेदात्कान्ते दृष्टियंया न्यस्ता ।
सामाजिकमध्वस्था सा कथमन्यासु याति परभागम् ॥७६७॥

जिसने जीवन के पिलते ही अपने सुन्दर प्रिय में आँखें डाली हैं वह सामाजिकों के बीच आरंभ कैसे अधिक शोभा को प्राप्त करेगी ? ॥७६७॥

१—वेश्याध्यक्ष—यह एक घेरा-जीवन का प्रधान वसंचारी होता था जो घेरया के नृत्य आदि के सम्बन्ध की पूरी सँवारी करता था । कुट्टनीमत के ६८ वें श्लोक में इसे ही 'शूलापाल' कहा है—

शूलापालस्यापितकृतिपयप्रद्वोरुपीठिफ्रसीनः

चेतोवशिता सत्त्वं सत्त्वे सति चारुता प्रयोगस्य ।

न भवति सा वेश्यानामत्पापि पुरुषहतहृदयानाम् ॥७६८॥

मन के बिना सत्त्वल नहीं होता, सत्त्व के होने पर अभिनय की चारुता होती है, और वह अभिनय की चारुता शराव, मांस और पुरुष में दिल लगाने वाली वेश्याओं को नहीं होती ॥७६८॥

वयमपि देवनिकेतनमनङ्गहर्षे गते त्रिदशलोकम् ।

आश्रितवंतोजगत्या तीर्थस्थानानुरोधेन ॥७६९॥

हम लोग भी महाराज अनङ्गहर्ष^१ के स्वर्ग सिंघारने पर इसके तीर्थस्थान होने के कारण और दूसरी राह न होने से यहाँ बस गये हैं ॥७६९॥

इह तु कदाचित्किंचिद्वृत्तिनिरोधाभिशंकया निरुत्साहाः ।

रत्नावल्यामेता विदधति करपादविक्षेपम् ॥८००॥

यहाँ कभी-कभी तो निरुत्साह ये वेश्यायें कुछ जीविका के रत्न हो जाने के डर से 'रत्नावली' (हर्षदेव रचित नाटिका) के अभिनय में हाथ-पैर का विक्षेप कर देती हैं ॥८००॥

वत्सेशभूमिकास्या इयमनुकुस्ते नरेश्वरवयस्यम् ।

वासवदत्ताचरितप्रयोगमेवा विडम्बयति ॥८०१॥

वत्सेराज की भूमिका इसकी होती है, यह उसके नर्मरसचिच का अनुकरण करती है, यह वासवदत्ता के चरित का अभिनय करती है ॥८०१॥

उद्यमसाहित्यवशाच्छोभातिशयेन मदनवन्द्येन ।

अनया प्रसिद्धिराप्ता सिंहलराजात्मजानुकृतौ ॥८०२॥

शोभा के उत्कर्ष के सहित उद्यम के मदनवन्द के कारण एव मेरी प्रेरणा

यहाँ का प्रयोग है कि रत्नावली या वेश्यापक्ष गणिका में धूम (उम्फोच) पाकर उसे अभिनय के लिए बुलाने वालों में यह होता था कि यह तो अभी राजस्वला है, कैसे जा सकती है ?

१—मनङ्गहर्ष—यह 'रत्नावली' के रचयिता महाराज हर्षदेव का उपनाम है । विश्वकोशी में उनकी क्यति हरी उपनाम में थी । मरुत के अन्य कवियों के भी उनके विभी विस्तारण समझारी वर्णन के कारण उपनाम चयन करने थे ।

से इसने सिंहल राजपुरी (रत्नावली) के अभिनय में प्रसिद्धि पाई है ॥८०२॥

विविधस्थानकरचनां परिक्रमं गात्रचलनलालित्यम् ।

✓काकुविभक्तार्थंगिरो रसपुष्टिं वासनास्थैर्यम् ॥८०३॥

मञ्जरी के नाना प्रकार की स्थानक^१ रचना के लिए परिक्रम, अङ्गों को मोड़ लेने के लालित्य, कण्ठस्वर की मित्रताओं (काकु) के द्वारा वाणी के मित्र अर्थ के प्रकाशन, रस की पुष्टि, वासना की स्थिरता ॥८०३॥

सात्त्विकभावोन्मीलनमभिनयमनुरूपवर्तनाभरणम् ।

मिश्रामिश्रे वाद्ये लयाच्युतिं वर्णयन्ति मञ्जर्याः ॥८०४॥

सात्त्विक भावों के उन्मीलन, अभिनय, भूमिका के अनुरूप वर्तन अर्थात् नेपथ्य रचना और आभूषण धारण मिश्र-अमिश्र वाद्य या (पाठ भेद के अनुसार) नाच्य^२ में लयच्युति (अर्थात् लय का द्रत होना) को लोग सराहना करते हैं ॥८०४॥

एषाभिधानकीर्तनगुणितस्वशरीरकुसुमशररोपा ।

सहस्रोद्भिन्नमनोभवभावदशा सिद्धुवारविवरेण ॥८०५॥

(रत्नावली की भूमिका में) उदयन का नाम लेते ही जिसके अपने शरीर पर कामदेव का रोप बढ़ गया है जिसकी कामजनित विकार को अथवा सहा उद्भिन्न हो उठी है ऐसी इस मञ्जरी ने सिद्धुवार वृक्ष के विवर से ॥८०५॥

१—स्थानक—नृत्याभिनय के समय चार प्रकार का पदचरित होता है—मण्डल, उपलवन, भ्रमरी और चारी। 'मण्डल' के स्थानक, आयत, आलीद, प्रत्यलीद, प्रेक्षुन, प्रेरित, स्वस्तिक, भोदित, समसूची और पार्वसूची इत्यादि भेद हैं। स्थानक का लक्षण—

कटिसृष्ट्याऽर्धचन्द्राख्यपाणिभ्यां समपादतः ।

समरेरातया तिष्ठेत् तत् स्यात् स्थानकमण्डलम् ॥

स्थानक के और भी ६ भेद हैं—समपाद, एकपाद, नागबन्ध, छेन्द्र, गरुड़ और मण्ड (अभिनय दर्पण)।

२—यह नाच्य या रूपक जो नृत्य, गीत आदि में समन्वित हो मिश्रनाच्य है, जैसे विक्रमोर्वशीय, रत्नावली इत्यादि। जिसमें नृत्य-गीतादि का समन्वय न हो यद् अमिश्रनाच्य है जैसे मालती-माधव, मुद्राराक्षस इत्यादि।

पश्यन्ती वत्सेश्वरमनुकार्यानुकरणभेदपरिमोपम ।

साधुध्वनिमुखराननसामाजिकजनमनसु विदधाति ॥८०६॥

वत्सराज की भूमिका वाले व्यक्ति को 'साधु' 'साधु' की आवाज-से मुरार मुरा वाले सामाजिक लोगों के मनों में अनुकार्य और अनुकरण का भेद मिटा दिया है^१ ॥८०६॥

वत्सपतिमालिखन्ती कामावस्था क्रमेण भजमाना ।

वैष्युपुलकस्वेदैरावहति विसंघुलं हस्तम् ॥८०७॥

वत्सराज का चित्र खींचती हुई क्रम से कामदशा को प्राप्त करती हुई इस मञ्जरी का हाथ कम्प, रोमाञ्च तथा पसीने के कारण बिलकुल बेकाम हो जाता है ॥८०७॥

सदृशोऽप्यनुभावगणे करुणरसं विप्रलम्भतो भिन्नम् ।।

दर्शयति निरभिकांक्षितमुदवन्धनगोचरापन्ना ॥८०८॥

दृष्टिय में आई यह अनुभाव समूह के समान होने पर भी विप्रलम्भ शब्दों से भिन्न करुणरस को सयोगसुल की आशा से रहित करके प्रदर्शित करती है^२ ॥८०८॥

तस्मिन्निदर्शतीत्यं मंजरिकां साभिलापमवलोक्य ।

पस्पर्शं राजपुत्रः किमसाविति वेनदण्डेन ॥८०९॥

इस प्रकार नृत्याचार्य मञ्जरी का गुण वर्णन कर ही रहा था कि राजपुत्र

१—अभिनेता की सबसे बड़ी सफलता यह मानी जाती है कि वह दर्शकों के मनमें अनुकार्य और अनुकरण का भेद अपने नेपथ्य से मिटा दे। उन्हें यह नभान हो कि दृश्यन्त का अभिनय किसी व्यक्ति के द्वारा किया जा रहा है और वे अभिनय देख रहे हैं, बल्कि उनके मन में यह भाव हो कि वह एक मात्र दृश्यन्त को ही देख रहे हैं। यह अभिनय की सर्वोच्च भूमि मानी जाती है।

२—करुण और विप्रलम्भ शब्दों के अनुभाव प्रायः एक ही होते हैं। केवल पहले में जो शोक स्थायी भाव होता है वह दूसरे में संचारी भाव हो जाता है। दोनों की सबसे मुख्य भेदक बात यह है कि करुण में प्रिय मिलन की आशा नहीं होती और विप्रलम्भ में होती है।

ने मञ्जरी को उत्कण्ठा से देखकर 'क्या यह है' (यह कहते हुए) उसे वेन वेनदड से स्पर्श किया ॥८०६॥

बुद्ध्वाय तस्य भावं प्रसारयन्व्यवतिसंकथाकेलिम् ।

न्यक्कुर्वन्वारवधूः सचिवः प्रशशंस वन्धकीगमनम् ॥८१०॥

राजपुत्र के मनोभाव को ताड़ कर, युवतियों के सम्बन्ध में बातचीत की केलि फैलाते हुए मंत्री ने वेश्याओं की निन्दा करते हुए, कुलाटा (बन्धकी) स्त्री के गमन की प्रशंसा की ॥८१०॥

वाररतिः संततमे व्याधिप्रशमाय चेटिकाश्लेषः ।

तत्खलु सुरतं सुरतं कृच्छ्रप्राप्यं यदन्यनारीषु ॥८११॥

अपनी स्त्री में अनुराग सन्तान के लिए किया जाता है और दासी का आलिङ्गन व्याधि के शमन के लिए करते हैं लेकिन वही सुरत सुरत है जो परकीय नारियों में बड़े कष्ट से मिल पाता है ॥८११॥

स्वव्यापारैकमतेः परचिन्ता नास्ति मे कदाचिदपि ।

पश्यन्त्यास्त्वामीदृशमद्य तु मे मानसं व्यथितम् ॥८१२॥

(यह कह कर उसने परकीय नारी के प्रति दूती के वचन का उदाहरण दिया)

‘मैं अपने काम-काज में लगी रहती हूँ, कभी भी दूसरे की चिन्ता मुझे नहीं होती । आज तुझे ऐसा देखते ही मेरा मन व्यथित हो उठा ॥८१२॥

यदि वेद्मि तस्य वसतिं सामर्थ्यं यदि भवेत्ततोऽप्यधिकम् ।

तद्गत्वा दग्धविधिं लगुडैः संचूर्णविष्यामि ॥८१३॥

अगर उसका घर जानती और अगर उसने भी आधिक सामर्थ्य वाली होती तो उम जले मिथाता को अभी जाकर लाठियों में चूर कर देती ॥८१३॥

वपुरिदमनुपममीदृग्यदि विहितं तव कृशांगि हतघात्रा ।

अनुरूपरमणविरहात्किमिति कृतं वन्ध्यजन्मफलम् ॥८१४॥

उसने इन प्रकार तेरा अनुपम शरीर बनाया है तब अनुरूप त्रिय से न मिला कर क्यों उसने तेरे जन्म को निष्फल बना दिया है ! ॥८१४॥

✓ शैशवमस्तु जरा वा व्याधिर्वाह्येन्द्रियप्रणाशो वा ।

स्वाकार तारुण्य न तु कुपतिकदर्थनाग्रस्तम् ॥८१५॥

लड़कन हो या बुढ़ापा हो या व्याधि हो या रूठो रोग से मृत्यु हो लेकिन शोभन ग्रामर से युक्त यौवन कुलप पति की पीना से ग्रस्त न हो ॥८१५॥

केलि. प्रदहति मज्जा शृगारोऽस्थीनि चाटव. प्राणान् ।

न करोति मनस्तुष्टि दानमभव्यस्य गृहमतुः ॥८१६॥

कुरूप पति के साथ ब्रीडा देह के भास को, उसका शृङ्गार शब्दियों को, उसके चाटवन्नन प्राणों को मुलसाने लगते हैं, उसके कुछ देन से भी मन को सुतोप नहीं होता ॥८१६॥

कुत आगतासि कस्मिन्वेलाभियतो स्थिता किमर्थमिति ।

पृच्छन्नस्वस्थमना जनयति गेही शिर शूलम् ॥८१७॥

कहाँ से आ रही है ? इतनी देर तक कहीं रही ? क्यों रही ? इस तरह अस्वस्थ करके पूछता हुआ घर वाला फिर दर्द पैदा कर देता है ॥८१७॥

यदि भवति दैवयोगाच्चक्षुर्विपये समुज्ज्वलस्तारुण्ये ।

तनात्मान क्षपयति जाया च रटन्गृहस्वामी ॥८१८॥

यदि दैवयोग से कोई सुन्दर जवान आँसों के सामने आ गया तो घरवाला पत्नी को कोसते-कोसते अपने को पीड़ित करता है ॥८१८॥

सविवादे परलोके जनापवादे च जगति बहुवादे ।

दैवाधीने प्रलये न विदग्धा हारयति तारुण्यम् ॥८१९॥

परलाक के सम्बन्ध में तो बड़ा विवाद है, सकार में बहुत लोग बहुत तरह की बातें करते हैं, प्रणय दैव के अधीन होगा है, ऐसा स्थिति में चतुर स्त्रियाँ अपनी जगती व्यर्थ नहीं नष्ट करती ॥८१९॥

दुर्भतृकारास्फालनमलिनीप्रियमाणशोभमनुदिवसम् ।

तुङ्गमपि पतिततल्पं स्तनशालिनि तव पयोधरद्वन्द्वम् ॥८२०॥

दे मर्ता वाली, कुरूप पति के हाथ के आन्देन म प्रीतिव विवरा शोभा

मलिन की जा रही है ऐसे उन्नत भी स्तन गिरे-जैसे ही हैं ॥८२०॥

। पर्यङ्कः स्वास्तरणः पतिरनुकूलो मनोहरं सदनम् ।

तुलयति न लक्षांशं त्वरितक्षणचौर्यं सुरतस्य ॥८२१॥

सुन्दर विछानन वाला पलंग अनुकूल पति और मनोहर निवास-गृह जल्दी से क्षण भर के चौर्य सुरत के लाखवें हिस्से की बराबरी नहीं कर सकते ॥८२१॥

सहसा संकटवर्त्मन्यवितर्कितसंमुखागतेनापि ।

अभिलषितेनोद्वृष्टकमनल्पशुभवार्मणा लभ्यम् ॥८२२॥

संकरे मार्ग में सहसा बिना पहले सोचे-विचारे सामने आ पहुँचे प्रिय के द्वारा टक्कर अनल्प पुण्य हों तभी प्राप्त है ॥८२२॥

प्रीतिः किल निरतिशया स्वर्गः परलोकचिन्तकैर्गदितः ।

तस्यास्तु जन्मलाभो हृदयेप्सितपुरुषसंयोगात् ॥८२३॥

परलोक के चिन्तक पुरुषों ने निरतिशय प्रीति को स्वर्ग कहा है और यह प्रीति मन चाहे पुरुष के संयोग से होती है ॥८२३॥

अतटस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।

ते शोकक्लेशरुजां केवलमुपयांति पात्रतां मन्दाः ॥८२४॥

अस्थिर (या तट पर स्थित न रहने वाले) मीठे फल के ग्रहण के लिए उद्योग का जिन्हें निश्चय होता है वे मन्द पुरुष केवल शोक, क्लेश और रोगों के पात्र बनते हैं ॥८२४॥

किं प्रतिकूला ग्रहगतिस्त परिणतमन्यजन्मदुश्चरितम् ।

स्वानुष्ठानाभ्यसनं किं वा तस्यात्मयोनिहतकस्य ॥८२५॥

क्या ग्रहों की गति ही प्रतिकूल है या अपना पाप ही अथ वक जुना है किंवा उस मुझे विपाता का अपना घटना चक्र है ॥८२५॥

येन तपस्वी स युवा स्तौति समीरं त्वदंगसंस्पृष्टम् ।

त्वत्पादान्तक्रान्तभुवे स्पृहयति ककुभं त्वदाथितां नमति ॥८२६॥

जिससे बेचारा यह युवा तेरे अङ्गों के स्पर्श वाले समीर को स्पर्श करता

हे, तेरे चरण जहाँ चल रहे हैं उस धरती को च्छा करता है और तेरे द्वारा सेवित दिशा को नमन करता है ॥८२६॥

ध्यायति युष्मद्रूपं त्वन्नामकवर्णमालिकां जपति ।

एक्राग्रीकृतचेतास्त्वदङ्गतः सीढ्यसिद्धिमभिकांक्षन ॥८२७॥

तेरे रूप का ध्यान करता है, तेरे नाम के अक्षरों की माला जपता है । उसने अपने चित्त को त्वन्मय कर दिया है, तेरे श्रंग से सीढ्य की सिद्धि चाहता हुआ ॥८२७॥

उत्सृष्टसर्वं कार्यंस्तिर्यङ्गीवंबिलोकयन्भवतीम् ।

कुक्षे ग्रहाम्ररथ्यां यातायातैः शतावर्षाम् ॥८२८॥

सारा काम-भाज 'छोड़ कर तुम्हें गर्दन टेढ़ी करके देखता हुआ घर के सामने वाली गली में सैकड़ों चक्कर लगाया करता है' ॥८२८॥

दृष्टोऽसि तथा सुचिरं गेहान्याशे परिभ्रमन्स्पृहया

संदेश एष दत्तः प्रामृतमेतत्तव प्रहितम् ॥८२९॥

(दूती का वासुद के प्रति वचन)

'घर के नजदीक घूमते हुए तुम्हें उसने हसरत में देर तक देखा है उसने यह संदेश और उपहार दिया है ॥८२९॥

शुष्यति सालममाना भवत्कृते वेरमनिर्गमावसरम् ।

इति चतुरशठस्त्रीभिर्विलुप्यते त्वदपदेशेन ॥८३०॥

तुम्हारे लिए घर से निराल जाने का मार्ग न पाकर वह सूखती जा रही है—इस प्रकार हे चतुर, धूर्त स्त्रियों तुम्हारे निमित्त करके उसका शील हरण करती है ॥८३०॥

किं वा कथितैरधिकैरस्थानाविष्टचेतसस्तस्याः ।

अनुतिष्ठ यथायुक्तं त्वत्तो नाशरच जीवरक्षा च ॥८३१॥

अधिक बहने से क्या ? जो कि उगने जलन जगह में अगना नित्त लगाया है तो पैसा उधिया हो पही परो, कनोकि तुमसे उसका नाश और जीवरक्षा दोनों सम्भव है' ॥८३१॥

कुलपतनं जनगर्हं नरकर्गातिं प्राणितव्यसन्देहम् ।
अङ्गीकरोति तत्क्षणमवला परपुरुषमभियांती ॥८३२॥

पर पुरुष का अभिस्वरण करती हुई अवला तत्क्षण कुलपतन, लोगों की निन्दा, नरक की गति, जीने में सन्देह अङ्गीकार कर लेती है ॥८३२॥

स तु लिखति दासपत्रं त्यजति कुटुम्बं ददाति सर्वस्वम् ।
यावन्न भवति पुरतः परयुवतिः प्रोज्झितावरणा ॥७३३॥

परकीया में आशक्त कामुक नौकरी का स्वीकृति-पत्र लिखा देता है^१, परिवार को छोड़ देता है, अपना सब कुछ छुटा देता है तब तक जब तक कि पराई युवति आवरण छोड़ कर उसके सामने नहीं हो जाती ॥८३३॥

दृष्टं यद्द्रष्टव्यं व्यपयात कौतुकं विदितमन्तः ।
इति याति मनसि कृत्वा विहितविधेयस्ततस्तूर्णम् ॥८३४॥

जो देरना था देख लिया, कौतुक चला गया, अन्दरूनी जान ली, ऐसा मन में करके कृतकृत्य होकर वह शीघ्र चला जाता है ॥८३४॥

सापि छिन्नाच्छोटनगृहीतमुक्ता विलोकयन्त्याशाः ।
विद्यति गृहं संश्रस्ता सर्वत आशङ्किता सर्वैलक्ष्यम् ॥८३५॥

वह पुरचली चुटकी बनाती, दिशाओं को निहारती, डरी-डरी सब ओर से आशङ्कित होकर लज्जा के साथ घर में प्रवेश करती है ॥८३५॥

नवचारित्रभ्रंशा सुरचितकुलटोदितेषु नो निपुणा ।
पृष्ट्वा क्व गतासि त्वं न क्वविदिति सम्भ्रमाद्ब्रूते ॥८३६॥

जिसका शील अभी-अभी का भंग हुआ है, जो कुलटा की बही बातों के अनुसार चलने में निपुण नहीं है ऐसी स्त्री 'तू कहाँ गई थी' यह पूछे जाने पर हड़बड़ी में कह पड़ती है 'कहीं नहीं' ॥८३६॥

१—दासपत्रं लिखति—नौकरी करना स्वीकार कर लेता है। प्राचीनकाल में किराई के पदों नौकरी करने के लिए नियमानुसार दास-पत्र लिखने की प्रथा थी। बहुत प्रकार के प्राचीन दास पत्र मिले हैं।

एते दोषा बहवः पुरुषा अपि चपलकौतुका प्रायः ।

त्व च ग्रहेण लग्ना कार्यविमूढान् तिष्ठामि ॥८३७॥

चपल और कुतूहल भरे पुरुष अपराध थोडा होने पर भी कुपित हो जाते हैं, व ने तो हठ पकड लिया है और मैं यह कुछ भी नहीं कर पा रही हूँ ॥८३७॥

इति दोलायितहृदया स्थिरोकृताभ्यस्तकर्मणा दूत्या ।

दृष्टेति शङ्कमाना पदे पदे चलति पर्णेऽपि ॥८३८॥

जो अपने कार्य में अभ्यस्त है ऐसी दूती द्वारा इस प्रकार की रात से चलने के लिए स्थिर कर दी गई, दोलारूढ हृदय वाली वह पते के भी खटकने पर 'मैं देख ली गई' यह शर्मा पद-पद पर करने लगती है ॥८३८॥

सर्वान् विक्षिपन्ती मुहुमुं हुश्चकिततरलिते नेत्रे ।

प्राप्ता सकेतभुव शतगुणितमनोरथाकृष्टा ॥८३९॥

बार बार अपने चरित तरलित नेत्रों को दिशाओं में फेलाती हुई, योगुने मनोरथा से सिंचां वह सकेत स्थल तक पहुँचती है ॥८३९॥

भयशृंगारव्रीडामिश्रीभुतानुभावसन्दोहम् ।

जनयन्ती लोलाशुकदृष्टादृष्टासकुचनाभिः ॥८४०॥

वह भय, शृंगार और लज्जा से मिले-जुटे अनुभाव-समूह को प्रकट करती है, अशुक वस्त्र के चपल होने के कारण उसके कचे, स्तन और नाभि कमी-कमी दिख जाते हैं ॥८४०॥

नीवीश्लथनारम्भं निरुन्धती न न न यामि यामोति । ✓

निमृतास्फुटाभिधानैः पल्लवयती स्मरस्य कर्तव्यम् ॥८४१॥

नीवी-अन्ध को शिथिल करने का कार्य वह रोमने लगती है, 'धूर्त' में जाती हूँ, चनी जाती हूँ, इस प्रकार के अन्वत अस्पृष्ट वचनों से कामदेव के पंचव्य को पल्लवित करती है ॥८४१॥

नयतीवान्तविलयं ग्रसमाना सर्वंगाग्राणि ।

य शिलप्यतेऽन्ययोपा तिक्तं तस्यामृतं पुरतः ॥८४२॥ ✓

मानों वारे अग्नो को प्रयती हुई वामुरु को अपने भीतर जैम विलीन कर

लेती है, जो कि परकीया का आलिङ्गन किया जाता है उसके सामने अमृत भी कड़वा है ॥८४२॥

न कृतं तव रहसि पुरो वा व्यावृतकण्ठकुण्ठया वाची ।

गेहस्वामितिरस्कृतिनिष्पादितदुःखवेगनिर्वहणम् ॥८४३॥

‘एकान्त में तुम्हारे सामने बाष्प से रंधे कंठ के कारण कुण्ठित वाची से घर के स्वामी के द्वारा तिरस्कारों के कारण हुए अपने दुःखवेग की समाप्ति-पर्यन्त कहानी मैंने नहीं कही ॥८४३॥

उपधानीकृत्य भुजावन्योन्यं निर्विशंकभावाभ्याम् ।

संवलितोरु न सुप्तं शिथिलाङ्गं रतिविमर्दं खिन्नाभ्याम् ॥८४४॥

भुजाओं को तकिया बनाकर शङ्करद्वि भाव से रतिविमर्द से हम दोनों ने परस्पर में जाँघ सटा कर शिथिलाङ्ग हो शयन नहीं किया ॥८४४॥

आत्मगृहादानीतं प्रच्छाद्य स्वादुभोजनं विजने ।

स्वकरेण मया दत्तं निर्वृतहृदयेन नाशितं भवता ॥८४५॥

अकेले में अपने घर से स्वादिष्ट भोजन छिपा कर ले आई और अपने हाथ से दिया भी तब भी तुम्हें दित्त वाले तुमने उसे फेंक दिया ॥८४५॥

न कृता चरित्ररक्षा न च भुक्तं त्वच्छरीरमपर्यत्रम् ।

↓ दृष्ट्वादृष्टभ्रष्टा क्व यामि किं वा करोमि दुर्जाता ॥८४६॥

मैंने अपने शील की रक्षा नहीं की और न तुम्हारे शरीर को स्वेच्छापूर्वक उपमोग किया, दृष्ट और अदृष्ट दोनों ओर से भ्रष्ट दुर्जात में कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ? ॥८४६॥

अवगुण्ठनविनयरती स्वैरालापं च मन्दसंचारम् ।

सम्प्रति मम पापायाः करपिहितमुखा हसन्ति तत्त्वज्ञाः ॥८४७॥

मैं पापिन पर्दा करने और विनय-भाव में प्रेम करती हूँ, धीमी आवाज में बातें करती तथा धीमी चाल में चलती हूँ तब यद्यार्थ को जानने वाले लोग दास से मुँह टक कर हँसते हैं ॥८४७॥

यासामासीत्सख्यं मया समं समवयःकुलस्त्रीणाम् ।

ता वारयति मत्तः कुसङ्ग इति तन्नियन्तार । ॥८८८॥

धरार की अवस्था वाली जिन कुलाङ्गनाओं की मेरे साथ मैत्री थी उनके नियमन करने वाले लोग 'कुसंग' कह कर उन्हें मुझसे हटा लेते हैं ॥८८८॥

धिग्वादान्परिजनतः सहमाना मन्युरोवनतवदना ।

तिष्ठामि निरभिमाना निजनिर्मितदोषदौर्बल्यात् ॥८८९॥

अपने ही दोष से हुई कमजोरी के कारण परिजन से धिक्कार की रातें सहती हुई, कुछ भी उत्तर न दे पाती हुई मुझे मृगत वाली विना अभिमान के पड़ी हूँ ॥८८९॥

सद्भिर्विधोयमानं प्रसङ्गपतित पतिव्रतास्तवनम् ।

हृदयेन ह्यमाना मूढा सीदामि शृण्वन्ती ॥८९०॥

एतुषुष्यों द्वारा अक्षर पर की गई पतिव्रता नारी की स्तुति सुनती हुई मूढा मैं हृदय से पीड़ित होती हूँ ॥८९०॥

आसन्न उपविशन्ती मन्दाक्षा मा निपेद्भुमसमर्थाः ।

अन्योन्यमोक्षमाणा ज्ञातिजनाः सकुचन्ति भुञ्जानाः ॥८९१॥

भोजन पर बैठे हुए निरादरी के लोग पास में बैठती हुई मुझे उदारता के कारण मना करने में असमर्थ होते हुए परस्पर एक-दूसरे को ताकते हुए समीच का अनुभव करते हैं ॥८९१॥

प्रकटोक्तास्त्वयैव क्षणमात्रममुञ्चता गृहोपान्तम् ।

अस्मासु दश मग्ना प्रेमस्निग्धामनुद्धरता ॥८९२॥

मेरे घर के आस-पास के स्थान को छत्र भर भी न छाड़ते हुए और हम पर पड़ी प्रेम से स्निग्ध दृष्टि को न हटाने हुए तुमने ही मुझे जादिर कर दिया ॥८९२॥

परगृहविनाशपिशुनाः सुभगं मन्याभिरूपकृतदर्पा ।

वृकलासतुल्यरागा भवन्ति युष्मद्विषा एव ॥८९३॥

गृहघारे घटघ ही लोग दूसरे का घर चौकट करने में परतप राव, करने

को अभिमानपूर्वक सुभग एवं सत्कुलोत्पन्न मानने वाले, गिरगिट के समान राग (रंग, प्रेमभाव) बदलने वाले होते हैं ॥८५३॥

अनभीष्टव्यवहारप्रभवशुचा पोडिताक्षरा इत्थम् ।

सोपालम्भा विजने धन्याः शृण्वन्ति बन्धकीवाचः ॥८५४॥

इस प्रकार अनभीष्ट व्यवहार के कारण उत्पन्न क्रोध से पीड़ित अधरों वाली उपालम्भ भरी कुलटा स्त्रियों की बातें एकान्त में धन्य लोग ही सुन पाते हैं ॥८५४॥

परतरुणीसद्भावस्नेहापितनयनभागदृष्टस्य

वेश्यारचितविलासाः कथिताः पुरतः पुराणतृणतुल्याः ॥८५५॥

परकीया तरुणी के द्वारा सद्भाव और स्नेह से अपित लोचन के बाने से देखे गए पुरुष के गमने पड़े हुए वेश्याओं के विलास पुराने घास-भूस के समान हैं ॥८५५॥

उपवनरचितमहोत्सव आराधितदेवताविशेषाणाम् ।

वचनमपि प्रेमार्द्रं स्वैरिण्याः श्रवणमेति पुष्यवताम् ॥८५६॥

✓ जिन्होंने अपने देवताओं की आराधना की है उन्हें परकीया तरुणी रति-महोत्सव का आनन्द देती है, उस स्वैरिणी नारी का प्रेमार्द्र वचन भी पुण्यवानों के कान तक पहुँचना है ॥८५६॥

का गणना विषयवशे पुंसि वराके पराङ्गनास्पृहया ।

व्याजेन वीक्षमाणा ध्यानधियां स्पृशति संज्ञानम् ॥८५७॥

विषयों के वशीभूत चेचारे पुरुषों की गणना क्या ! उत्तम स्त्री किसी व्याज से दृष्टिपात करती हुई स्थिर ध्यान-भावना वाले मुनियों के भी सज्ज्ञान को छू लेती है ॥८५७॥

शिरसा रचितांजलयो दधति निदेश त्रिविष्टपे गणिकाः ।

परदाररसाकृष्टस्तथापि भेजे शचीपतिरहत्याम् ॥८५८॥

स्वर्ग में गणिकाएँ शिर पर अंजलि बाँधि आशा पालन करती रहती हैं

तयापि परतीया के प्रेम से आकृष्ट होकर शचीप्रति इन्द्र ने ग्रहल्या को उपभोग किया ॥८५८॥

अप्सरसः किं न वशा वैदग्ध्यवता च किं न घोरैर्यः ।

येन चकारासक्तिं गोविन्दो गोपदारेषु ॥८५९॥

क्या श्रीकृष्ण के वश में अप्सराएँ न थीं, क्या वे स्वयं विदग्ध जनों में थोप न थे कि उन्होंने गोपियों में आसक्ति की ॥८५९॥

त्रैलोक्यागता वेश्याः स्वाधीना यातुघाननाथस्य ।

तदपि जहार कलत्रं दशरथतनयस्य रामस्य ॥८६०॥

तीनों लोकों की वेश्याएँ राक्षसाधिपति रावण के अधीन थीं तथापि उसने दशरथनन्दन राम की पत्नी का अपहरण किया ॥८६०॥

अथ मञ्जर्या जननी निजपक्ष समर्थने कृतोत्साहा ।

आक्षेप्तुमाचक्षे नृपसुतसचिवाश्रिता वाचम् ॥८६१॥

तब अपने पक्ष के समर्थन में उत्साह करके मञ्जरी की माता ने राज्यपुत्र के मर्षी की बात के प्यसङ्गताय कहा ॥८६१॥

षट्युवतिषु प्रगल्भो नागरिकादशनहृतपुंस्त्व ।

ग्रामोपितोऽविदग्धोनिन्दति गणिका भवद्विघ्नोऽजरयम् ॥८६२॥

षण्हरिजनों में प्रगल्भता दिखाने वाला, नागरिका स्त्री को देखते ही अपने पुत्र से स्वस्ति हो जाने वाला, मर्षी और अविदग्ध अथ जैसा आदमी गणिका की अजरय निन्दा करेगा ॥८६२॥

नाद्रंयति मनः पुंसामवगाहितमीनकेतुशास्त्राणाम् ।

नसदशनदातहीनं जीवत्पतिवन्धनीसुरतम् ॥८६३॥

जिन पुरुषों ने कामशास्त्र का अरगाह किया है उनके मन को जीवित की पत्नी कुलटा नारी का नगसङ्ग और दन्तसङ्ग में रक्षित मुग्न नहीं निपटता है ॥८६३॥

स्थापय घटकं तावत्कुरु भूमितले तृणं समास्तरणम् ।

सुरतोपक्रम ईदृक् प्रायो ग्रामीणतरुणमिथुनानाम् ॥८६४॥

घड़े को तब तक रख दो और जमीन पर घास की बिछावन डाल दो इस प्रकार ग्रामीण युवक-युवतियों के सुरत का उपक्रम होता है ॥८६४॥

बहलोरीरविलिप्तः सस्थितजूटककोणमल्लिकामाल्यः ।

पामरनार्या दृष्टः स्मरोऽह मिति मन्यते विदो ग्राम्यः ॥८६५॥

खाली छस के लेप लगाए, वाली में मल्लिका की माला लपेटे गाँव का रहने वाला विद जय गाँव की स्त्री को देखता है, तो अपने को मैं कामदेव हूँ मानने लग जाता है ॥८६५॥

गृहकर्मकृतायासप्रस्विन्नां सलिलकार्यनिर्याताम् ।

उपपतिरूपैति हर्षान्निशागमे पामरीं प्राप्य ॥८६६॥

घर के काम-काज में परिश्रान्त, पसीने से तर, पानी लेने के लिए निकली पामरी को जार के रात्रि के आरम्भ में पाकर प्रसन्न होता है ॥८६६॥

कूपक्षिप्तघटाया नार्यास्तत्काष्ठनिहितचरणायाः ।

बलितग्रीवं वीक्षितमुन्नयति मनो ग्रामवासिनां यूनाम् ॥८६७॥

कुर्से में घड़ा डालकर, बीच वाले काठ पर पैर रखकर उस नारी के द्वारा गर्दन मोड़कर दृष्टि डालना ग्रामीण युवक के मन को उभार देता है ॥८६७॥

लग्नोऽसि यत्र गात्रे कथमपि दैवेनदेवयात्रायाम् ।

अद्यापि तन्न मुञ्चति पुलकोद्गमकण्टकं तस्याः ॥८६८॥

गाँव में ठाकुर जी की यात्रा के समय किसी प्रकार दैववश जिस अङ्ग में तुम छू गए हो उसके उस अङ्ग को आज भी रोमांच नहीं छोड़ता ॥८६८॥

उच्चेतुं कर्पासं प्रविष्टया गहनवाटिकां शूयाम् ।

टंकारितेन संज्ञा कृता तथा त्वं तु वेत्सि नो मूर्खः ॥८६९॥

फरास चुनने के लिए निर्जन वाटिका में गईं अपने टन्-टन् की आवाज से इशारा किया फिर भी तुम ऐसे मूर्ख हो कि न समझ सके ॥८६९॥

आलिङ्गितमुसलायास्त्वय्येव निविष्टचधुपस्तस्याः ।

आवृत्त्या भ्रमति पुरो जातः खलु शालिकण्डने विघ्नः ॥८७०॥

मुसल को आलिङ्गन किए हुए उस स्त्री की आँसु सामने आस-पास चक्कर फाटते धुये, तुमसे जो लगी रही उससे साठी के घान कूटने में विघ्न हो गया ॥८७०॥

त्वां लोष्टमाक्षिपन्तं पार्श्वस्यैः स्तूयमानसामर्थ्यम् ।

गृहकर्तव्यं त्यक्त्वा सापर्यद्वाटरंघ्रेण ॥८७१॥

जब तुम गुलेल चला रहे थे और पास वाले तुम्हारी प्रशंसा कर रहे थे तब वह घर का काम छोड़कर तुम्हें दरवाजे के छेद से निहार रही थी ॥८७१॥

त्वयि भाग्निकटवर्तिन्यविचेतितखेदया तथा सुभग ।

प्रत्यासन्नगृहेष्वपि कृतः प्रसह्य स्मरातुरो लोकः ॥८७२॥

हे सुभग, जब तुम घर के निकट मार्ग में रहते थे तब वह आतप आदि जनित क्षण की परवाह न करके जो तुम्हें देखने के लिए खड़ी रहती थी उस समय पड़ोस के रहने वाले लोग दृष्टात् वामातुर हो उठे थे ॥८७२॥

इति चतुरदूतिकोदितवर्धितसीभाग्यगर्वपूर्णस्य ।

ऊर्मिसहस्रोल्लसितं भवति मनो ग्राम्यपिङ्गस्य ॥८७३॥

इस प्रकार चालाक दूती के कहने पर अपने बड़े हुए सौभाग्य के गर्व में पूले गाँव के निवासी वामुरु का मन हजारों तरंगों से उल्लसित हो उठता है ॥८७३॥

विनिवार्यं तत्प्रवर्तितवाक्यविकासं नतोत्तमाङ्गेन ।

श्रीसिंहमटस्य सुतं समुवाच वचोऽयं नतंकाचार्यैः ॥८७४॥

अनन्तर उस गणिका द्वारा प्रवर्तित वाक्य-विस्तार को शिरःसम्पन्न करके शंकर नानाचार्य ने श्रीसिंहमट के पुत्र से कहा ॥८७४॥

नायकभूमौ भवतः कुशीलवाः कोहलादयो मुनयः ।

अप्सरसः स्त्रीलास्ये गान्धर्वे कमलजग्मनस्तनयः ॥८७५॥

'अग्निनेता या नायक की भूमिका में (उस भूमिका को म्यथ करना कर)

भरत और दूसरे नटविशेष कोहल आदि मुनि, स्त्री-यात्र के नाट्य ग अम्तराए, गाधर्व में कमलजमा ब्रह्मा के पुत्र नारद ॥८७५॥

सुषिरस्वरप्रयोगे प्रतिपादनपडितो मतङ्गमुनि ।

यदि रञ्जयन्ति हृदय भवतो भूमिस्पृशा कुत शक्ति ॥८७६॥

तथा वशी आदि के वज्राने में निपुण मतंग मुनि जैसे लोग जब आपके हृदय का रजन करते हैं, फिर हम पृथ्वी के वासियों की शक्ति कहीं ? ॥८७६॥

अभ्यधिक धृष्टत्व प्रायेण हि शिल्पजीविनो भवति ।

आश्रितनर्तकवृत्ते विशेषतो विजितरङ्गस्य ॥८७७॥

प्रायः शिल्पजीवी (कलाकार) लोग बड़े ढीठ हुआ करते हैं, उनमें विशेष रूप से वह जो रंगमंच पर प्रसिद्धि पाया हुआ नर्तक की जीविका वाला प्राणी है ॥८७७॥

विज्ञापयाम्यतस्स्वा निर्मितनाट्यप्रजासृजा सदृशम् ।

अवलोकयाद्भ्रमेक मा भवतु मम श्रमो वन्द्य ॥८७८॥

इसलिए हे राजन्, मैं आपसे निवेदन करूँगा कि आप नाट्यप्रेमी प्रजा के लिए रुचिस्वर एक अद्भुत का अवलोकन कर लें जिससे मेरा श्रम निष्फल न हो ॥८७८॥

इति कथयन्नरभतुं पुत्रेण स चोदितो भ्रुवोन्नतया ।

रचिते सकलातोद्ये नियोजयामास सूत्रधृतम् ॥८७९॥

यह कहने पर राजपुत्रद्वारा भौई ऊँची करके प्रेरित हुए नर्तकाचार्य ने सब प्रकार के वाद्यों के स्वरमेलन हो जाने पर सूत्रधार को नाटक आरम्भ करने के लिए आज्ञा दी ॥८७९॥

१—अर्थात् धीखा, मुरज, धशी और फांस्य रूप चतुर्विध वाद्यों के मुर मिला लेने के पश्चात् ।

२—सूत्र धार—बीज-सहित नाटक का अनुष्ठान रूप बदलता है उसे धारण करने वाला नाट्यशिल्पी ।

वांशिकदत्तस्थानक उदग्राहितभिन्नपंचमे सम्यक् ।

प्रावेशिकया ध्रुवया द्विपदे ग्रहणान्तरेऽविशत्सूत्री ॥८८०॥

वशी यजाने वाले (वांशिक) के द्वारा स्थानक दिए जाने पर उसके अनु-
सार सम्यक् प्रकार से मध्यम स्वर की श्रुति से युक्त पंचम स्वर के चल पढ़ने
पर^१, प्रावेशिकी ध्रुवा^२ गीति के समाप्त होने पर एवं द्विपदी लय (एक विशेष
प्रकार के लय) के अलाप लेने के बाद सूत्रधार ने प्रवेश किया ॥८८०॥

उत्साहभावयुक्तः सामाजिकहृदयरजनं बुध्यन् ।

कविनैपुणवत्तेश्वरचरितस्वविवेयदाक्षयसामग्रया ॥८८१॥

उत्साह के भाव से युक्त कवि की निपुणता को प्रकट करने वाले वरधराज
के चरित के प्रयोग में अपने चातुर्य की सामग्री द्वारा सामाजिक (दर्शक) लोगों
के चित्त का अनुंजन करता हुआ^३ ॥८८१॥

अष्टकलापरिमाणां ध्रुवां परिक्रम्य ताललययुक्ताम् ।

ब्राह्म्य नटीं कृत्वा तथा समं स्वगृहकार्यसंलापम् ॥८८२॥

ताल और लय से युक्त आठ कलाओं (मानाओं) के परिमाण वाली ध्रुवा

१—वांशिक जय स्थानक (स्वर स्थापना) देता है तदनुसार गाने वाला अपने
भिन्न-पञ्चम स्वर को उसके साथ संगत कर लेता है, जैसा कि कहा है—

‘स्थानकादिनया-भिन्नो गमनाद्वयः सुराक्षरः ।

शीघ्रहस्तः कलाभिन्नो वाशिको रक्त उच्यते’ ॥

तथा :—

‘...गातृणां स्थान-दातृत्व तदोपाच्छादन तथा ।

वाशिकस्य गुणा एते मया संक्षिप्य दर्शिताः ॥

सगीतदामोदर

२—यह एक प्रकार का गीत है जो नट द्वारा पात्रों के प्रवेश की सूचना के लिये
गाया जाता है ।

३—‘रत्नामली, का प्रासंगिक पद्यापं रूप प्रकार है—

का गान कर, नदी को बुला, उसके साथ अपने घर के कार्य सम्बन्धी बातचीत कर ॥८८२॥

सूचितपात्रागमन. किञ्चिद्गत्वा पदानि ललितानि ।

निश्चक्राम गृहिष्या सार्धं नि.सरणगीतेन ॥८८३॥

पात्र के आगमन सम्बन्धी सूचना दे, कुछ ललित पदों को प्रस्तुत कर, नि.सरण गीत गाते हुए (बह सूत्रधार) नदी के साथ रङ्गमञ्च से निकल गया ॥८८३॥

आश्रित्य कथोद्घातं प्रविवेश ततः सविस्मयोऽमात्यः ।

दुर्घटसंघटनेन क्षितिनाथस्योदयेन मुदितश्च ॥८८४॥

तब कथोद्घात का आश्रय लेकर आश्चर्य से भरे मंत्री (योगन्धरायण) ने प्रवेश किया, वह बत्सराज के विचित्र रूप से घटित उदय के कारण प्रसन्न था ॥८८४॥

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिपद्येषा गुणप्राहिणी ।
लोके हारि च बत्सराजचरित नाटये च दत्ता वयम् ॥

१—जब पात्र सूत्रधार के कहे हुए अपने वृत्त के समान वाक्य या अर्थ ग्रहण करके प्रवेश करता है वह आमुज 'कथोद्घात' कहलाता है—

'स्वेतिवृत्तसम वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ।

गृहीत्वा प्रविशेत् पात्र कथोद्घातः स उच्यते ॥

जैसा कि 'रत्नावली' में सूत्रधार के कहे हुए 'द्वीपादन्यस्मादपि' (१।६) इस वाक्य को पढ़ते हुए योगन्धरायण प्रवेश करता है ।

२—विचित्र घटना यह हुई कि रत्नावली को लाने के लिए योगन्धरायण ने अपने कंचुकी को भेजा था । घटा से मंत्री वसुभूति और रत्नावली को लेकर लौट ही रहा था कि समुद्री नौका बीच रास्ते में भग्न हो गई । रत्नावली बहती-बहती कुछ कौशाग्र्यी के बनियों द्वारा बचा ली गई और योगन्धरायण को अर्पित कर दी गई, उपर कंचुकी और वसुभूति के भी बच जाने की राय मिल जाती है । इस प्रकार मंत्री सर्वतोभावन बत्सराज उदयन के अग्र्युदय की सम्भावना से बहुत प्रसन्न था ।

प्रासादमारुहन्तं कुसुमायुवपर्वचर्चरी द्रष्टुम् ।

निर्दिश्य वत्सराजं समनन्तरकार्यसिद्धये निरगात् ॥८८५॥

फिर प्रासाद पर मदनमहोत्सव^१के दृश्य चर्चरी^२ को देखने के लिए मदन के प्रासाद पर चढ़ते हुए वत्सराज की सूचना देकर आगे के कार्य की सिद्धि के लिए^३ निरगल गया ॥८८५॥

अथ विशति स्म नरेन्द्र. प्रासादगत. समं वयस्येन ।

अवलोकयन्प्रमोदं प्रमुदित चेताः स्वसौख्यसम्पत्त्या ॥८८६॥

तब अपने मित्र विदूषक के साथ प्रासाद पर गए, उत्सव के आनन्दोत्साह का अवलोकन करते हुए, अपने सौख्य की सम्पत्ति से खुश राजा ने प्रवेश किया^४ ॥८८६॥

विस्मयभावाकृष्टः प्रोत्फुल्लविलोचने ततो विसृजन ।

नृत्यति पौर जनौघे प्रोवाच वयस्य पश्य पश्येति ॥८८७॥

आश्चर्य के भाव से गिन्चा हुआ, विस्मित आँसों की दीढ़ाता हुआ राजा नाचते हुए नागरिनों की शोर शराय करके बोला—मित्र देखो, देखो ॥८८७॥

१—यह उत्सव प्राचीन काल में बसन्त ऋतु के अक्षय्य पर किया जाता था जो आज 'होली' के नाम से कहा जाता है । इस उत्सव में विद्योप रूप से उदात्त नृत्य गान के साथ भगर के धी-धुर्य भगवान् कामदेव के आयतन (मन्दिर) में पहुँचते थे और उनकी अर्चना करते थे ।

२—चर्चरी यहाँ गीत भेद न होकर हर्ष क्रीडा के अर्थ में मंगल होती है ।

३—रत्नापत्नी को उद्वेग से मिलाने और उसके साथ विवाह कराने की कार्य सिद्धि के लिए ।

४—इस प्रसंग का श्लोक है—

राज्यं निर्जितं शत्रु योग्य-सचिवे न्यस्तः समस्तो भरः ।

सम्यक् पालनलालिताः प्रशमितारोपोपमर्गाः प्रजाः ॥

प्रद्योतस्य मुता वमन्तसमयस्त्वं धेति नाम्ना धृति ।

वयमः वयमनुपेतार्यं मम पुनर्मन्त्रे महानुत्पावः ॥

रत्नापत्नी ? it

✓ तुल्यशिशुतरुणवृद्धं समगुप्तागुप्तयुवतिपरिचेष्टम् ।

अगणितवाच्यावाच्यं क्रीडन्तिजनाः प्रवृद्धहर्षरसाः ॥८८८॥

लोग इस तरह बड़ी खुशी से श्रीड़ा कर रहे हैं कि बालक, जवान और बूढ़े में कोई भेद नहीं रह गया है वेदर्दी और पर्दानशीन औरतें भी बराबर हो गई हैं, उनके खूब हंसी मजाक हो रहे हैं, यह कोई ध्यान नहीं रह गया है कि क्या कहने योग्य है और क्या नहीं कहने योग्य ॥८८८॥

पिष्टातर्कापिजरितं रचितोचितविविधकुसुमनिर्यूहम् ।

✓ गात्रायाससमुत्थितबहुनिःश्वासप्रकोपंपदगीतम् ॥८८९॥

वह बूढ़ा गुलाल से पीतवर्ण का हो गया है, नाना प्रकार के फूलों के गुच्छे सिर में खोस लिया है, अङ्गों के थक जाने से उठते हुए भारी निःश्वासी के कारण उसके शरीर पर पड़ा हुआ पटवास^१ उड़ पड़ता है ॥८८९॥

तूर्यरवव्यामिश्रितकरतलतालोदमुजं प्रनृत्यन्तम् ।

मुहुरपि जातस्खलनं संदर्शितदाढ्यंसौष्ठवे स्थविरम् ॥८९०॥

तुरही की आवाज से हाथ की ताली मिलाकर ऊपर हाथ उठाए जोर से नाच रहा है, बारबार भहरा पड़ता है और फिर भी अपने शरीर की मजबूती और दुफ्ती को प्रदर्शित करता है ॥८९०॥

अस्तु वसन्तः सततं स्वाधीनाभीष्टजनसमाश्लेषः । ✓

इति गायन्ती रभसादालगति मदवशात्तरुणी ॥८९१॥

‘अपने अधीन रहने वाले प्रिय जनों के आलिङ्गनों वाला यह वसन्त हमेशा रहे’ यह गान करती हुई कोई तरुणी मस्ती में वेग से आलिङ्गन कर लेती है ॥८९१॥

क्रीडन्त्या श्रमरहितं श्रृंगकसलिलेन ताडितस्तरुणः ।

✓ सीमन्तिन्या गणयति तुष्टात्मा सुभगमात्मानम् ॥८९२॥

श्रम की परवाह न करके श्रीड़ा करती हुई नारी द्वारा पिचकारी (शृङ्गक) के जल से मारा गया युवक मुश होकर अपने को ‘सुभग’ समझ रहा है ॥८९२॥

१—अर्थात् पिष्टातक, जिसे हल्दी, चारल और कुङ्कुम आदि द्रव्यों को मिला कर बनाते थे ।

भग्ने लज्जासेतौ पर्वविसरेण कुलवधूवदनात् ।

अरलीलोक्तिजलौघो निर्यातः केन वार्यते प्रसरन् ॥८६३॥

इस मदनमहोत्सव के पर्व के अन्तर में लज्जा के सेतु के टूट जाने पर कुलवधुवन्तियों के मुख से निकले हुए गाली के वचनों के प्रवाह को दृष्टपूर्वक कौन रोक सकता है ? ॥८६३॥

तुल्यव्यापारगिरा ललनानां देवनप्रसक्तानाम् ।

आर्यानार्याविगमं वदनावृतिजालिका कुस्ते ॥८६४॥

झुआ खेलने में निरत, समान व्यापार और वचनों वाली ललनाओं की मुँह पर की जाली ही बतानी है कि यह आर्या है और यह अनार्या ॥८६४॥

अथ सहचरनिर्दिष्टे मदस्त्रलच्चरणविघटिताभिनयम् ।

वासवदत्ताप्रहिते नृत्यंत्यौ विविशतुश्वेटयो ॥८६५॥

तब बत्सराज के साथी वसन्तक ने दिखाया कि वासवदत्ता के द्वारा भेजी हुई दो चेटियाँ मस्ती में पैरों के लडखडाने के कारण विघटित अभिनय के साथ नृत्य करती हुई प्रवेश करती हैं ॥८६५॥

दर्शितसरोजवर्तनसाम्याभिनये शरेऽभिनेतव्ये ।

विदधाने वीरदशावायुघमात्रं समाश्रित्य ॥८६६॥

उन्हें कमलवर्तन नामक अभिनय^१ दिखाने के बाद जो वाण का अभिनय^२

१—यह एक प्रकार का बाहुकरण अभिनय है, जिसमें हाथों को कमल की अनुकृति पर रखा जाता है । कोहल ने कहा है—

पद्मकोशाभिधौ हस्तौ व्यावृत्तादिक्रियान्वितौ ।

आश्लिष्यौ च करो क्षेत्रे व्याधृत्तपरिपतितौ ॥

मिथः पराङ्मुखौ सन्तौ सैषा कमल वर्तना ।

२—वसन्त में पुष्प थाण के अभिनय का औचित्य है ही, अतः कपिल नायक हस्त के द्वारा थाण का अभिनय प्रस्तुत किया । संगीतरत्नाकर के अनुसार—

करना था उसे न करके वीर रत्न की दृष्टि^३ बाली उन दोनों ने आयुधमात्र को
आश्रय लेकर अभिनय किया ॥८६६॥

चलितनयनप्रवृत्तिः कौतुकहृतमानसो नराधिपतिः ।

निजगाद निर्भरमहो क्रोडितमनयोविलासिन्योः ॥८६७॥

कौतुक से लुभाये हुए वंसराज ने आँखें फेर कर (बसन्तक से) कहा—
'इन दोनों विलासिनियों ने रज्य क्रीड़ा की' ॥८६७॥

करपीडनोपमद्वयतिकरसमये कदर्थ्यमानोऽपि ।

स्तनमंडले स्थितोऽहं त्वं पुनराकृष्य कुत्रचिक्षिप्तः ॥८६८॥

अधुनान्तरयसि मामिति कोपादिव बाणवारमभिरामम् ।

बहुचित्रपदन्यासैवलंगत्या हंति हार उच्छ्रलितः ॥८६९॥

अधिक आश्चर्य उत्पन्न करने वाले पदन्यासों से नृत्य करती हुई विलासिनी
का उछाल भरता हुआ हार उसकी चोली से क्रोध से यह कहते हुए ताड़न
कर रहा है कि कामुक के हाथों से दबने और मसले जाने की पीड़ा का अनुभव
करता हुआ भी मैं स्तनों पर ही पड़ा रहा और तू तो निकाल कर वहीं डाल दी
गयी अब मेरे बीच में आकर पड़ती है ॥८६८-८६९॥

चूतलता घम्मिल्लस्थानन्युत्तरोत्तरं दधौ श्लाघ्यम् ।

अधूतपतन्नियूहं न त्वेषा मदनिकावेणोः ॥८७०॥

चूतलता ने बँधे फेरपाश के स्थान से गिरी हुई माला को अच्छे ढङ्ग से

'अङ्गुष्ठामेष लम्बा स्यात् तर्जनी शिरारस्य चेत् ।

कपित्थः स्यात् तदा.....॥

शकचापगदादेश्य शरकर्पादिकर्मणि ।

अन्योन्यस्त्रार्थविषयो कपित्थशिरारौ कश्चित् ॥

३—भारत लिखते हैं—

शूरा रुद्रारुणोदयुत्तनिष्टम्भपुटतारस्य ।

उत्कूलमध्या दृष्टिस्तु यीरा यीर रसाधया ॥

धारण कर लिया, लेकिन इस मदनिका ने बेसी को, जिसमें लगा फूल का गुच्छा पिसकर गिर रहा था, नहीं सम्झना ॥६००॥

स्तनभारावनतस्य प्रतनोर्मध्यस्य नास्ति तेषेक्षा ।

इत्यमिव पादलग्नौ क्रीडन्त्या नूपुरौ रसतः ॥६०१॥

‘स्तनों के भार से मुझे हुए विजकुल दुरले अपने मध्यभाग की तुम्हे परवाद नहीं’ मानो उसके पैरों में लगे हुए नूपुर इस प्रकार चिल्लाने लगे ॥६०१॥

वहति स्म यं नितम्बं कथमपि कृच्छ्रेण मदसंचारा ।

कलयति त तूललघुं जयति मनोजन्मनो महिमा ॥६०२॥

उस मनोजन्मा यामदेव की महिमा विजयिनी है जिसके कारण यह अपने जिस नितम्ब को बड़ी कठिनाई से धीरे-धीरे संचार करती हुई धारण करती है श्रीमो उसे रूई के समान हल्का समझ रही है ॥६०२॥

उदयनसमनुजातः प्रनतं वसन्तकोऽपि मुदितात्मा ।

हास्यत्रयाभिरामं चर्चरि तालेन तन्मध्ये ॥६०३॥

वत्सराज उदयन से ग्राज्ञा लेकर उनका विदूषक वसन्तक भी प्रसन्न होकर उन चेष्टियों के बीच हँसी और लज्जा की अभिरामता के साथ चर्चरी गीत का आधा टुकड़ा गा-गाकर बार-बार नृत्य करने लगा ॥६०३॥

धीरोद्धतललितपदैः क्रीडित्वा ते चिराय नरनाथम ।

प्रद्योतस्य सुतायाः सन्देशमथोचतुः समुपगम्य ॥६०४॥

वे दोनों चेष्टियाँ देर तक धीरोद्धत और ललित पदविक्षेपों से शीघ्र करके राजा के पास आकर प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का सन्देश बोलीं ॥६०४॥

आदिशति देव देवीत्यर्धोक्ते सलज्जमन्योन्यम् ।

अवलोक्य मुखं नहि नहि विज्ञापयति प्रणम्य विनयेत् ॥६०५॥

‘देवी आदेश देती है..’ इतना आधा कह कर ही वे लज्जा के साथ परस्पर एक दूसरे के मुँह को ताज कर (बोलीं)—‘नहीं, नहीं’, प्रणाम करके सविनय निवेदन करती हैं ॥६०५॥

मकरध्वजस्य पूजां त्वत्पादसरोजसन्निधौ कर्तुम् ।

पृथिवीमण्डलमण्डन समीहते मे मनोवृत्तिः ॥६०६॥

कि, हे पृथ्वीमण्डल के भूषण, आपके चरणकमलों के सन्निकट कामदेव की पूजा करने के लिए मेरा मन इच्छुक है ॥६०६॥

प्रियरतिभोगो मदनो दयितवसन्तो जनस्य मनसि वसन् ।

भावेन भवान्पूज्यो लोकस्थित्या तु कुसुमशरपाणिः ॥६०७॥

(इस अवसर पर) आप प्रिय रति के भोग करने वाले, मदन, वसन्तसरा और लोगों के मन में वास करने वाले हैं, सुतरा मन के भाव द्वारा आप ही पूज्य हैं, किन्तु लोकाचार के अनुसार फूलों के बाण वाले कामदेव की पूजा करते हैं ॥६०७॥

इति दत्त्वा संदेशं प्रकृतिवयःकालसमुचितं भ्रान्त्वा ।

ते मदमदनाविष्टे बभूवतुर्जवनिकान्तरिते ॥६०८॥

यह संदेश देकर अपनी प्रकृति, अवस्था अरु समय के अनुसार भ्रमण करके मद और मदन से आविष्ट वे चेटियाँ जवनिका के भीतर चली गई ॥६०८॥

अपनीततिरस्करिणी ततोऽभवन्पसुता समं चेट्या ।

अविदितरत्नावल्या पूजोचितवस्तुहस्तयानुगता ॥६०९॥

इसके बाद पदां (तिरस्करिणी) उठते ही अपनी आसन्नपरिचारिका

१ - जवनिका—रंग मंच पर अभिनय के अवसर का पदां। पाटान्तर 'जवनिका' है। निश्चय ही यह शब्द खेमे या टेंट (पट्टेवरम) के ढंकने वाले घस्र के अर्थ में लोकप्रचलित था जो नाटकीय परिभाषाओं के साथ लग गया। कुछ विद्वानों के अनुसार 'जवनिका' शब्द से इसका तादृश मान कर यह अनुमान है कि भारतीय नाट्य पर यूनानी प्रभाव पड़ा था। पर कई पृष्ठ प्रमाणों से, छाचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास (प्रथम संस्करण) में इसे 'जवनिका' या 'जवनिका' ही माना है और परदे के अर्थ में इसका इत्युत्पत्तिस्थ अर्थ भी किया है, जिसमें उपयुक्त मत अधिक मूल हो जाता है (दे० पृ० ४१३)।

(कांचनमाला) और अज्ञात रूप से पूजा के योग्य सामग्री हाथ में लिए रत्नावली (सागरिका) द्वारा अनुगत राजपुत्री वासवदत्ता उपस्थित हुई ॥६०६॥

अथ दृष्ट्वा सागरिकां प्रमादितां परिजनस्य निन्दित्वा ।

कांचनमालामवदन्तूपमहिषी जातसंक्षोभा ॥६१०॥

सागरिका को देखकर उसने अपने परिजनों की असावधानी की निन्दा की और उद्विग्न होकर कांचनमाला से बोली ॥६१०॥

प्रेपस्य कन्यामेनामवरोधं त्वं गृहाण कुसुमादि ।

यावन्न भवति विषये वीक्षणयोभूमिनायस्य ॥६११॥

‘इस लड़की को अन्तःपुर में भेज दे और इसके हाथ से फूल आदि तु अपने हाथ में ले ले, जब तक कि यह राजा की आँगों के सामने न हो ॥६११॥

उपगम्य ततश्चेटी तामभ्यवदत्किमर्यमायाता ।

मेधाविनी विमुच्य व्रज तस्मिन्मा विलम्बस्व ॥६१२॥

तब चेटी सागरिका के पास आकर उससे बोली—‘तू यहाँ मेधाविनी सागरिका को छोड़कर क्यों आई है ? जा वहीं, देर मत कर’ ॥६१२॥

विहिते देव्यादेशे मनसीदं संनिधाय सा तस्थी ।

विहगी सुसंगताया हस्ते निहिता मनोभवसपर्याम् ॥६१३॥

देवी का इस प्रकार आदेश होने पर यह मन में यह सोचकर ठहर गई कि सागरिका को मैंने मुसद्गता के हाथ में सीर रखा है तब तक ॥६१३॥

अवलोकयामि तावत्तिरोहिता सिद्धुवारविटपेन ।

तातान्तःपुरिकाभिर्यथाच्यंते किं तथैतदुत नेति ॥६१४॥

सिद्धुवार को डाली की आड़ में छिपकर कामदेव को पूजा देरती हूँ कि पिताजी के अन्तःपुर की स्त्रियाँ जैसे पूजन करती हैं वैसा यहाँ होता है अथवा नहीं ॥६१४॥

पिण्डीकृतमिव रागं हृच्छयमिव लब्धविग्रहोत्कर्षम् ।

समुपेत्य वत्सराजं जगाद सा जयतु जयतु देव इति ॥६१५॥

यह (वासवदत्ता) मानों उसका राग (स्नेह) एक पिण्ड के रूप में (वत्सराज) हो गया हो, या कामदेव ही शरीर का उत्कर्ष प्राप्त कर चुका हो, ऐसे वत्सराज के समीप जाकर बोली—‘देव आपकी जय हो’ ॥६१५॥

परिभुक्तमपि नवत्वं शृंगाररसं मदनपर्वणानोतम् ।

भजमानो भजमानां स्वागतवचसाभिनन्द्य तामूचे ॥६१६॥

पहले उपभोग किए हुए भी मदनोत्सव के कारण नवीनता को प्राप्त शृङ्गार का उपभोग करते हुए राजा ने उपभोग करती हुई उस वासवदत्ता को स्वागत-वचन से अभिनन्दन करके कहा ॥६१६॥

भर्गविलोचनपावकदाहाभ्यधिकां मनोभवो मन्ये ।

प्राप्स्यति तव करसङ्गमसुखविरहसमुत्थितां पीडाम् ॥६१७॥

‘मैं मानता हूँ कि कामदेव शिव जी के नेत्र की अग्नि के दाह से भी अधिक तुम्हारे हाथ के सङ्गमसुख के विरह से उत्पन्न पीड़ा का अनुभव प्राप्त करेगा’ ॥६१७॥

अथ मन्मथमभ्यर्च्यं क्षितिनाथं तदनु समधिकं तस्याम् ।

परमां मुदं वहन्त्यां विग्रहवन्मदनमनसि कन्यायाम् ॥६१८॥

तब वासवदत्ता ने कामदेव की, फिर बाद में राजा की अर्चना की । (इस दृश्य को देखकर) यह लड़की (सागरिका) अतिशय आनन्दित हुई और उसके मन में राजा के रूप में शरीरधारी कामदेव प्रवेश कर गया ॥६१८॥

शृंगाररससमुद्रे सोत्कलिकं निपतिते तथा नृपती ।

तारमधुरस्फुटार्यं नग्राचार्यः पपाठ नेपथ्ये ॥६१९॥

उस समय राजा भी उन्मत्तिकाश्री (तरंगो, पद्म में अगिलापाश्री) से भरे शृंगार-रस के समुद्र में डूब गया । इसी समय वैतालिक (नग्राचार्य) ने नेपथ्य में बैठे, मधुर और घाफ़ रस में पाठ किया ॥६१९॥

नयनानन्दमखण्डितमण्डलमभिरामममृतरश्मिव ।

सायंतन आस्थाने क्षितिपतयस्तस्थुरुदयनं द्रष्टुम् ॥६२०॥

‘घायंकाल राजरामा में चन्द्र भी भाति नेत्रों को आनन्दित करने वाले, अखंडित मण्डल वाले, अभिराम, महाराज उदयन के दर्शन के लिए राजा लोग विद्यमान हैं’ ॥६२०॥

उच्चारितेऽथ नास्मि त्रिदशमतौ तत्क्षणं व्यपेतायाम् ।

उत्पन्नविस्मयरतिर्निन्दधे नरभतुं रात्मजा हृदये ॥६२१॥

तत्काल (वैतालिक मुख से) निर्गत पदों वाली आयाँ में राजा के दूसरे नाम के उच्चारित होने पर विस्मय और प्रेम के भावों से गरी राजपुत्री ने हृदय में यह विचार किया ॥६२१॥

‘अयमुदयनः स राजा तातः सत्कृत्य मां ददौ यस्मै ।

हन्त परप्रपेणमपि न निष्कलं साम्प्रतं जातम् ॥६२२॥

‘यही यह उदयन राजा है जिसके लिए सत्कारपूर्वक पिताजी ने मुझे अर्पित किया है ! वाह !! दूसरे की सेवा भी इस समय विफल न हुई ॥६२२॥

यावन्न वेत्ति कश्चित्तावदितस्त्वरितमेव नियामि’ ।

इति कथमपि नायकतो हृत्वा दृशमुत्ससजं रङ्गभुवम् ॥६२३॥

जब तक मुझे कोई नहीं देख लेता तब तक मैं जल्दी से निरल जाऊँ ।

यह कहकर किसी प्रकार नायक (उदयन) से आँसों बचाकर उठने रङ्गभूमि को छोड़ दिया ॥६२३॥

कंदर्पमहमहोत्सवहृतहृदयैर्नविधारितोऽस्माभिः ।

संध्यातिक्रमकालः पश्य त्वं प्रियवयस्यक तथाहि ॥६२४॥

(यत्तराज उदयन ने अपने मित्र विदूषक से कहा—)

‘मदन-महोत्सव में हम लोग इस तरह तल्लीन हो गए कि सन्ध्याकाल के गुजर जाने का पता ही न रहा ! प्रियवयस्यक, देखो ॥६२४॥

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानायम् ।

परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥६२५॥

‘यह पूर्वदिशा उदयाचल से छिपे चन्द्र को उस प्रकार सूचित करती है जैसे कोई रमणी अपने हृदय में स्थित प्रिय को पीले पडे हुए मुख से सूचित करती हैं ॥६२५॥

देवि त्वन्मुखपद्मः पद्मान्विदधाति पश्य विच्छायात् ।

अलयोऽपि लज्जिता इव शनैः शनैस्तदुदरेषु लीयन्ते ॥६२६॥

देवि, यह तुम्हारा मुख कमल कमलों को कान्तिहीन कर रहा है और भौरे भी लजाए जैसे धीरे-धीरे उनके उदरों में घुसे जा रहे हैं’ ॥६२६॥

एवमभिधाय चित्रैश्चरणन्यासैः परिक्रमं कृत्वा ।

निष्क्रामिक्या ध्रुवया विनियंथी नायकोऽपि सह सर्वैः ॥६२७॥

इस प्रकार कहकर अपने सुन्दर पद-विक्षेपों द्वारा परिक्रमा करके जब (नेपथ्य में) निष्क्रमण के अवसर की ध्रुवा (गीति) गाई जाने लगी, नायक (उदयन) समस्त पात्रों के साथ निकल गया ॥६२७॥

अंके जात समाप्तौ गीतातोद्यध्वनी च विश्रान्ते ।

प्रेक्षणकगुणग्रहण नृपसूनुः प्रववृते कर्तुंम् ॥६२८॥

नाटक के अंक (ऐक्ट) के समाप्त हो जाने पर और गीत एष सगीत की आवाज के बन्द हो जाने पर राजकुमार ने नाटक के गुणों का वर्णन करना आरम्भ किया ॥६२८॥

नाट्यप्रयोगतत्त्वे मतयो न विशन्ति मादृशा प्रायः ।

वाहनयानपदातिप्रामादिककार्यदत्तहृदयानाम् ॥६२९॥

‘हम-जैशों की, जो याहन, सवारी, पैदल सिपाही और घाम आदि के कार्यों में दिल लगाए रहते हैं, बुद्धियाँ प्रायः नाटक के प्रयोग के तन्त्र में प्रवेश नहीं कर पाती ॥६२९॥

आस्ते लिखितो ग्रामो गृहाण त सत्प्रदेशवहुभूमिम् ।

वासय दत्त्वा वास भवसि ततःषष्ठकुरो दिवसैः ॥६३०॥

इस (दान-पत्र में) गांव लिख दिया है, अच्छा प्रदेश और बहुत भूमि से सम्पन्न उस गांव को ले लो। वहाँ आवास बनाओ, तब कुछ दिनों में वहाँ के ठाकुर हो जाओगे ॥६३०॥

कृतजीवनसस्थो हि त्वमपि किमर्थं करोपि विज्ञप्तिम् ।

अर्पय वा यदि नेच्छसि कुरु स्याति हस्तदानेन ॥६३१॥

जब कि तुम्हारे जीवन की व्यवस्था नी जा चुकी है तो क्यों व्यर्थ ही (बितनवृद्धि के लिए) विज्ञापन करते हो? अगर नहीं चाहते हो तो (नीमरी) वापस कर दो और मजदूरी (हस्तदान) करके निर्वाह करो ॥६३१॥

न च पतयो न सप्तिर्न च षोष्यजनस्तथाप्यसतुष्टः ।

लभमानोऽपि सदाय चिरतनत्वाभिमानेन ॥६३२॥

न तो इसे लिपाही हैं, न घोडा रखता है और न परिवार हो है फिर भी अपने पुराने होने के आभमान से सदा असन्तुष्ट रहता है ॥६३२॥

विज्ञप्तिकोन्मुखत्व दूरत एवावधारित भवतः ।

तूष्णीक्रियतामस्माच्छ्रोष्यसि कार्यं प्रतीहारात् ॥६३३॥

मैंने तो दूर ही से समझ लिया कि आप (बितन बढ़ाने के लिए) विज्ञप्ति देने के लिए उन्मुख हैं, चुप रहो, इस प्रतीहार से अपना कार्य सुन लो ॥६३३॥

यूय कुट्टम्बमध्ये क्व गम्यते गोत्रपुत्रसामान्यम् ।

आदाय सविभाग गृह एव स्थीयता ययासौख्यम् ॥६३४॥

तुम लोग तो मेरे कुट्टम्ब में ही हो, वहाँ जाते हो? यश और बाल-बच्चे के साधारण परवशिए के लिए तर्क लेकर अपने घर की तरह सुख-सुर्वक रहो ॥६३४॥

अभ्यन्तरव्ययार्थं प्रविलब्धो यो मया महाद्रंगः ।
तत्रापि तेऽनुबन्धो नो जाने किं करोमीति ॥६३५॥

भीतरी खर्च के लिए जिस महोद्भक्त^१ को मैं काम में नहीं लाया उस पर भी तेरी यह मांग ! मेरी समझ में नहीं आता, क्या करूँ ? ॥६३५॥

प्रथमतरमेव कल्पितमनल्पहलजीवनं प्रदेशस्थम् ।
अद्यापि ते न जातं प्रयोगिनां पश्य मन्थरताम् ॥६३६॥

मैंने सबसे पहले ही जिस प्रदेश में अधिक द्रव्यलाभ होता है उसे तुम्हें लिखा दिया है, आज भी तुमने उसे नहीं अपनाया, अप्सरो (नियोजीजनों) को दिलाई तो देखो ? ॥६३६॥

एवंप्रायैरनुदिनलाभोदयमोहकारिभिवंचनैः ।
फलशून्यैरनुजीवी प्रतारितः कः कियत्कालम् ॥६३७॥

इस प्रकार की लाभ तथा उदय (पदवृद्धि) के मोह उत्पन्न करने वाली व्यर्थ की बातों से कोई सेनक कब तक ठगा जा सकता है ? ॥६३७॥

१—महोद्भक्त—तनमुज्जताम के अनुसार 'महोद्भक्तो उद्भक्तः' इस समाम में 'उद्भक्त' या 'नगरी विशेष' अर्थ है ।

“कर्वटादधमो द्रङ्गः पतनादुत्तमश्च साः ।

उद्भक्तश्च निवेशश्च स एव द्रङ्ग इत्यपि ॥ वाचस्पतिकेन

तदनुसार 'पतन' जो पचाम गांवों वाला होता है उसमें बड़ा चौड़ा 'कवट' जो चार सौ गांवों वाला नगर होता है उसमें अथवा नगर को उद्भक्त, निवेश या द्रंग कहते हैं । बगटीकार के अनुसार महाद्रंग पाठ स्वीकृत है जिसका प्रयोग कारमीर में कर या चुंगी समोहने के लिए मागों पर स्थापित 'दापनी' के अर्थ में होता है, जिसका कारमीरी का मूलगत अर्थ 'विलम्ब' है । पलभी के दान-पत्र में द्रंगाधिकारी, द्रंगिक, द्रांगिक, द्रांगी प्रभृति शब्द एवं राजतरंगिणी में द्रंगरा या मागेश शब्द व्यवहृत हैं । मानियर विलियम ने 'कवट'जपमाहात्म्य और राज-तरंगिणी के मिले प्रमाणों के आधार पर इस शब्द का अर्थ 'एक नगर' लिखा है ।

एतद्विषये नैपुणमत्र तु भूमिज्ञतां समाश्रित्य ।

मुखरतया कथयामो जडमत्तिसामाजिकोचितं किञ्चित् ॥६३८॥

यहाँ इक्षु नाट्य के विषय में राजाओं की निपुणता को दृष्टि में रखते हुए स्वयं मुखर होने के कारण जड़मत्ति सामाजिक (दर्शक) जनों के लिये ही उचित कुछ बातें हम कहते हैं ॥६३८॥

सप्ताश्रयः पडात्मा शरीरस्त्रिः प्रमाणपरिणामः ।

सत्त्वाधिवयाज्ज्येष्ठो व्यस्तसमस्तैस्त्रिभिर्विनिष्पाद्यः ॥६३९॥

'नाट्य का यह प्रयोग सात पर आश्रित रहनेवाला, ६ प्रधानों वाला, शरीर द्वारा सम्पन्न, तीनों प्रमाणों के परिमाण वाला, सब के अधिक होने के कारण उत्तम व्यस्त और समस्त तीन विधियों से सम्पादन योग्य ॥६३९॥

सुकुमाराविद्धक्रिय उपरंजकरंजितो विविधनृत्तः ।

आदेयहेयमव्यैभावैः सम्पादितः प्रयोगोज्यम् ॥६४०॥ ✓

सुकुमारता से प्रोत्प्रोत् क्रियाओं वाला, व्यङ्ग्यपूर्ण बातों से भरा, नाना प्रकार की वृत्तियों वाला तथा प्रदृश्य के योग्य फिर त्याग्य एवं फिर उभयविध भावों से सम्पादित है ॥६४०॥

१—कवि ने इन दो पद्यों (६४०-६४१) में समासोक्ति की शैली में जीवात्मा का वर्णन किया है। जैसे—

सप्ताश्रय (सात पर आश्रित रहने वाला)—नाट्य पद्य में पङ्क्त, ऋषभ, गान्धार मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद इन सात स्वरों अथवा स्वर, प्राम आदि सप्तविध भावों पर आश्रित; जीवात्मापद्य में—रस, रुचिर, माम, मेदस, सज्जा, अस्थि रेतसू इन सात धातुओं पर आश्रित ।

पञ्चमा (छ प्रधानों वाला)—नाट्य पद्य में सुस्वा, सरस, सराग, मधुरास्वर, सगुण और अलङ्कार प्रधान; जीवात्मापद्य में मन और अन्न, प्राण, मन, विज्ञान आनन्द इन पांच कौशों से विशिष्ट ।

शरीर (शरीर द्वारा सम्पन्न)—नाट्य पद्य में गीत, नृत्य आदि शरीर द्वारा ही सम्पन्न होते हैं; जीवात्मा पद्य में शरीरधारी ।

त्रिप्रमाण—नाट्य पद्य में लोक, वेद, अभ्यास ।

गम्भीर मधुर शब्दं परिरक्षितगीतविविधभंगयुतम् ।

दर्शयतो वैचित्र्यं न भ्रष्टो वादकस्य लयकालः ॥६४१॥

जिसमें गम्भीर और मधुर शब्द हैं एक बड़े हुए गीत के नानाविध भङ्गों से युक्त है, ऐसी विचित्रता (करामात) दिखाता हुआ वादक लयकाल में स्पलित नहीं हुआ है ॥६४१॥

लोकोवेदस्तथाध्यात्म प्रमाणां त्रिविध स्मृतम् ।

लोकाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं व्यवस्थितम् ॥

(भरत २५।१२३)

जीवात्मा पक्ष में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ।

सत्त्व के अधिक होने के कारण उत्तम—नाट्य पक्ष में वाद्य प्रयोग में सत्त्वाधिक्य (स्रवताल वर्णपदयतिगीत्य चरवादकं भवेत् सत्त्वम्); जीवात्मा पक्ष में सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों में सत्त्व को उत्तम मानते हैं ।

व्यस्त और समस्त तीन विधियों से निष्पादन योग्य, नाट्य पक्ष में समा, स्रोतोवहा, गोपुच्छा इन नामों के तीन लयों के आधार और प्रसार विधियों से सम्पादित; जीवात्मा पक्ष में स्थूल, सूक्ष्म कारणादि समष्ट्यात्मक विराट हिरण्यगर्भ एवं प्राज्ञ, तैजस और विरवास नामक षट्शब्दात्मक द्वारा निष्पादित ।

सुकुमाराविद्धक्रिय—नाट्य पक्ष में गान, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि कोमल क्रियाओं से श्रोत-श्रोत, जीवात्मा पक्ष में दयादि सुकुमार क्रियाओं से श्रोत श्रोत ।

उपरंजक रजित—नाट्यपक्ष में व्यंजक या व्यंगपूर्ण आलापों से युक्त, जीवात्मा-पक्ष में रमणीय द्रव्य के दर्शन और भोगादि द्वारा रजित ।

विविधश्रुति—नाट्यपक्ष में भारती, कैशिकी, सात्वती और आरमटी श्रुतियों से युक्त, जीवात्मापक्ष में काम, क्रोध आदि श्रुति या चित्तविकार से युक्त—

आदेयहेयमर्भ्यै भवैः सम्पादितः—

नाट्यपक्ष में जो समस्त भाव मन में उद्भूत और विलय प्राप्त होते हैं अर्थात् श्रमिचारी भावों द्वारा सम्पादित, जीवात्मापक्ष में कोई भाव अर्थात् पदार्थ अनुकूल होने के कारण प्राप्त होते हैं, कोई प्रतिकूल होने के कारण त्याज्य होते हैं एवं कोई मध्य अर्थात् औदासीन्य सहित दर्शनीय होते हैं, ऐसे भावों द्वारा सम्पादित ।

१—लयकाल—अर्थात् वादक ने ताल के बीच समय को गलत ढंग से नहीं निभाया । 'लय' वह काल है जो ताल के बीच द्र त, मध्य और विलम्बित भेद से

अपरित्यक्तस्थानकरसकाकुव्यजितस्फुटार्थंपदम् ।

अभिरामाविश्रान्त पठित निरवद्यमखिलभावयुतम् ॥६४२॥

समस्त मापाश्रो म उच्चारण के स्थानों को न छोड़ते हुए अर्थात् उनको रक्षा करते हुए, रस एव ध्वनिविकार के द्वारा व्यजित अर्थ और शब्द को स्फुट करते हुए, बिना किसी दोष के अभिराम एव अविश्रान्त पाठ किया^१ ॥६४२॥

नियमितदीपनशमन द्रुतमध्यविलम्बितालसयुक्तम् ।

रसवत्स्वरोपपन्न कृतसाम्य साधुगातृभिर्गीतम् ॥६४३॥

गाने वालों ने अच्छे ढंग से गान किया, वह गान स्वर को उतार-चढ़ाव से नियमित, द्रुत, मध्य और विलम्बित, ताल एव लय से युक्त, रसमय, सस्वर समता लिए हुए था ॥६४३॥

प्रकृतिविशेषावस्थाप्रतिपादकवेपरचनसामग्र्या ।

अनुकरणमभ्यतीत सिद्धिद्वयसम्पदाधारम् ॥६४४॥

स्वभाव-विशेष की अवस्था को व्यक्त करने वाली वेपरचना की सामग्री से प्राप्त दोनों प्रकार की (पाठ्य और निष्पत्ति) सिद्धियाँ द्वारा अनुकरण (अर्थात् नाट्य) ने स्तुति का भी अतिक्रमण कर लिया है ॥६४४॥

भरतसुतैरुपदिष्ट क्षितिपतिनहुपावरोधनारीणाम् ।

मन्ये ता अपि नाट्ये शोभासन्दोहमीदृश नापु^२ ॥६४५॥

भरतपुत्रों ने राजा नहुप के अन्त पुर की नारियों को नाट्य का उपदेश दिया था, मैं मानता हूँ कि वे भी अपने नाट्य में शोभासन्दोह न प्राप्त कर सकी^२ ॥६४५॥

तीन प्रकार का होता है। वादक ने द्रुत को मध्य या मध्य को द्रुत, एवं विलम्बित को द्रुत या मध्य आदि करके गजत डंग से वादन नहीं किया।

१ ललितं वासुतामन्वित मुञ्ज्वलमर्शवशहत परिच्छेदम् ।

श्रुतिसुखविविक्तवर्ण कवयः पाठ प्रशंसन्ति ॥

२—चन्द्रवशी राजा नहुप ने स्वर्ग में जाकर अप्सराओं द्वारा अभिनीत नाट्य

सुरिलपृसन्धिवन्धं सर्वत्र सुवर्णयोजितं सुभगम् ।

निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम् ॥६४६॥

यह रत्नावली रूप रत्न जो सुनियोजित सन्धिवन्ध से युक्त है, सुन्दर पात्र एवं सुवर्ण से योजित एवं निपुण परीक्षक द्वारा देखा गया है—शोभित हो रहा है ॥६४६॥

एवंविधगुणकथनप्रसंगिनि विभावितात्मनृपतनये ।

पठतिस्मार्यामन्यः स्मृतिविषयमुपागतां प्रसङ्गेन ॥६४७॥

राजपुत्र दत्तचित्त होकर इस प्रकार गुणवर्णन कर ही रहे थे कि किसी ने प्रसंग से ध्यान में आई आर्या का पाठ किया ॥६४७॥

‘संग्रामादनपसृतिः प्रेक्षाभिज्ञा सुभाषिताभिरतिः ।

आच्छोदनाभियोगः कुलविद्या राजपुत्राणाम्’ ॥६४८॥

‘संग्राम से न भागना, नाट्य के विषय में ज्ञान, सुभाषितों में प्रेम और शिकार खेलने का अभ्यास यह राजपुत्रों की कुल विद्या है’ ॥६४८॥

एतद्वस्तुनि या ते श्रुतिमार्गं नृपतिनन्दनो रसतः ।

आरब्धकथाच्छेदकमाखेटकवर्णनं चक्रे ॥६४९॥

इस बात के कान तक पहुँचने पर राजपुत्र ने प्रेम से प्रस्तुत नाट्य के सम्बन्ध की चर्चा को विच्छेद करने वाला आखेट-वर्णन आरम्भ किया ॥६४९॥

चललक्ष्यवेधकौशलमश्वप्रजवे स्थिरासनाभ्यसनम् ।

भूमिविभागज्ञानं भवति मृगयाभियोगेन ॥६५०॥

‘आखेट के अभ्यास से चंचल लक्ष्य को वेध देने का कौशल, घोड़े के

देखा । पृथ्वी पर उन्होंने अपनी राजधानी में उसे देखने की इच्छा से देवताओं से प्रार्थना की । देवराज इन्द्र के अनुरोध पर भरत मुनि ने महुरूप के अन्तःपुर की सुन्दरियों को नाट्यशिक्षा देने के लिए भेज दिया । उसी समय से पृथ्वी पर नाट्य का प्रचलन हुआ ऐसी मान्यता है ।

तेज रफ्तार से दौड़ने पर निश्चल दृढ़ से बैठने का क्रम्यास और पृथ्वी के विभागों का ज्ञान प्राप्त होते हैं ॥६५०॥

वहति जवेन तुरगे निविडस्थितपादकटकपादाग्रः ।

तिर्यंग्विनिहितकायो निम्नोन्नतमग्रतो भुवः पश्यन् ॥६५१॥

जब घोड़ा बहुत तेजी से दौड़ने लगता है तब घन्य शिकारी अपने पैरों के अगले हिस्से को कड़ी में बस कर लगा लेता है, शरीर टेढ़ा कर देता है और जमीन की विषमता देखता हुआ ॥६५१॥

यावत्प्राणं धावत्याकुलिते विश्चक्रद्रुभिर्भित्या ।

गोचरपतिते जीवे लघुक्रिय. क्षिपति मार्गणं घन्यः ॥६५२॥

शक्ति भर दौड़ता है और शिकारी कुत्तों के डर से अकुलाए, आँसों के सामने पड़े जानवर पर तेजी से बाण छोड़ता है ॥६५२॥

मूले स्थितस्य निमृतं मृगयुभिरुच्चाटय ढौकितं निकटे ।

पातयतो मृगमुत्प्लुतमव्यपदेशं सुखं किमपि ॥६५३॥

शिकारियों द्वारा उद्वेजित करके निकट में पहुँचाए, चौकटी भरते हुए मृग को मारते हुए, पेड़ के एकान्त मूल में बैठे शिकारी के मुख का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥६५३॥

गीतश्रवणोत्कर्षं निश्चलतृणकवलगभंमुखहरिणम् ।

उपवेशितमस्पन्दं स्पृहणीया एव गृह्णन्ति ॥६५४॥

कानों को उठा कर गीत सुनते हुए, मुँह में निश्चल पड़े घास के कवल वाले, निश्चल भाव से बैठे हुए हिरन को स्पृहणीय लोग ही पकड़ा करते हैं ॥६५४॥

दावानलसंतापान्निर्यातं गहनवीरुधोऽभिमुखम् ।

यो निरुणद्धि स घन्यः सूकरमेकप्रहारेण ॥६५५॥

जो शिकारी वनाग्नि के सन्ताप के मारे निकले हुए, घनी झाड़ की ओर चले जाते हुए वनले सूअर को एक ही प्रहार से चित्त कर देता है वह घन्य है ॥६५५॥

घनकक्षोदरसुप्तं समुपेत्य स्वैरमकृतपदशब्दम् ।

व्याववर एव कुस्ते निर्जीवं हेलया शशकम् ॥६५६॥

धीरे धीरे पैर की आवाज किए बिना ही पहुँच कर व्याधश्रेष्ठ ही घने पेड़ के लोढ़ले में बैठे परगोश को अनायास भार डालता है ॥६५६॥

इति विदधति सैहभटावाखेटकशक्तिलाघवश्लाघाम् ।

हृदयागतामगायत्प्रसंगतो गीतिकामपर. ॥६५७॥

इस प्रकार सिंहमठ का लडका आखेट की शक्ति में तेजी का बखान कर ही रहा था कि किसी ने प्रसंग से हृदय में आई इस गीतिका का गान किया ॥६५७॥

‘आस्तां व्यापाररसः प्रवर्तिता संकथापि मृगयायाः ।

अन्तरयति तन्मनसामाहारादिक्रियोचितं कालम्’ ॥६५८॥

‘शिकार के व्यापार में जो रहा है उसको प्रस्तुत कथा रहने दो, उसमें जिनका मन रम जाता है उन्हें भोजन आदि के समय का ध्यान नहीं रहता’ ॥६५८॥

अवधायं गीतिकार्यं दानं प्रति घनं नियुक्तमभिधाय ।

उत्तस्थौ समरभटो मंजरिका समवलोकयन्प्रेम्णा ॥६५९॥

गीति का तालयं समझ कर और अपने कोपाधिकारी को दान देने के लिए कह कर समरभट मंजरी को प्रेम से देखते हुए उठ खड़ा हुआ ॥६५९॥

गत्वाथ स्वावसथं निर्वर्तितभोजनादिकर्तव्यः ।

मंजरिकाकृष्टमना अभिदध्यौ सचिवसन्निधावेवम् ॥६६०॥

अनन्तर अपने निवास-स्थान पर जाकर भोजन आदि कार्य सम्पन्न कर मंजरी के प्रति आकृष्ट मन वाला वह मंत्री के समीप इस प्रकार विचार करने लगा ॥६६०॥

अभूंगस्मितवीक्षितमृदुवक्रवचोऽंगहारगमनेषु ।

कुसुमप्रहरण एको युगपद्विहिताश्रयः कथं तस्याः ॥६६१॥

‘एक कामदेव उस मंजरी के अमृग, मुस्कान, दृष्टिपात, मृदु एवं वक्र

पचन, अवयव-विच्छेप तथा गमन में एक ही समय में कैंने निगूत करता है^१ । ॥६६१॥

सुन्दोपसुन्दनाशः फलमात्मभुवस्तिलोत्तमासृष्टेः ।

जनमृतये ता सृजता कि दृष्टं सुरहित तेन ॥६६२॥

अथवा को तिलोत्तमा अप्सरा के निर्माण करने का काम यह मिला कि सुन्द और उपसुन्द नाम के असुर मारे गए लेकिन लोगों की मृत्यु के लिए उस मञ्जरी को रचते हुए उसने देवताओं का कौन-सा कल्याण देता है^२ ॥६६२॥

सुमनोमि परिकरिता मृगशावकतरलचक्षुपस्तस्याः ।

कामोचितफलहेतुर्देहमृता दीर्घिका वेणी ॥६६३॥

मृगशिशु की तरल आँसुओं के समान आँसुं वाली उस मञ्जरी की लम्बी वेणी देहधारियों को कामोचित फल देने वाली है ॥६६३॥

कमलमिव वदनकमलं पिवति तस्यास्तिविविष्टपन्नप्टाः ।

सदलिकमपेतदोष सविभ्रम मधुमदाताम्रम ॥६६४॥

अलिकयुक्त, दोषरहित, विलासपूर्ण, मधु भरे एक लाल कमल के समान उसके मुलकमल को स्वर्ग से च्युत हुए प्राणी ही पान करते हैं^३ ॥६६४॥

१—अर्थात् मञ्जरी के अमृह अर्थात् अलग-अलग काम भावना उत्पन्न करने में समर्थ है ।

२—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तिलोत्तमा के उत्पन्न करने से सुन्द-उपसुन्द, अप्सरों के, आरे, आने के कारण देवताओं को राहत मिली, वैसे प्रकार मञ्जरी के कारण जो इतने लोग दरामो अस्या (मृत्यु) तक पहुँचते हैं इसमें देवताओं का क्या उपकार हो रहा है? सुन्द-उपसुन्द की क्या महाभारत के आदिपर्व (२०६—२१२) में वर्णित है और सधेप में कथावस्तिसागर में भी मिलती है ।

३—बहते हैं कि जय पुण्य चीज हो जाते हैं तब प्राणी स्वर्ग से पृथ्वी पर पुनः लौट आते हैं (धीरे पुण्ये भव्यलोक पिरान्ति) । तात्पर्य यह कि स्वर्गभ्रष्ट होना

यः शैलेन्द्रनितम्बं सुरताप्यै सेवते तपोनिरतः ।

स्यूहयति सोऽपि नितम्बं सुरताप्यै समवलोक्य तन्वंग्याः ॥६६५॥

जो व्यक्ति सुरतापति के लिए (सुर-भाव प्राप्त करने के लिए तपस्या में निरत होकर हिमालय के नितम्ब का सेवन करता है वह भी सुरतापति (सुरत की प्राप्ति) के लिए कृश अङ्गों वाली मञ्जरी के नितम्ब की स्यूहा करता है ॥६६५॥

त्रिकरो मध्यविभागो बाहोयुगलं करद्वयोपेतम् ।

जनयति तदपि मृगाक्षी सहस्रकरतोऽधिकं तापम् ॥६६६॥

उसका मध्यभाग तीन करों (वलयों) वाला है और उसकी दोनों बाहे दो करों वाली है तथापि वह मृगाक्षी सहस्र करों वाले (सूर्य) से भी बढ़ कर ताप उत्पन्न करती है ॥६६६॥

भी पुण्यवान् होने का लक्षण है । इस प्रकार उस मञ्जरी के कमल-सदृश मुख का पान करने वाले पुण्यवान् ही होते हैं । कमल पर जिस प्रकार अलिसमूह बैठते हैं, उसके मुख-कमल पर उसी प्रकार अलिक या चूर्णकुन्तल है । जिस प्रकार कमल दोषा अर्थात् रात्रि के रहते विकसित नहीं होता उसी प्रकार उसका मुख भी दोष रहित है । कमल वायु से हिलता हुआ विलासयुक्त है और मुख शृङ्गारचेष्टा रूप विभ्रम-युक्त है (नागरसर्वस्व के अनुसार 'विभ्रम' का लक्षण—

क्रोधः स्मितं च कुसुमाभरणादियाञ्च्वा, तद्वर्जनं च सहसैव धिमण्डनं च ।
आक्षिप्य कातिवचनं लपनं सखीभिर्निष्कारणस्थितगतेन, स विभ्रमः स्यात् ॥

मञ्जरी के पक्ष में 'मधु' अर्थात् उसका 'अधरमधु' और कमल के पक्ष में मकरन्द । मुखपक्ष में 'आताम्र' ईपद् रक्तवर्ण । कमलपक्ष में 'आ' समन्तात् 'रक्त' अर्थात् रक्तोत्पल कोकनद ।

१—'शृंगाररातक' का यह श्लोक प्रासंगिक है —

'मात्सर्यमुत्तार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्' ॥

सा स्रग्धरा सुवदना प्रहृषिणी सैव सैव तनुमध्या ।
न करोति कस्य विस्मयमिति रुचिरा मञ्जुभाषिणी सैव ॥६७॥

स्रग्धरा, सुवदना, प्रहृषिणी, तनुमध्या, रुचिरा एव मञ्जुभाषिणी वह
मञ्जरी जिसे अश्चर्य में नहीं डाल देती ? ॥६७॥

अनुकुर्वत्या कन्यां तथा तथा नायकस्तथा दृष्टः ।
येन जरत्स्वप्यटनी धनुषः स्पृष्टा दशार्धवाणेन ॥६८॥

कन्या रत्नावली का अभिनय करती हुई मालती ने उस-उस प्रकार नायक
चत्वराय को देखा जिससे कामदेव ने अपने धनुष की कोटि का वृद्धजनों के
लिए भी शर्षा किया अर्थात् वृद्धजन भी कामप्रोहित हो गए ॥६८॥

रूपं यौवनचित्रितमनंगविकृतानि नाट्यदीप्तानि ।
शमिनामपि शमगर्वं मुष्णन्त्यविकल्पितं तस्याः ॥६९॥

उसका यौवन-चित्रित रूप और जान्ह के अक्षर पर दीप्त काम चेष्टाएँ
अविकृत रूप से शमप्रधान जितेन्द्रिय जनों के भी शमगर्व को अपहरण करती
हैं ॥६९॥

दग्धेऽपि वपुषि भीतिं न विमुचति नीललोहितसमुत्थाम ।
तत्क्षेत्रे वसति यतः प्रमदारूपेण शत्रुरध्वंसी ॥७०॥

कामदेव अपने शरीर के दग्ध हो जाने पर भी नीललोहित मगान्

१—यहाँ कवि से स्रग्धरा आदि पाँच छन्दों से उसका अभेद बताया है। वह
स्रग्धरा अर्थात् शोभन वदन या गुरा वाली, प्रहृषिणी अर्थात् हर्ष या आनन्द करने
वाली, तनुमध्या अर्थात् शीघ्र कटिभाग वाली, रुचिरा अर्थात् मनोहरा, मञ्जु
भाषिणी अर्थात् मधुर बोलने वाली। स्रग्धरा आदि छन्दों के लक्षण, जैसे—

‘अभैर्यानां प्रयेण त्रिमुनिपति युता स्रग्धरा कीर्तितेयम्’ ।

‘ज्ञेया सप्ताश्रपडिभूर्भनयुता म्ली गः सुवदना’ ॥

‘अप्राग्भि मंनजरगा प्रहृषिणीयम्’ । ‘रवी चेतनुमध्या’ । ‘जभौ सत्री पिति
रुचिरा धनुर्महै’ । ‘मजस्ता जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी’ ।

शङ्कर से उत्पन्न भय को नहीं छोड़ रहा है, जिस कारण वह प्रमदा का रूप धारण करके उस मञ्जरी के शरीर में निवास करता है ॥६७०॥

यदि वः परलोकमतिः शृणुत श्रेयस्तपोधना मत्तः ।

उत्सृज्य यात तूर्णं वारवधूद्वपितं स्थानम् ॥६७१॥

हे तपस्वियो, यदि तुम्हें परलोक (स्वर्ग) की इच्छा है तो मुझसे कल्याण की बात सुनो, सब कुछ छोड़ कर शीघ्र ही वेश्याजनो से अलंकृत स्थान पर पहुँच जाओ ॥६७१॥

चिरमपि विकल्प्य निश्चितिरियमेव स्थाप्यते न गतिरन्या ।

तन्निर्माणे जाता लावण्यमयाः कणा विधेरणवः ॥६७२॥

देर तक सोच-विचार करके हम यह निश्चय करते हैं, कोई दूसरी गति नहीं है कि विधाता ने उस मञ्जरी के निर्माण में लावण्य के बने हुए कणों को परमाणु बनाये हैं ॥६७२॥

आसाद्य समुच्छ्रायं तस्याः स्तनयुगलमविहतप्रसरम् ।

क्षपयति यज्जनमेवं कः स्पृक्ष्यति तद्विवेकवान्पतितम् ॥६७३॥

उन्नति प्राप्त करके अनुदिन बढ़ते हुए उसके दोनों स्तन जो लोगों को दुर्बल किए जा रहे हैं उन्हें पतित होने पर कोई विवेकशील व्यक्ति कैसे स्पर्श करेगा ? ॥६७३॥

स कथं न स्पृहणीयो विपयरतैस्तन्नितम्बविन्यासः ।

शान्तात्मनापि विहितं विश्वसृजा गौरवं यस्य ॥६७४॥

विपयासक्त लोगों द्वारा उसके नितम्ब की गढ़न क्यों न स्पृहणीय हो,

यहाँ कवि ने समासोक्ति के अनुसार मञ्जरी के स्तनयुगल से उस राज-कर्मचारी की तुलना की है जो क्रमशः उन्नति प्राप्त करके लोगों को पीड़ित करता है और जब उसका पतन या पदच्युति हो जाती है तब उसे कोई भी स्पर्श तक नहीं करता। उसी प्रकार दोनों स्तन पीन और उन्नत होकर लोगों को पीड़ित करते हैं किन्तु पतित होने पर उन्हें कोई स्पर्श न करेगा।

जिसके गौरव (भारोपन अथवा महत्व) को शान्त स्वभाव वाले विधाता ने स्वयं अर्पित किया है ॥६७४॥

स्मरणाद्यस्योत्पत्तिः सुमनस इपवोज्वलाश्रया शक्तिः ।

सोऽपि व्यगः प्रहरति धातुरहो चित्रमाचरितम् ॥६७५॥

स्मरण से ही जिसकी उत्पत्ति हो जाती है, फूल जिसके गण हैं और जिसकी शक्ति अरलाश्री पर आश्रित रहती है वह भी अनङ्ग होकर प्रहार करता है, विधाता का कार्य कितना आश्चर्यमय है ! ॥६७५॥

तिष्ठन्वन्ये दृष्ट्वा सार जगतस्तदगनारत्नम् ।

नष्टपठनावधानो भवति ब्रह्मा व सनिर्वेदः ॥६७६॥

दूखों को जाने दो, ब्रह्मा जी भी ससार के मारभूत उस ग्रहणा रत्न को देखकर वेदाध्ययन में ध्यान के नष्ट हो जाने में अपनी निन्दा आप करने लगेंगे ॥६७६॥

यदि पश्यति ता शवंस्तदपररामासमागमाद्विमुखः ।

निन्दति मूर्धनि सोम स्मरान्निसंधुक्षण शरीरं च ॥६७७॥

यदि शिवजी उसे देख लें तब उसके अभिरिक्त दूनरी रमणी के समागम से विमुग्ध होकर अपने मस्तक पर वर्तमान, कामाग्नि को बढाने वाले चन्द्र तथा कामाग्नि के राह के लक्ष्मभूत अपने शरीर को निन्दा करने लगेंगे ॥६७७॥

केशव इह सनिहितः सापि मनोहारिरूपसम्पन्ना ।

तद्वक्षश्च्यवनभुव कथमुज्झति सैधवी शंकाम् ॥६७८॥

वह मञ्जरी भी मनोहर रूप वाली है, उसका बड़ भी लक्ष्मी (शोभा) के कारण आनन्दभूमि है ऐसी स्थिति में केशव (विष्णु) सचिहित होकर कैमे (उस मञ्जरी को देख कर उसके) सैयरी (लक्ष्मी) होने के अपने भ्रम का परित्याग कर सकते हैं ? ॥६७८॥

उदर्यति न पडिताना कथमात्मनि कौतुक गजेन्द्रगतिः ।

यश्नववयसा पु सा विना क्रियायोगमुपसर्गः ॥६७९॥

हापी जैसी चाल चलने वाली वह मञ्जरी पण्डित ज्ञान के कीदृक कैते

नहीं उत्पन्न करती ? क्योंकि इसमें नवीन अवस्था वाले पुरुषों के क्रियायोग के बिना ही उपसर्ग दिखाई देते हैं ॥६७६॥

श्रुतिकुवलयमीक्षणतां कुवलयतां वा विलोचनं यायात् ।
हरिणदृशो यदि न स्यात्कनकोज्ज्वलकेसरं मध्ये ॥६८०॥

यदि सोने के समान पीतवर्ण का केसर समूह न होता तो उस हरिणाक्षी का कर्णस्थ नोलोत्पन्न नेत्र कहा जाने लगता और नेत्र कुवलय कहा जाने लगता ॥६८०॥

ललनास्तदतुल्यतया पुरुषा अपि तद्रुपभोगविरहेण ।
गच्छन्ति शोपमनिशं प्रकृतिद्वयवर्जिताः स्वस्थाः ॥६८१॥

ललनाएँ तो उसकी बराबरी नहीं कर पाती और पुरुष उसका उपभोग नहीं प्राप्त करते, इस प्रकार दोनों निरन्तर (चिन्ता से) क्षीण होने लगे हैं और जो न स्त्री हैं न पुरुष अर्थात् जो हिजड़े (नपुंसक) हैं वे ही स्वस्थ हैं ॥६८१॥

दुर्वृत्तयोर्न वृत्तं श्लाघास्पदमेति तत्पयोधरयोः ।
यौ धृत्वामलमूर्तिं मध्ये हारं जनक्षयं कुस्तः ॥६८२॥

दुष्ट आचरण वाले उसके स्तनों का व्यवहार प्रशंसा के योग्य नहीं है क्योंकि वे दोनों स्तन अमलमूर्ति (निर्मल) हार को बीच में करके लोगों का नाश करते हैं ॥६८२॥

१—इस आयां के दो अर्थ हैं, पहला क्रियायोग' अर्थात् समागम रूप व्यापार एवम् उपसर्ग अर्थात् पीडा । दूसरा 'क्रियायोग' अर्थात् व्याकरण का धातुयोग, एवम् 'उपसर्ग' अर्थात् प्रादि उपसर्ग । यहाँ विशेषार्थ यह है कि उपसर्ग क्रिया से भिन्न नहीं रहता, बल्कि उसके साथ ही रहता है । एक पुराना श्लोक है —

'उपसर्गाः क्रियायोगे' पाणिनेरिति सम्मतम् ।
निष्क्रियोऽपि तवारातिः सोपसर्गः सदा कथम् ॥

भूमण्डलेऽत्र सकले नातः परमपरमदभुतं किञ्चित् ।

नो जाता यदपार्था कृशोदरी धातंराष्ट्रयातापि ॥६८३॥

सारे पृथ्वी मण्डल में इससे बढ़ कर कोई आश्चर्य नहीं है कि धातंराष्ट्र (दुर्योधन) को प्राप्त करके भी कृश उदर वाली वह अपार्था (पार्थों अर्थात् पाण्डवों से रहित) नहीं हुई (परिहार) यह कि धातंराष्ट्र अर्थात् हंस के समान गमन करने वाली; अपार्था अर्थात् व्यर्थ रूप वाली) ॥६८३॥

कृश एष मध्यदेशस्तन्व्या नाहार्यमण्डनं वोढुम्
शक्त इति कृतं विधिना रोमावलिभूषणं सौज्यम् ॥६८४॥

इस तन्वी का कृश मध्य भाग आहार्य (आहार्य वा धारण के योग्य) आभूषण धारण करने में समर्थ नहीं है इस लक्षणधरात्री ने उसके मध्य भाग में स्वामाविक आभूषण के रूप में रोमावलि बनवा कर दी ॥६८४॥

साकंपोऽधर ईक्षणयुगलस्माधो रता भ्रुवोमंगः ।
तन्वंग्या बलमीदृज्यति जगत्तदपि निःशेषम् ॥६८५॥

उस कृशाक्षी का अधर हमेशा कांपता रहता है, आँखें अधीर रहती हैं तथा भीहों में मद्ध है इस तरह तो उसका बल है तथापि वह सारे जगत् पर विजय प्राप्त करती है ॥६८५॥

वहतु नितम्बः स्थूलो रशनां हारं च कुचयुगं पीनम् ।
तद्वाहुमृणालिकयोः सापायं कटकयोजनमयुक्तम् ॥६८६॥

उसका स्थूल नितम्ब रशना को श्रीर पीन स्तनयुग हार को धारण करे, किन्तु उसकी बाहों की मृणालिकाओं का अनर्गल कटकयोजन (कटक अर्थात् बयल का लगान, व्यङ्ग्य से पर्वत के मध्यभाग में रख छोड़ना) ठीक नहीं ॥६८६॥

वहलोपायाभिज्ञा गुणविषये सततमाहितप्रीतिः ।
बलिनः स्थापयति वरो करभोर्ध्विग्रहेण मृदुनैव ॥६८७॥

वहूत से उपायों को जानने वाली, गुणों के विषय में हमेशा प्रीति रखने

वाली वह करभोर अपने कोमल शरीर से ही बलवानों को बश में रखती है ॥६८७॥

इति तत्स्तुतिमुखरमुखे राजसुते मीनकेतुनाकुलिते ।

समुपागता प्रगल्भा मंजरिकाचोदिता दूती ॥६८८॥

इस प्रकार काम पीड़ित राजपुत्र मञ्जरी की स्तुति कर ही रहा था कि मञ्जरी की भेजी हुई दूठ दूती पहुँची ॥६८८॥

पुरतः सुमनस्ताम्बूलपटलकं निदधे ।

सुशीलानुस्वामिनु स्वावसरे सहचरीकार्यम् ॥६८९॥

उसने प्रणति-पूर्वक रूप से मीन और फूल की टोकरी रख दी, तत्पश्चात् श्रवण पाकर सहचरी ने मञ्जरी के कार्य को निवेदन किया ॥६८९॥

मुररिपुनाभिसरोरुहस्यतिसिन्धुमीहते मूढा ।

नक्षत्रराजमंडलमिच्छति विद्यतः समादातुम् ॥६९०॥

'मूर्ख मञ्जरी विष्णु के नाभि-कमल को अपने कान का श्रवण बनाना चाहती है, आकाश से चन्द्रमण्डल को ग्रहण करना चाहती है ॥६९०॥

निश्चेतनाभिकांक्षति पीयूषं त्रिदिवसन्ननामशनम् ।

अभिलपति शयनमुष्णे नवचन्दनपल्लावस्तरणे ॥६९१॥

जड़ वह स्वर्ग वालों के भोजन अमृत की इच्छा करती है, उष्ण में नये चन्दन के पल्लवों के विद्यावन को सेज बनाना चाहती है ॥६९१॥

विदधाति पारिजातकसुमनोनियूहधारणश्रद्धाम् ।

दुर्व्यवसिता जिघृक्षति नारायणवक्षसो रत्नम् ॥६९२॥

पारिजात (स्वर्गीय वृक्ष) के फूलों के गुच्छे धारण करने में श्रद्धा रखती है कष्टकर व्यवसाय में लगी वह नारायण के वक्ष पर रहने वाले कौस्तुभ रत्न को ग्रहण करना चाहती है ॥६९२॥

अनियतपुरुषस्वरयाः पापा वयमन्यथा क्व हीनकुला ।
क्व च यूयमिन्द्रकल्पा अनल्पमनसो गुणाभरणा ॥६६३॥

कुछ अपने पास पुरुषों के द्वारा ही सर्रा के योग्य, पापिन एवं नीच कुल वाली हम कहा और इन्द्रकुल्य, बड़े मन वाले एवं गुणों से भूषित आप लोग कहा ? ॥६६३॥

दुष्प्रकृते. प्रकृतिरियं तस्य तु दग्धात्मजन्मनः कापि ।
अगणितयुक्तायुक्तो लगयति चेतो यदस्थाने ॥६६४॥

उस सर्राज स्वभाव वाले जले कामदेव की वह कोई प्रकृति है कि उचित और अनुचित का विचार किए बिना ही चित्त को अस्थान में लगा देता है ॥६६४॥

या हसति सरोजवती रसान्विता सहजरागरक्तेति ।
ध्यानधिय आत्मवृत्ति निन्दत्येकत्र पुरुष आसक्ताम् ॥६६५॥

जो मञ्जरी आप में प्रीति युक्त होकर सहज अनुराग शालिनी सरोजिनी का उपहास करती है, एक पुरुष (ब्रह्म रूप) में आसक्त योगी की वृत्ति को निन्दा करती है ॥६६५॥

स्निग्धेति नाभिनन्दति जन्मशतेनापि सपिपो धाराम् ।
पंचाक्षद्यूतगति नानर्थकरमणसंगता स्तौति ॥६६६॥

सैकड़ों जन्मों में भी स्निग्ध रहने वाली धृत की धारा को वह अभिनन्दन नहीं करती, अनर्थक राग से नहीं संगत होने वाली पांच कौड़ियों वाली धूत-क्रीड़ा को वह प्रशंसा नहीं करती ॥६६६॥

न स्तौति चन्दनलता भुजंगपरिवेष्टिता रसार्द्रेति ।
न शृणोति कीर्त्यमानां स्वप्नेष्वपि मदनमूर्च्छितां मत्सीम् ॥६६७॥

भुजङ्गा से परिवेष्टित चन्दनलता को रस से आर्द्र मान कर स्तुति नहीं करती, काममूर्च्छित मछली की कीर्ति स्वप्न में भी नहीं सुनती ॥६६७॥

विद्वेष्टि करणमध्ये रसना ताम्बूलरागरक्तेति ।

शंसति मति मुमुक्षोरविशिष्टा शशवृपाश्वपुरुषेषु ॥६६८॥

ताम्बूल के राग से युक्त समझ कर इन्द्रियों में रसना से विद्वेष करती है । शश, वृषभ, अश्वजातीय पुरुषों में भेदभाव न रखने वाली मुमुक्षु जन की बुद्धि की यह सराहना करती है ॥६६८॥

नो वहु मनुते रम्भां नलकूबरमभिसृतेति कामार्ता ।

गर्हति च देवगणिकामनुरक्तामुवंशी पुरुरवसि ॥६६९॥

जो कामार्ता होकर भी नलकूबर का अभिसरण करने वाली रम्भा को

१—जिस प्रकार मुमुक्षु प्राणी ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि में कोई भेद-भाव नहीं रखता उस मजरी का भी कामशास्त्र के अनुसार शशादिजातीय पुरुषों में समान रूप से अनुराग है । लक्षण—

मृदुचपलसुशीलः कोमलांगः सुवेषः, सकलगुण निधान चित्तहारी शशोऽसौ ।
वदति मधुरवाणी नृत्यगीतानुरक्तो द्विजसुरगुरुभक्तो बधुयुक्तो धनाढ्यः ॥

स्त्रीजितो गायनश्चैव नारीसत्वपरः सुखी,
पङ्गुलशरीरश्च श्रीमोश्च शशको मतः ॥

उदरकटिहशास्यः शीघ्रगामी नतांसः,
कनकरुचिरदेहः कष्टवादी वृषोऽसौ ।

व्यसनहृपणबुद्धिः स्त्रीवशः स्त्रीविलासो,
बहुगुणबहुतेजा दीर्घनेत्रोऽभिमानी ॥

उपकारपरो नित्य स्त्रीवशः श्लेष्मलस्तथा,
दशांगुलशरीरस्तु मेदस्वी वृषभो मतः ।

उदरकटिहशास्यो दीर्घकण्ठाधरोष्ठो,
दशनवदननेत्र तस्य दीर्घोऽपि नाभिः ॥

लुब्धश्च कृपणश्चैव मिथ्यावादी च निर्भयः ।
द्वादशांगुललिङ्गस्तु कुशलोऽपि ह्यो मताः ॥

मीननाथकृत स्मरदीपिका

धनुमान अर्पित नहीं करती, पुरुरवा में अनुरक्त देवमणिका उर्ध्वशी की निन्दा करती है ॥६६६॥

हरति मनो नो ह्यते रंजयति न रज्यते कदाचिदपि ।

गृह्णाति चित्रचरितैरुपकृतिभिर्गृह्यते न बह्वीभिः ॥१०००॥

जो (दूसरों के) मन को हर लेती है पर (तुम्हारे प्रति आसक्त होने के कारण किसी के द्वारा उसका मन) हरण नहीं किया जाता, दूसरों को प्रसन्न करती है, पर खुद कभी भी प्रसन्न नहीं होती, अपने सृज-पिलक्षण विलास द्वारा दूसरों को यशोभूत कर लेती है पर दूसरों के बहुत से उपकारों द्वारा भी स्वयं यशोभूत नहीं होती ॥१०००॥

प्रेममयीवाभाति प्रेम तु नाम्नैव केवलं वेत्ति ।

कंटकिता भवति रते रतभोगसुखं शृणोति लोकात् ॥१००१॥

प्रेममयी जैसी प्रतीत होती है लेकिन प्रेम को केवल नाम से ही जानती है । रतिकाल में रोमाञ्चित हो जाती है पर लोगों से रति-भोग के सुख को ध्वण्य करती है ॥१००१॥

कुस्ते विविक्तचाटून् शिल्पविशेषेण न तु रसावेशात् ।

अनभिज्ञा मदनरुजामाकल्पकवेदनां समावहति ॥१००२॥

कला के एक भेद होने के कारण पवित्र प्रिय वचन बोलती है, न कि प्रेम के आवेश से बोलती है, उसे काम सम्बन्धी रोगों का पता नहीं, केवल कामावस्था-सम्बन्धी विक्लों (रूपनाओं) की वेदना का अनुभव करती है ॥१००२॥

बालैवार्जवरहिता स्फुरतीश्वरमेत्य चन्द्रलेखेव ।

हृतधनपतिमाहात्म्या प्रवृत्तिरिव रक्षसां पत्युः ॥१००३॥

श्रीमती बाला एवं आर्जवरहित (अर्थात् वधु) चन्द्रलेखा की भाँति बाला (सोलह साल की उम्र वाली) अक्षरला जो मञ्जरी ईश्वर (शिवजी, पक्ष में धन सम्पन्न ध्यात्) को पाकर स्फुरित हो उठी है, राक्षसराज रावण की प्रवृत्ति के

समान जिसने धनपति (कुवेर, पक्ष में धनवानों) के माहात्म्य को हरण कर लिया है ॥१००३॥

नरनाथ किं ब्रवीमि त्रिपुरान्तकनयनदाहदग्धोऽपि ।

दुःसाध्यसाधनग्रहमुत्सृजति न पापकुसुमास्त्रः ॥१००४॥

हे नरनाथ, क्या कहूँ, त्रिपुर के नाशक शिवजी की नेत्राग्नि से जला भी पापी कामदेव दुःसाध्य कार्य के साधन की हठकारिता का त्याग नहीं करता ॥१००४॥

त्वदर्शनावकाशं संप्राप्य यतो दुरात्मा तेन ।

चिरसम्मृतकोपेन प्रारब्धा सापि हन्तुमिषुधारैः ॥१००५॥

जिस कारण तुम्हारे दर्शन का अवसर पाकर बहुत दिनों से सञ्चित कोप वाला वह दुरात्मा उसे भी बाणों की वर्षा से मारने लगा है ॥१००५॥

अवहेलयैव भवता संस्पृष्टा येन वेत्रदण्डेन ।

जातः स एव तस्यां अनन्यभवमार्गणः प्रथमः ॥१००६॥

आपने सिर्फ यों ही जिस वेत्र दण्ड से उसे स्पर्श कर दिया है वही उसके लिये काम देव का पहला बाण ही गया है ॥१००६॥

विज्ञानार्जितदर्पो निभृतं हसितः समानशिल्पाभिः ।

त्वयि सक्तद्वशः सख्या विसंष्टुले नाट्यनिर्माणे ॥१००७॥

(नाट्य के प्रसंग में) जब वह तुम्हारी और स्थिर दृष्टि से देखने लगी तब अभिनय का कार्य बिलकुल गड़बड़ हो गया और नाट्यकला में उसकी बराबरी करने वाली औरों ने उसके विज्ञान द्वारा अर्जित दर्प का उपहास किया ॥१००७॥

अवधीर्याचार्यरूपं भरतोदितदोषकरणसम्भूताम् ।

विस्तारितः प्रयोगस्त्वदवस्थितिवाञ्छयां तन्व्या ॥१००८॥

भरतमुनि के बताये हुए दोषों के करने से उत्पन्न नाट्याचार्य के रोप की

परवाह न करके तुम ठहरे रहो इस इच्छा से तन्वी ने अपने अभिनय का विस्तार कर दिया ॥१००८॥

गग्नेऽपि प्रेक्षणके तदन्तरभूमिकाश्रयावस्थाः ।

गृह एव निरवसानं वितनोति न नाट्यधर्मेण ॥१००९॥

नाट्य के समाप्त हो जाने पर भी उसके बाद की भूमिका की श्रयस्थायी को निरन्तर घर ही पर समझ करती है न कि अभिनय या अनुकरण करती है ॥१००९॥

ध्यायत एकं पुरुषं परमात्मविदः शशंस या न पुरा ।

ताननुकुस्ते सैव ध्यायन्ती त्वां महापुरुषम् ॥१०१०॥

जो पहले एक पुरुष (अपिष्ठानभूत ब्रह्म) का ध्यान करते हुए ब्रह्मजानी व्यक्ति की प्रशंसा नहीं करती थी वही अब महान् पुरुष तुमको ध्यान करती हुई उन (ब्रह्मज्ञानियों) का अनुकरण करती है ॥१०१०॥

गतमेवमेवमासितमालोकितामेवमेवमालपितम्

इति विस्मृतान्यकार्यास्मरति कृशाङ्गी त्वदीयलीलानाम् ॥१०११॥

इस प्रकार वे चलते हैं, इस प्रकार बैठते हैं, इस प्रकार बोलते हैं इस प्रकार तुम्हारी लीलाओं को वह कृशाङ्गी अब कुछ भूल कर याद करती रहती है ॥१०११॥

नलकूवरो वराको रतिरमणो रमण एव किं तेन ।

अनिच्छोऽपि न बुद्धो विदग्धविहितासु सुरतगोष्ठीषु ॥१०१२॥

नलकूवर आरको अचेदा हीन है, रतिरमण कामदेव नाम मात्र का ही रमण है, उसने क्या होगा ? अनिच्छ भी विदग्ध-अनोचित सुरतगोष्ठीयों में परिहृत नहीं है ॥१०१२॥

न जयन्तोऽन्तगुणो न कुमारो मारवमणोज्वालयः ।

येन समतां नयामस्तमिति सगी वहति मानमं कनेशम् ॥१०१३॥

जयन्त घनन्त गुणशाली नहीं है एवं कुमार (कर्तिके) भी मारविका ने

अनभिज्ञ है, तब हम राजपुत्र की तुलना किससे करें, इस प्रकार सखी मन में क्लेश धारण करती है ॥१०१३॥

आगतमागच्छन्तं पुरतः पार्श्वे प्रसन्नमथ कुपितम् ।

परयति भवन्तमेकं सङ्कल्पनिवेशितं वाला ॥१०१४॥

कभी आए हुए कभी आते हुए, कभी सामने, कभी बगल में, कभी प्रसन्न और कभी कुपित अपने सङ्कल्प से उपस्थापित एक ही आपको, वह वाला देखा करती है ॥१०१४॥

दृश्यः शान्तो हृद्यः सुभगः सुखदो मनोहरो रमणः ।

दृष्टः स्वामी दयितः प्राणेशः केलिकरणनिपुण इति ॥१०१५॥

मुक्तान्यसमारम्भा वरतनुरनुपप्लुतेन चित्तेन ।

जपति समीहितसिद्धयै त्वद्द्वादशनामकं महास्तोत्रम् ॥१०१६॥

वह वरतनु अन्य समस्त चेष्टाओं को त्याग करके इष्टसिद्धि के लिए एकप्र चित्त से 'दृश्य, शान्त, हृद्य, सुभग, सुखद, मनोहरण, रमण, इष्ट, स्वामी दयित, प्राणेश और केलिकरणनिपुण' इन बारहनामों वाले महामन्त्र का जप करती रहती है ॥१०१५, १०१६॥

तामेव गच्छ यस्यामासज्य विलम्बितोऽसि गतलज्ज ।

वेलामियतीमलमलमेतैरधुना शठानुनयैः ॥१०१७॥

'निर्लज्ज, उसी के पास जाओ, जिसमें आसक्त होकर देर कर रहे हो, इस समय इतनी देर तक इन शठ अनुनयों से कोई लाभ नहीं ॥१०१७॥

वक्ष्यामि सापराधं क्रोधस्फुरदधरमञ्चितभ्रूकम् ।

इति विदधाति सुमध्या हृदयेन मनोरथावृत्तिम् ॥१०१८॥

वह अन्यासङ्ग के अपराधी उससे कहेंगी, इस प्रकार वह शोभन, मध्यभाग वाली अपने हृदय से मनोरथों को घुहराती रहती है ॥१०१८॥

उत्सहते न द्रष्टुं प्रतिविम्बितमाननं कुतः शशिनम् ।

का संकथा मृणाले क्षिपति भुजौ सर्वतो व्यथिता ॥१०१६॥

दर्पण में प्रतिविम्बित अपने मुख को वह देखने का उत्साह नहीं करती, फिर चन्द्र की बात क्या ? व्यथित वह अपनी बाँहें चारों ओर फैलती रहती है, फिर मृणालों पर अपनी बाँहें स्थापित करेगी यह बात नहीं उठती ॥१०१६॥

दूरे कदलीदण्डा ऊर्वोरपि न सहते समाश्लेषम् ।

करसम्पर्काद्विमुखी विश्राम्यति पल्लवेज्विति विरुद्धम् ॥१०२०॥

वह अपने ऊरुओं का भी सम्पर्क सहन नहीं कर पाती, ऐसी स्थिति में फेलों के दण्डों की बात तो दूर रहे, वह जब कि अपने हाथ के सम्पर्क से भी विमुख रहती है तो 'पल्लवों पर विश्राम करती है' यह बात सर्वथा विरुद्ध है ॥१०२०॥

श्रयि मंजरि सैव त्वं विदग्धजनमण्डिता पुरी सैव ।

कुसुमायुधः स एव व्यसनं कुत एतदायातम् ॥१०२१॥

'श्रयि मंजरि, तू वही है, विदग्धजनों से मंडित नगरी वही है, कामदेव वही है, फिर यह व्यसन कहाँ से आया है ? ॥१०२१॥

यस्याः कामः कृपणो रागाकृष्टिस्तृणोपलप्रस्या ।

सापि गता भूमिभिमां जीवन्त्या नेक्ष्यते किमिह ॥१०२२॥

जिसका कामदेव कृपण है (अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता) जिसका (किरी के प्रति) राग से श्रावर्षण वृण के समान (तुच्छ) है, वह भी तू इस श्रवस्या को पहुँच चुकी है सत्कार में जीवन्त प्राणी क्या नहीं देगता ॥१०२२॥

अभियोगशिक्षितानामशिक्षिताना च मदनचेष्टानाम् ।

सुतनु विरोपग्रहणे सामर्थ्यं तद्विदामेव ॥१०२३॥

दे सुतनु, प्रपन्नार्थक सीखी हुए (अर्थात् श्रुति) और तत्कालिक मदन-

चेष्टाओं में अन्तर समझने की सामर्थ्य उन्हें ही होती है जो उन चेष्टाओं को जानने वाले होते हैं ॥१०२३॥

व्यथयन्नपि सञ्छायः परिजनचिन्ताकरोऽपि रमणीयः ।

आघत्ते त्वयि लक्ष्मीमभिनवरागाश्रयो रागः ॥१०२४॥

यह नये राग से उत्पन्न तेरा क्षोभ कष्ट देता हुआ भी कान्तिमान लगता है, परिजनों को चिन्तित करने पर भी रमणीय लगता है तथा तुझमें अधिक शोभा का आधान करता है ॥१०२४॥

एकः स एव जातो भुवनेऽस्मिन्नसमसायकस्पधी ।

तेन शशिविम्बफलके स्वजन्मना लेखितं निजं नाम १०२५॥

इस संसार में कामदेव के साथ स्पर्धा करने वाला एक ही यह पैदा हुआ है। उस मुजन्मा ने चन्द्रमण्डल के फलक पर अपना नाम लिखवाया है ॥१०२५॥

पादस्तेन सलीलं विन्यस्तः सुभगमानिनां मूर्ध्नि ।

सौभाग्ययशः कुसुमं धनपतिसूनोः कदर्थितं तेन ॥१०२६॥

अपने को सुभग मानने वालों के सिर पर उसने चरण रख दिया है तथा उसने धनपति कुबेर के पुत्र नलकूबर के सौभाग्य के यशःपुष्प को मसल डाला है ॥१०२६॥

नरवञ्चनपटुबुद्धिः सम्पादितकपटचाटुसङ्घटना ।

त्वमपि विलासिनि नीता गतिमियती येन सुभगेन ॥१०२७॥

हे विलासिनि, जिस सुभग पुरुष ने लोगों को ठग लेने में समर्थ बुद्धि वाली एवं कपटपूर्ण प्रियवचनों की घटना रचने वाली तुझे भी इस अवस्था तक पहुँचा दिया है ॥१०२७॥

तद्वद तस्य स्थानं यतामहे कार्यसाधनायाशु ।

कुर्वत एव हि यत्नं भिषग्जनाः कृच्छ्रसंध्यरोगेऽपि ॥१०२८॥

तो 'उसका निरास स्थान बता, हम कार्य-सिद्धि के लिए अत्यधिक

कोशिश करेंगे, क्योंकि वैद्य लोग कष्टसाध्य रोग में भी यत्न करते ही हैं ॥१०२८॥

इति गदिते सख्या सा तदभिमुखं चक्षुषी समुन्मील्य ।

वितरति कृच्छ्रेण चिराद्भ्रावितमक्लिष्टहृत्कारम् ॥१०२९॥

इस प्रकार सखी के कहने पर उसने उसकी ओर आँखें खोल कर, देर तक चुप रह कर कष्ट के साथ योद्धा 'हूँ' कह कर उत्तर दिया ॥१०२९॥

का पुरुषार्यसमीहा द्योतयतः शर्वरी शशाङ्कस्य ।

तपयतां भुवमखिलां सलिलमुचा कोऽभिकांक्षितो लाभः ॥१०३०॥

चन्द्र जो रानि को उद्भावित करता है, इसमें उसे किस पुरुषार्य को प्राप्त करने की इच्छा है ? सारी धरती में वृत्त करने वाले मेघों का कौन इष्ट लाभ है ॥१०३०॥

मण्डयितुं वियदुदयति पुरुहूतघनुर्विनैव फलवांछाम् ।

अनपेक्षितात्मकार्यः परहितकरणग्रहः सता सहज. ॥१०३१॥

बिना फल की इच्छा रखे भी आकाश की शोभा बढ़ाने के लिए इन्द्र-धनुष उदय हाता है, इस प्रकार अपने कार्य की अपेक्षा न करके दूसरे का भला करने का आग्रह सबनों को स्वाभाविक होता है ॥१०३१॥

प्रायेण यन्नदानं तत्सेवनमुपशमाय रोगाणाम् ।

स्मरमान्यं तु यदुत्थ तदेव खलु भेषज यतस्तस्य ॥१०३२॥

प्रायः करके रोगों का जो निदान (आदि कारण) होता है उसके सेवन से ये रोग दूर हो जाते हैं, इसलिए जिसे स्मरमान्य का रोग उत्पन्न हुआ है वही उसकी दवा है ॥१०३२॥

तेन स्पृहयति सुतनुस्त्वत्पादयुगात्तरेणुसङ्गतये ।

आशीर्विपयोपेते सम्भोगसुप्तोदये तु नाकाक्षा ॥१०३३॥

इसलिए यह सुतनु वृक्षारे चरण-कमलों की रेशु के सम्पर्क की मृदा करती

है, उसे लोगों के आशीर्वाद से मिलने वाले सम्भोग-सुख की आकांक्षा नहीं है ॥१०३३॥

प्रमदमुपैति मयूरी परमं शब्देन वारिवाहस्य ।

अनिमिपविलोकितेन प्राप्नोति भूपी कृतार्थतामेव ॥१०३४॥

मेघ का गर्जन सुनकर मोरनी परम आनन्द का अनुभव करती है तथा मछली (धिय को) एक टुक से देखते रहने से कृतार्थता प्राप्त करती है ॥१०३४॥

न वृथास्तुतिमुखरतया न च युष्मल्लोभनाभियोगेन ।

विदधामि तदगुणाख्या स्वरूपमात्रप्रज्ञेन ॥१०३५॥

न तो वृथा स्तुति करने से मुरार होने के कारण अथवा न तो तुम्हें छुमाने के अभिनिवेश से मञ्जरी के गुणों का वर्णन कर रही हूँ, बल्कि उसके स्वभावादि से परिचय कराने के लिए उसके गुणों का वर्णन कर रही हूँ ॥१०३५॥

सद्भावबद्धमूले स्मितदृष्टिभ्रूविकारपल्लविते ।

सेवन्ते हृद्यरसा रागतरौ मञ्जरी घन्या. ॥१०३६॥

भाग्यवान् लोग सद्भाव रूप मुदद मूल के ऊपर प्रतिष्ठित स्मित, दृष्टि, भ्रूविलास रूप पल्लव से समन्वित अनुराग-वृत्त को हृद्यरसशालिनी मञ्जरी का सेवन करते हैं ॥१०३६॥

तिष्ठतु तदगतज्ञो विलोकिता येन भगिति वरगात्री ।

तस्यान्यो युवतिजन प्रतिभाति मनुष्यरूपेण ॥१०३७॥

उसके अङ्गों का जिसे सम्पर्क हुआ है उसकी बात तो रहने दीजिये, जितने उस वरगात्री को सिर्फ देखा लिया है उसे दूसरी स्त्रियों पुरुष के आकार की प्रतीत होती हैं ॥१०३७॥

सकृदपि यैरनुभूतस्तत्तनुपरिरम्भसुखरसास्वाद. ।

विद्धि नराधिप तेषा दूरीभूत प्रजाकार्यम् ॥१०३८॥

हे नराधिप, एक बार भी जि होने उसके शरीर के आलिङ्गनसुख के रस का आस्वाद लिया है, जानी कि ये प्रजा का कार्य तिलकुल छोड़ बैठे ॥१०३८॥

आस्था का खलु तस्या विषयग्रहदुर्वलेषु पुरुषेषु ।

यस्या विलासजालकपतित. शकुनायते कपिल. ॥१०३६॥

जिसके विलासों के फन्दे में पड़े कपिल (साध्यशास्त्र के रचयिता) पत्नी की माति आचरण करने लगते हैं, विषयों में पड़े रहने से दुर्बल पुरुषों को वह यूँ ही समझती है ॥१०३६॥

दग्ध्वा पुनरपि दग्धो नूनमनङ्गो हरेण ता तन्वोम् ।

दृष्ट्वापि येन तिष्ठसि निराकुलः स्वस्थवृत्तेन ॥१०४०॥

शिवजी के द्वारा जला दिया गया भी अनङ्ग निश्चय ही फिर से (कुम्हारे द्वारा) जला दिया गया, जिस कारण उस तन्वी को दर्र कर भी निराकुल रहते हो ॥१०४०॥

अथ विरतोक्तौ तस्यामुल्लासितमानसे च नृपती च ।

कश्चिदगायदगीति स्मृतिसङ्गतिमागता प्रसङ्गेन ॥१०४१॥

अनन्तर उस दूती के कह कर चुप हो जाने पर और राजा के अत्यन्त प्रसन्न होने पर किसी ने प्रसंगश याद आई गीति का गान किया ॥१०४१॥

अन्योन्यगाढरागप्रबलीकृतचित्तजन्मनोयू'नो' ।

कालात्ययो मनागपि समागमानन्दविप्रकर. ॥१०४२॥

'तद्वय और तद्वयी के परस्पर गाढे'स्नेह के कारण कामदेव के प्रबल हो जाने पर थोड़ा भी समय का अतिक्रमण समागम के आनन्द में विप्र करने वाला होता है' ॥१०४२॥

श्रुत्वा सिंहभटसुतः प्रियाप्रिया प्रीतिमान्स्मितप्रथमम् ।

निजगाद चारुभाषिणि गीतिकया समयसम्मतं कथितम् ॥१०४३॥

उस गीति को सुन कर प्रसन्न समरभट अपनी प्रिया की प्रिया उस दूती से गुरुग्राते हुए बोला—हे चारुभाषिणि, गीतिका ने सामर्थ्य बाज कही है ॥१०४३॥

अभिनन्द्य सा तथेति प्रययौ प्रमदावती निजं भवनम् ।
अकरोच्च विदितकार्या युक्तेऽवसरे मनोरमां गणिकाम् ॥१०४४॥

प्रसन्न वह दूती, उसे 'तथा' बचन से अभिनन्दन करके अपने घर चली गई और ठीक समय में उस सुन्दरी गणिका को विशापित किया ॥१०४४॥

अथ सा कृतसंकल्पा सत्वरमादाय रुचिरविच्छिन्तिम् ।
आसाद्य नृपनिशान्तं विवेश सञ्चारिकासहिता ॥१०४५॥

अनन्तर उस मञ्जरी ने मन में निश्चय कर शीघ्र ही थोड़ा रुचिर साज-सिंघार कर, राजा के घर पहुँच कर पहुँचाने वाली दूती के साथ प्रवेश किया ॥१०४५॥

विहितनमस्कृति रासनमधितष्ठौ नायकेन निर्दिष्टम् ।
पृष्टे च देहकुशले विनयान्वितमभ्यधादूती ॥१०४६॥

नमस्कार करके नायक के द्वारा निर्दिष्ट आसन पर वह बैठी, फिर नायक ने शरीर का आरोग्य पूछा । तब दूती ने विनय-पूर्वक कहा ॥१०४६॥

श्रीमन्नद्य श्रेयः सम्पन्ना गुरुजनाशिपोऽशोषाः ।
अद्य मदतः प्रसन्नो भाग्यचयैरद्य परिणतं फलतः ॥१०४७॥

'श्रीमन्, आज गुरुजनों के समस्त आशीर्वाद सफल हुए, आज कामदेव प्रसन्न है एवं हमारे भाग्य फलीभूत हुए ॥१०४७॥

अद्य जननी प्रसूता सौभाग्यगुणोदयोऽद्य निष्णातः ।
त्वयि वितरति सस्नेहं निरामयप्रश्नभारतों तस्याः ॥१०४८॥

आज माता का पैदा करना सफल हुआ, आज सौभाग्य गुण का उदय हुआ, जब कि आपने उसके निरामय के प्रश्न की वाणी को वितरण किया ॥१०४८॥

उत्कलिकाकुलमनसापुद्रित्तरिरंसयाभिभूतानाम् ।
श्रौदासीन्यं भजतां समा यतो भवति नालिका यूनाम् ॥१०४९॥
उत्कण्ठाओं से आकुल मन वाले, स्पष्ट समझेन्द्रा से अभिभूत होने पर

अपने कर्तव्य में उदासीन होते हुए युवक-युवतियों के बीच जो नारी उपस्थित रहती है वह मूर्ख है ॥१०४६॥

धृतसुमनःशरधनुषा सहायवांस्तिष्ठ दयितया साधम् ।

यामो वयं न राजति विजनस्यतिमियुनसन्निधावपरः ॥१०५०॥

कुसुमशर कामदेव को धारण की हुई प्रियतमा के साथ यहाँ ठहरो, हम जाते हैं, क्योंकि एकान्त में बैठी जोड़ियों के समीप दूसरा आदमी अच्छा नहीं लगता ॥१०५०॥

एषा नृत्यश्रान्ता मदनेनायासितातिमुकुमारा ।

त्वमपि रतिसमरशूरः स्वगंभुव. सन्तु कुशलाय ॥१०५१॥

यह मञ्जरी नृत्य करने से थकी हुई, मदन द्वारा आयासित एवं अति मुकुमार है, तুম भी रतियुद्ध के शूर हो, देवता तुम्हारा कल्याण करें ॥१०५१॥

यावद्यावदर्शक्ति प्रथयति ललनाहि मोहनाक्रान्ता ।

तावत्तावत्पुंसामुत्साहः पल्लवान्समुत्सुजति ॥१०५२॥

सुरत के आनन्द से अभिभूत ललना जैसे-जैसे अपनी अठमर्षता प्रकट करती है वैसे-वैसे पुरुषों का उत्साह पल्लवित होता रहता है ॥१०५२॥

इति शून्योक्तवेशमनि हरति शनैः सहजमंशुकं तस्मिन् ।

दर्शितसाध्वसलज्जा जगाद सा किं कुरोपीति १०५३॥

जब भोगावाप्त विलकुल गुना हो गया तब उसने जब सहज भाव से धीरे से अशुभ को हटाया तब मय और लज्जा प्रकट करके गणिका ने कहा—'मुझे क्या करते हो' ॥१०५३॥

अयि मुग्धे तत्क्रियते पुरुषायं चतुष्टयस्य यत्सारम् ।

इति निगदितसम्भेरः स्मरविधुरित आततान रतिकलहम् ॥१०५४॥

'अयि मुग्धे, यह (मोड़) करता हूँ जो चारों पुरुषों का सार है' यह मुस्सुराते हुए यह कर स्मर पीड़ित उस राजपुत्र ने रतियुद्ध आरम्भ कर दिया ॥१०५४॥

नानामुरतविशेषैराराध्य चकार भुक्तसर्वस्वम् ।
गणिकासौ राजसुतं त्वगस्त्रिषोपं मुमोच नातिचिरात् ॥१०५५॥

फिर उस गणिका ने नाना प्रकार के मुरतविशेषों से आराधना करके उसका सर्वस्व ँँठ लिया और बिना विलम्ब उसे भांस-हड्डी शेष करके छोड़ दिया ॥१०५५॥

तद्यन्मयोपदिष्टं कामिजनार्थाप्तिकारणं तेन ।
महतीं समृद्धिमेष्यसि कामुकलोकाहृतेन वित्तेन ॥१०५६॥

तो जोकि मैंने कामुक जनों के धन लेने का उपाय बताया है उससे कामुक जनों के हरण किए हुए धन से तू महती समृद्धि प्राप्त करेगी ॥१०५६॥

इत्युपदेशश्रवणप्रबोध तुष्टा जगाम धाम स्वम् ।
मालत्यपगतमोहा विकरालापादवन्दनां कृत्वा ॥१०५७॥

इस प्रकार के उपदेश के श्रवण से उत्पन्न प्रबोध से सन्तुष्ट एवं मोहरहित मालती विकराला की चरणवन्दना करके अपने घर गई ॥१०५७॥

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ ।
नो वंच्यते कदाचिद्विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति ॥१०५८॥

इस काव्य को जो व्यक्ति का काव्यार्थ का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए (स्मरण करते हुए) श्रवण करता है वह कभी विट, वेश्या, धूर्त एवं कुट्टनी से धोखा नहीं खाता ॥१०५८॥